# ध्यान और मनोबल

डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री,
एम० ए०, पी० एच० डी०

प्रकाशक
सार्वभौम साधना पीठ, देहली

# ध्यान और मनोबल

डा० इंद्रचंद्र शास्त्री

सार्वभौम संस्कृति पीठ

दिल्ली–११०००७

प्रकाशक—
**स्नेह सुमन**
मंत्री—सार्वभौम संस्कृति पीठ
१०/१७, शक्तिनगर
दिल्ली–७

मूल्य २०.००
द्वितीय संस्करण १६७७

मुद्रक—
महावीर प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-६

# प्रस्तावना

साधारणतया ध्यान का सम्बन्ध आत्मा, ईश्वर आदि अतींद्रिय तत्त्वों के साथ जोड़ा जाता है। किंतु लौकिक जीवन में भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है, जितनी आध्यात्मिक जीवन में। हम व्यायाम द्वारा शारीरिक शक्ति प्राप्त करते हैं, उसे अच्छे या बुरे किसी भी कार्य में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार ध्यान द्वारा मानसिक शक्ति प्राप्त की जाती है। वैज्ञानिक उसका उपयोग नवीन अन्वेषण में करता है। उसने ऐसी औषधियों का पता लगाया जिनसे करोड़ों व्यक्तियों के प्राण बच गये। आणविक अस्त्रों का भी पता लगाया जिनसे समस्त मानवता का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। व्यापारी अपना मनोबल व्यवसाय की वृद्धि में लगाता है। औद्योगिक विकास के साथ शोषण के तरीके भी सोचता है, राजनीतिज्ञ एक ओर प्रजापालन की बात सोचता है, दूसरी ओर शत्रु के नाश की। इसप्रकार मनोबल का उपयोग दोनों दिशाओं में होता आया है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने कल्याणकारी बनाने के लिए उसका संबंध अध्यात्म के साथ जोड़ दिया।

प्रातः जागने से लेकर रात्रि में नींद आने तक हमारे मस्तिष्क को अनेक प्रकार के विचार घेरे रहते हैं। नींद के बाद भी सपनों में उनका ताँता चलता रहता है। बहुत से विचार स्वास्थ्यप्रद और जीवन के लिए उपयोगी होते हैं। वे जब आते हैं तो मन में सुख तथा शक्ति की अनुभूति होती है, किन्तु अधिकांश विचार निरर्थक और मन को निर्बल बनाने वाले होते हैं, कभी दस वर्ष पहले की घटना याद आती है कि अमुक व्यक्ति ने हमारे साथ दुर्व्यवहार किया था। उसके विरुद्ध द्वेष सुलगने लगता है और मन उत्तेजित हो जाता है। कभी निराशा घेर लेती

है और कभी अप्रत्याशित भय । कभी बैठे-बैठे मन में आने लगता है कि अमुक व्यक्ति मुझसे मिलेगा यदि उसने अच्छा व्यवहार नहीं किया तो मैं इस प्रकार डाँटूंगा, इस पर वह उत्तेजित हो जायगा और हाथापाई की नौबत आ सकती है । कभी अप्रत्याशित वस्तु की कामना करते हैं और कभी प्राप्त वस्तु के नाश का भय होने लगता है । योगदर्शन में इन सब वृत्तियों को क्लेश कहा है । यदि मन उनसे बचा रहे तो शक्ति का अपव्यय रुक जायगा और संचित शक्ति का उपयोग अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में किया जा सकता है ।

परमात्मा शक्ति, ज्ञान और सुख का अनंत स्रोत है । जब मन में दुर्बलता आती है तो उसका ध्यान शक्ति प्रदान करता है । कठिनाइयों से संघर्ष के लिये बल प्रदान करता हैं । जब मन पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर भटकने लगता है, चारों ओर अंधेरा छा जाता है तो उसका ध्यान दीपक बनकर रास्ता दिखाता है । जब मन दुःखों से घिर जाता है तो उसके ध्यान से आनंद का स्रोत बहने लगता है । ध्यान द्वारा मन में स्वस्थ विचार भरे जाते हैं । उसका प्रभाव शरीर और सारे जीवन पर पड़ता है । मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि अपने को रोगी, दरिद्र तथा दुखी समझने वाला कुछ दिनों में वैसा ही हो जाता है । दूसरी ओर स्वस्थ, सुखी एव शक्तिशाली समझने वाला वैसा हो जाता है ।

सभी व्यक्तियों का मानसिक-धरातल एक सा नहीं होता । अतः सभी को एक ही प्रकार के ध्यान से लाभ नहीं मिल सकता, जो व्यक्ति तमोगुणी है, जिसमें अज्ञान की प्रधानता है, उसके चित्त को जागृत करने की आवश्यकता होती है ।

जिसका चित्त रजोगुणी अथवा चंचल है उसे शान्त करने की आवश्यकता है । जिस व्यक्ति में आसक्ति या राग की प्रधानता है उसे अनासक्ति का अभ्यास करना होगा और जिसमें द्वेषवृत्ति की प्रधानता है उसे मित्रता का अभ्यास करना होगा । अहंकारी को विनय सीखना चाहिए

और जो आत्मसम्मान खो चुका है उसे निजीशक्ति की पहिचान करानी होगी। जो अशान्त है उसे शान्ति की आवश्यकता होती है और जो निष्क्रिय बना हुआ है उसे खड़ा होने की।

पुस्तक में परमात्मा के अनेक रूप बताए गए हैं। प्रत्येक रूप गुण विशेष का प्रतीक है। कोई विद्या का, कोई शक्ति का, कोई संपत्ति का और कोई अन्य कामनाओं का। साधक को अपनी कामना के अनुसार चुनाव कर लेना चाहिये।

भारतीय साधना में देवी-देवताओं का बहुत महत्त्व है। अर्द्ध-शिक्षित वर्ग में उनका उपहास भी किया जाता है। ऐसा उनके रहस्य से अपरिचित होने के कारण होता है। देवता विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। रहस्य को समझकर जब उनका ध्यान किया जाता है, तो मन में शक्ति का संचार होने लगता है। उदाहरण के रूप में हम अपने प्रेम-पात्र के चित्र को देखते हैं, वास्तव में वह कागज का टुकड़ा होता है, किन्तु उसे देखते ही प्रेमपात्र का स्मरण होने लगता है, ऐसी अनुभूति होती है जैसे वह सामने बैठा हो, तदनुसार सारी चेष्टाएं बदल जाती हैं। इतना ही नहीं, उसके कपड़े एवं अन्य वस्तुओं को देखकर भी आनन्द का संचार होने लगता है। ध्वज केवल कपड़े का टुकड़ा है, किन्तु जब उसके साथ राष्ट्रीय अस्मिता जुड़ जाती है तो हम उसकी प्रतिष्ठा के लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न देवी-देवता विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। सरस्वती ज्ञान का प्रतीक है। उसके एक हाथ में पुस्तक है, दूसरे में वीणा। पुस्तक विवेचनात्मक ज्ञान को प्रकट करती है और वीणा कला अर्थात् संयोजनात्मक ज्ञान को। उसका आसन कमल है जो अलिप्तता का प्रतीक है। कहीं उसका वाहन हंस है, जो विवेक शक्ति का प्रतीक है।

कृष्ण प्रेम के देवता हैं। अधरों पर मुरली और सारी वेशभूषा तदनुरूप है। कहीं उनका ध्यान राधा के साथ किया जाता है और कहीं उसके

बिना। दुर्गा शक्ति का प्रतीक है। हाथ में खड्ग रहता है और सवारी शेर। शिव का ध्यान अनेक रूपों में किया जाता है—ज्ञान के लिए श्वेतवर्ण, धनसंपत्ति तथा युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए रक्तवर्ण तथा विनाश के लिए कृष्णवर्ण।

कुछ ध्यान तात्कालिक शान्ति एवं स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए है। बौद्धों में आनापान स्मृति के रूप में एक ध्यान की परम्परा है। आदमी कितना ही थका तथा घबराया हुआ हो, इस ध्यान द्वारा कुछ ही क्षण में पुनर्जीवन प्राप्त हो जाता है। जब लेटने पर भी नींद नहीं आती और करवटें बदलते थक जाते है उस समय यह ध्यान नींद ले आता है और वह नींद ऐसी आती है कि आँखें खुलने पर पूरी ताजगी एवं स्वास्थ्य की अनुभूति होती है। जब दिन में काम करते-करते दिमाग थक जाता है, तो इस अभ्यास से थकावट दूर हो जाती है और नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति प्राप्त हो जाती है।

तंत्रसाहित्य में न्यायविद्या का निरूपण है। इसके द्वारा अंगविशेष अथवा शरीर में ईश्वरीय शक्ति का आरोप किया जाता है। प्रायः जिस अंग में रक्त-संचार घट जाता है, वहीं दुर्बलता की अनुभूति होने लगती है। इस ध्यान द्वारा उस अंग में पुनः रक्त संचार होने लगता है और थकावट या पीड़ा मिट जाती है। जब रक्त संचार की कमी के कारण सारे शरीर में दुर्बलता जान पड़ती है उस समय प्रत्येक अंग पर ध्यान जमाते हुए क्रमशः सारे शरीर पर दृष्टि दौड़ाई जाती है।

कुछ प्रक्रियाएँ चंचल मन को स्थिर करने के लिए हैं। यंत्र विद्या में दो त्रिकोण रहते हैं। पहला ऊपर से चौड़ा होता है और नीचे की ओर संकुचित होता हुआ बिंदु पर आ जाता है। दूसरा नीचे से चौड़ा होता है और ऊपर की ओर संकुचित होता हुआ बिंदु पर आ जाता है। दोनों को मिलाकर षट्कोण बन जाता है जो ईश्वर और जगत का सम्मि-

लित रूप है। इन कोणों पर विभिन्न शक्तियों का ध्यान किया जाता है। इससे मन इधर-उधर भटकना छोड़कर वहीं केन्द्रित हो जाता है।

भावनाएँ भी ध्यान का एक रूप हैं। आयुर्वेद में जड़ी-बूटियों को त्रिफला आदि औषधियों के साथ में पकाया जाता है, वहाँ इसको भावना कहते हैं। इसके द्वारा जड़ी-बूटी में उस औषधि के गुण आ जाते हैं। इसी प्रकार मन को ईश्वरीय गुणों की भावना दी जाती है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा आनन्दरूप है। भावना द्वारा इन गुणों को मन में लाने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक दो खंडों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ध्यान की तैयारी और विविध प्रकियाएँ बताई गई है। द्वितीय अध्याय में स्वास्थ्यवर्द्धक ध्यानों का निरूपण है। उन्हें सामूहिक रूप में भी किया जा सकता है। पदस्थध्यान के तृतीय अध्याय में ओ३म्, गायत्री आदि मंत्रों के ध्यान बताए गए हैं। चतुर्थअध्याय पिंडस्थध्यान का है। पिंड का अर्थ है शरीर। इसमें विभिन्न अङ्गों एवं समस्त शरीर पर किए जाने वाले ध्यानों का निरूपण है। हठयोग, प्राणविद्या और कुंडलिनी योग का विवेचन भी इसी में है। पंचम अध्याय रूपस्थ ध्यानों का है। इसमें तीन बातों का निरूपण है मूर्त्ति, यंत्र तथा प्रतीक। षष्ठ अध्याय रूपातीत अर्थात् निराकार ध्यानों का है। सप्तम अध्याय भावनाओं का है। द्वितीय खंड में योग की विविध पद्धतियों का सैद्धान्तिक विवेचन है।

अधिकारियों की योग्यता तथा मानसिक धरातल को लेकर विविध ध्यान पद्धतियों का विकास हुआ। परमात्मा का कोई रूप नहीं है, फिर भी विविध कामनाओं को लेकर रूपों की कल्पना की गई। क्रमशः उन रूपों और उपासना पद्धतियों ने संप्रदाय का रूप ले लिया और परस्पर खंडन-मंडन होने लगे। इस सांप्रदायिकता ने भारतीय योग विद्या पर कठोर प्रहार किया। जीवन के साथ सम्बन्ध टूट गया और वह शास्त्रीय-चर्चा में सीमित हो गई। उसके पुनर्जीवन की आवश्यकता है। लेखक

की धारणा है कि यदि सांप्रदायिक कदाग्रह छोड़कर वैज्ञानिक पद्धति पर अन्वेषण किया जाय तो ध्यान की ये प्रक्रियाएं जीवन के लिए बहुत उपयोगी बन सकती हैं।

लेखक अपने को इस विषय का अधिकारी विद्वान अथवा पंडित नहीं मानता। उसका प्रयत्न केवल दिशाप्रदर्शन के लिए है, अनुभवी साधक अपने अनुभवों द्वारा इस विषय को आगे बढ़ा सकते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में मेरे प्रिय बन्धु श्री श्याम प्रकाश गुप्त का पूरा सहयोग रहा है। उन्हीं की प्रेरणा से यह लिखी गई और उन्होंने ही अपने पिता लाला न्यादरसिंह गुप्त की पुण्यस्मृति में प्रकाशन कराया। आभार प्रदर्शन के औपचारिक रूप में न जाकर में केवल उनका सस्नेह स्मरण करना चाहता हूँ।

बुद्ध पूर्णिमा

[redacted]

—इन्द्रचन्द्र, शास्त्री

# विषय सूची

## (प्रथम खण्ड)

प्रथम अध्याय १—४५

### ध्यान की तैयारी

ध्यान की अद्भुत शक्ति, सफलता के मूल तत्त्व, कुछ आवश्यक निर्देश, सफलता के विघ्न, चित्त शुद्धि के उपाय, ध्यान और अनुभूति के स्तर, स्वरूप ज्ञान, एकरूपता, ध्यान और स्वभाव भेद, ध्यान के आलम्बन, बाह्य आलबंन।

द्वितीय अध्याय ४६—८१

### शक्तिवर्धक ध्यान

सार्व भौम सत्ता, स्थितप्रज्ञ, महानर्तकी, विराट्, परमेश्वर, महाज्योति, महाशक्ति, आनंद, निर्मलता, नम्रता, स्वतंत्रता प्रज्ञा, पूर्णता, शाँति।

तृतीय अध्याय ८२—१२१

### पदस्थ ध्यान

मंत्रसाधना, जप के तीन प्रकार, नाम साधना, नाम और नामाभास, ॐकार का ध्यान, प्रथमरूप, द्वितीयरूप, तृतीयरूप, चतुर्थरूप, पंचमरूप-चार अवस्थाएँ, मात्राओं के रूप में ॐ की उपमा, ॐकार का भावनामय चित्र, गायत्री मंत्र का ध्यान, गायत्री या सावित्री, विभिन्न देवता और मन्त्र, सांप्रदायिक मन्त्र, वैष्णव परम्परा।

**चतुर्थ अध्याय** १२२—१५९

## पिंडस्थ ध्यान

हमारा व्यक्तित्व और उसके ध्यान, दहरविद्या, श्वासप्रश्वास का ध्यान, योगनिद्रा, षट्चक्र, ब्रह्मांड और हमारा व्यक्तित्व, महाभूतों की धारणा अथवा भूतशुद्धि, वायवीय धारणा के अन्यप्रकार, द्वितीयविधि-प्रकार, न्यास विद्या, जीवन्यास, मातृकान्यास, मातृकान्यास के लिए मुद्रा, ऋषिन्यास, षडंगन्यास, सूक्ष्मध्यान, अभेद का ध्यान, स्थूलध्यान, प्रकारांतर, ज्योतिर्ध्यान ।

**पंचम अध्याय** १६०—२६२

## रूपस्थ ध्यान

मूर्तिपूजा, मन्त्र, प्रतीक, मूर्तिपूजा के अंग, पंचशुद्धि, द्वादश शुद्धि, प्रतीक का रहस्य, अक्षमाला, अग्नि, अंकुश, कर्त्री, कदम्ब, कपाल, कमल, कमलासन, कुचयुगल, खट्वांग, खड्ग, गङ्गा, गदा, गरुड, घन्टा, चक्र, चंड, डमरू, नेत्र, त्रिशूल, पाश, पुस्तक, भुजा, मुण्डमाल, मूषक, मृग, वीणा, वृषभ, वेणु, व्याघ्रचर्म, शङ्ख, श्मशान, सर्प, स्मित, सृणि, हंस, पञ्चदेव, गणेश, गणेश का आह्वान, ध्यानमंत्र, सूर्य, सूर्य का आह्वान, प्रातःस्मरण, सूर्य मंत्र, सूर्य स्तुति, शिव, प्रथमरूप नटराज, चिन्तन, द्वितीयरूप सांध्यनृत्य, तृतीय विराट् नृत्य, परमात्मा का विराट् रूप, अनिर्वचनीय, अर्धनारीश्वर, समाधिस्थशिव, रुद्रवर्णपंचमुख, योगिराज, श्वेतवर्ण शिव का ध्यान, शांतशिव, नीलकंठ शिव, मृत्युञ्जय शिव, चतुर्मुख शिव, चंडेश्वर का ध्यान, आभ्यन्तर शिवयोग, लिंगपूजा, शिवस्तुति, विष्णु, शेषशायी विष्णु, हृदयकमल पर विष्णु का ध्यान, नारायण, गोपीकृष्ण, मुरली मनोहर, युगलमूर्ति, दुर्गा, महाकाली, मृत्यु की उपासना, महादुर्गा, शक्ति की तीन मूर्तियाँ, यंत्रों का ध्यान, कामकला ।

प्रतीकों का ध्यान, हंस, ध्यान की प्रक्रिया, दीपशिखा में दर्पण का ध्यान।

षष्ठ अध्याय २६३—३६६

भावना

भावना-योग, ब्रह्म-विहार, निजी व्यक्तित्व में परमात्मा की अनुभूति, मुस्कान, इतनी ही प्रार्थना है, तेरी याद, मां की गोद, मानवता, मृत्यु और अमरता, जोवन का रस, व्यामोह।

गीताञ्जलि २७६

प्रार्थना, अहंकार, अज्ञानता, पुकार, तुम्हारा इन्कार, विश्राम, अवसर की प्रतीक्षा, व्याकुलता, मौन प्रतीक्षा, प्रेरणा, तुम आ रहे हो, निवास, विश्राम, मैं सोया रहा, प्रकाश की खोज, संकोच, दीवारें, स्वार्थ, अहंकार तुम्हारा प्रेम, स्वार्थ, अभिलाषा, शक्ति दो, केवल तुम्हें चाहता हूँ, पुकार, व्याकुलता, मेरा स्वप्न, महायात्रा, स्फूर्ति, तुम आओगे—अवश्य आओगे, आहट, मेरा जागरण, तुम पास खड़े हो, हृदय की पुकार, कितना अच्छा होता, प्रभु का आगमन, वंशीरव, मिलन, उल्लास, अनंत का खेल, इतनी ही प्रार्थना है; मेरा गीत, तुम्हारी लीला, वह किरण, साकार और निराकार, घूँघट, अनुभूति, तुम्हारा खेल, अंतर्ध्वनि, आशा, अनंत का संकेत, कवि के उद्गार, शांति, संकोच, यह संवेदन बना रहे, रंग भर दो, विश्राम।

धर्म और पंथ, मानस-तीर्थ, बाह्य-तीर्थ, भक्ति-तीर्थ, गुरु-तीर्थ, माता-तीर्थ, पिता-तीर्थ पत्नी-तीर्थ।

सप्तम अध्याय ३६७—३८४

ईश्वर प्रार्थना

ईश्वर प्रार्थना—प्रातःस्मरण, ब्रह्म स्तोत्र, गणेश स्तोत्र, गणेश द्वादश नाम, सूर्य स्तोत्र, सूर्य द्वादश नाम स्तोत्र, विष्णु द्वादश नाम, शिव

स्तोत्र, चंडी स्तोत्र, स्तुतियां, पर ब्रह्म स्तुति, आत्मा का साक्षात्कार, अभीष्ट वर प्राप्ति के लिए प्रार्थना ।

## (द्वितीय खण्ड)

अष्टम अध्याय ३८५—४०८

### राजयोग

योग शब्द का अर्थ, राजयोग, हमारा व्यक्तित्व, चित्त की पांच अवस्थाएं, पांच वृत्तियां, पांच क्लेश, क्लेशों की पांच अवस्थाएं, योग के आठ अंग, समाधि की भूमिकाएं, निर्बीज समाधि के दो भेद, समाधि के विघ्न, चार भावनाएं, राजयोगियों के चार भेद, कैवल्य, एकाग्रता के उपाय ।

नवम अध्याय ४०९—४३१

### भक्तियोग

भक्तियोग, भक्ति के तीन रूप, भाव और प्रेम, भक्ति साधना की अवस्थाएं, धाम, भाव के दो प्रकार, दो क्रम ।

दशम अध्याय ४३२—४६३

### हठयोग

हठयोग, हठयोग की सात भूमिकाएं, आसन, मुद्राएं—शक्तिचालन-मुद्रा, महावेध, खेचरी मुद्रा, शांभवी मुद्रा । बंध—उड्डीयानबंध, मूलबंध, जालंधरबंध, महाबंध । हठयोग के आठ अंग, समाधि ।

एकादश अध्याय ४६४—४७१

### लययोग

लययोग, स्वरोदय, सूक्ष्मप्राण, लयक्रिया ।

द्वादश अध्याय ४७२—४७८

मंत्रयोग

मंत्रयोग, मंत्रों की कार्य क्षमता : एक वैज्ञानिक विश्लेषण, जप, दीक्षामंत्र ।

त्रयोदश अध्याय ४७९—४८५

सुरत-शब्द-योग

सुरत-शब्द-योग ।

चतुर्दश अध्याय ४८६—४८७

ज्ञानयोग

परिशिष्ट ४८६—४९६

लक्ष्मी नारायण का मंत्र । भुवनेश्वरी का मंत्र । संतान गोपाल मंत्र । सरस्वती मंत्र । रुक्मणी वल्लभ मंत्र । शक्ति मंत्र । दुर्गा का मंत्र । सिद्धि मंत्र । पञ्चामृत विष्णु मंत्र । दुर्गा मंत्र । प्रशस्ति ।

# ध्यान और मनोबल

## ( प्रथम खण्ड )

## ध्यान
## की
## प्रक्रियाएँ

卐

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥

ध्यान के द्वारा पवित्र, ज्ञानरूपी जल से भरे हुए, रागद्वेष-रूपी मल को दूर करने वाले मानसतीर्थ में जो पुरुष स्नान करता है, वह परमगति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है ।

× × ×

"ध्यान, चेतना की वह अवस्था है जहाँ समस्त अनुभूतियाँ एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती हैं, विचारों में सामंजस्य आ जाता है, परिधियाँ टूट जाती हैं और भेद-रेखाएँ मिट जाती हैं। जीवन और स्वतंत्रता की इस अखंड अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। संकुचित जीवात्मा विराट् सत्ता में विलीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में परमात्मा बन जाता है।"

—राधाकृष्णन्

प्रथम अध्याय

# ध्यान की तैयारी

## ध्यान की अद्भुत शक्ति

जब मन विशृंखलित हो जाता है, उसे दूषित एवं निस्सार विचार घेर लेते हैं, एक तरंग इधर बहा ले जाती है और दूसरी उधर, उस समय ध्यान ही ऐसी शक्ति है जो इन आघातों से बचा सकती है।

ऐसा कोई रोग नहीं है जिसे ध्यान के द्वारा दूर न किया जा सके। ऐसा कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे ध्यान के द्वारा प्राप्त न किया जा सके।

विधिपूर्वक किया गया ध्यान हृदय को शुद्ध करता है, दृष्टि को निर्मल बनाता है।

परमात्मा का ध्यान ऊँचे उड़ने के लिए पंख प्रदान करता है। भौतिक जगत् की संकुचित परिधियों से ऊपर उठने का सामर्थ्य देता है।

ध्यान के निरंतर अभ्यास से हम अपने समस्त दुःखों एवं कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

मानव-शरीर में कुछ ऐसे केन्द्र हैं जो चेतना के विभिन्न स्तरों को प्रकट करते हैं। जब मन नीचे के केन्द्रों पर अधिष्ठित होता है तो क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि विकार घेर लेते हैं। शरीर अस्वस्थ रहने लगता है और मन अशांत। जब वह उन केन्द्रों को छोड़कर ऊपर की भूमिकाओं पर पहुँचता है, तब जीवन के सूक्ष्म तथा शक्तिशाली तत्वों के साथ संबंध जुड़ जाता है। सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द आदि सात्त्विक गुणों की अभिव्यक्ति होने लगती है। विचार तथा व्यवहार में एक सूत्रता आ जाती है। पवित्रता, नम्रता, सहानुभूति आदि दैवी गुणों का विकास होने लगता

है। दूसरे शब्दों में यों कहा जायगा कि परमात्मा की अनुभूति होने लगती है।

मन के अंतर्मुखी होने पर ही सच्ची शक्ति प्राप्त होती है। जब तक भौतिक अस्तित्व की चिंता रहती है, शांति तथा सुरक्षा की भावना नहीं प्राप्त होती। इसके लिए उस तत्त्व के साथ संबंध जोड़ना होगा जो शाश्वत, सर्वशक्तिमान् तथा असीम है, आनन्द का दिव्य-स्रोत है। साधारण व्यक्ति विषम परिस्थिति में पड़कर अपने आपको खो देता है, मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है। फलस्वरूप परिस्थितियाँ उत्तरोत्तर जटिल होती जाती हैं। समझदार उस समय ध्यान तथा मानसिक स्थिरता का अभ्यास करता है और गलतियों को सुधार लेता है।

परमात्मा शक्ति, ज्ञान और सुख का अनन्त स्रोत है। उसके ध्यान द्वारा प्रकाश प्राप्त होता है, प्रत्येक इच्छा पूर्ण हो सकती है। केवल दृढ़ निष्ठा और एकाग्रता की आवश्यकता है।

भारत प्राचीन समय से अध्यात्म-विद्या का केन्द्र रहा है। उसने प्रारम्भ से ही भौतिक महत्वाकांक्षाओं को छोड़कर आत्मविकास को अपना लक्ष्य बनाया। प्रत्येक आध्यात्मिक परंपरा ने ध्यान को आत्मसाधना का मुख्यतत्त्व माना है। किंतु इसकी परम्परा सदा कोलाहल से दूर एवं मौन रही है। जिस प्रकार एक प्रदीप दूसरे प्रदीप से प्रकाश प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस अलोक को भी शिष्य गुरु से रहस्य के रूप में प्राप्त करता रहा है। दूसरे शब्दों में यह आत्मा को आत्मा के द्वारा प्रज्वलित करने की प्रक्रिया है।

भारत में मुनियों का सदा आदर रहा है। मुनिका अर्थ है मौन रहने वाले साधक। उनका ध्यान सदा अंतरात्मा की ओर रहता था। फिर भी उन्होंने विश्व का जो उपकार किया उसे शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता।

भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द के विषय में कहा जाता है कि

उन्होंने ध्यान द्वारा चारों दिशाओं में स्वास्थ्य का वितरण प्रारम्भ किया। उस समय किसी दूरवर्ती प्रदेश में एक राजा अपने सिंहासन पर बैठा था। दरबार लगा था और राजा न्याय कर रहा था। एक बंदी लाया गया। बंधन में होने पर भी वह झुकने को तैयार न था। उसके व्यवहार से अभिमान तथा धृष्टता प्रकट होती थी। राजसभा में सन्नाटा था। सभी मृत्युदण्ड के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे।

किंतु राजा ने बंदी को लक्ष्य करके कहा—"भाई, मेरे मन में क्रूर विचार आ रहे थे। सोचा था तुम्हारे जीवन का अन्त कर दूँ। किंतु पता नहीं क्यों मेरा हृदय शोकविह्वल हो रहा है। सोच रहा हूँ परस्पर शत्रुता द्वारा हमने एक दूसरे को बहुत हानि पहुँचाई है। हमारे द्वेष ने अनेक हृदयों को दुखी बनाया है। अब मैं दंड नहीं दूँगा। तुम बंधन से मुक्त कर दिए गए, अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो जा सकते हो। स्वतंत्र होकर स्वेच्छापूर्वक विचरण करो। तुम्हारी संपत्ति और समस्त अधिकार वापस करता हूँ।"

जिस हृदय को हिंसा या आसुरी बल नहीं झुका सका, वह अपने आप नम्र हो गया। बंदी के घुटने झुक गए, अहंकार दूर हो गया। मुँह से एक ही शब्द निकला—'भाई!' इसके आगे वह कुछ न बोल सका। यह है मौन ध्यान की शक्ति।

ईसामसीह स्वास्थ्य का वितरण कर रहे थे। हजारों की संख्या में लूले-लंगड़े, कोढ़ी अन्धे, बहरे तथा अन्य रोगी एकत्रित होने लगे। वे सबको एक ही बात कहते थे—"परमात्मा तुम्हें सुखी रखे और स्वास्थ्य प्रदान करें।" बहुसंख्यक रोगी ठीक होकर चले जाते। कुछ ऐसे भी होते थे, जिन्हें लाभ न होता। किन्तु क्राइस्ट के मन में किसी प्रकार का भेद न था। वे सबका स्वास्थ्य चाहते थे। फिर भी कुछ व्यक्ति उस स्वास्थ्य-यज्ञ में सम्मिलित नहीं हो पाते थे। उन्हें परमात्मा की दिव्य-शक्ति में विश्वास नहीं था। इसीलिए उन्हें लाभ नहीं होता था।

विश्व के स्वास्थ्य-यज्ञ में प्रत्येक व्यक्ति पर उत्तरदायित्व है। प्रत्येक मन में उसकी अनुभूति होनी चाहिए। इसके श्रद्धा, भावना, नम्रता, समर्पण, साक्षात्कार आदि अनेक रूप हैं। यह अनुभूति हृदय को शुद्ध तथा पवित्र बनाती है। स्थायी स्वास्थ्य प्रदान करती है।

जब हमें इष्टवस्तु प्राप्त नहीं होती तो शिकायत करने लगते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रसन्न हृदय एक शक्तिशाली औषधि है, दूसरी ओर निराशा शरीर को सुखा डालती है। निराश तथा हतोत्साह आत्मा कहीं भी सुखी और सफल नहीं होता। प्रत्येक कार्य में पूर्ण उत्साह के साथ प्रवृत्त होना चाहिए, निराशा लेकर नहीं।

प्रत्येक रोग तथा बुराई को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्यान हैं—जीवन का ध्यान, प्रकाश का ध्यान, नम्रता का ध्यान, आनंद का ध्यान, स्वतन्त्रता का ध्यान, प्रेम का ध्यान, ज्ञान का ध्यान, शांति का ध्यान इत्यादि।

विविध देवी-देवता आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। उनका ध्यान करने से साधक अपनी मनोकामना पूर्ण कर सकता है। शिव ज्ञान के देवता हैं। उनका ध्यान अनेक रूपों में किया जाता है। दुर्गा शारीरिक शक्ति की देवी है। इन दोनों का मिलन ज्ञान और क्रिया के मेल को प्रकट करता है, जो जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। विष्णु संपत्ति तथा ऐश्वर्य के देवता हैं। लक्ष्मी उनकी सहचरी है। इसी प्रकार विभिन्न देवी-देवता विभिन्न शक्तियों के साकार रूप हैं। मंत्र द्वारा उन शक्तियों को जागृत किया जाता है। इसके लिए एकाग्र होकर उन रूपों का ध्यान किया जाता है। जब आँखें बन्द करने पर भी देवता का रूप ज्यों का त्यों दिखाई दे तो समझना चाहिए कि मंत्र या देवता सिद्ध हो गया। फलस्वरूप सोई हुई आध्यात्मिक शक्ति जागृत हो जाती है।

इसी प्रकार भावनाएँ भी हृदय का परिष्कार करती हैं। मैत्री-भावना द्वेष-बुद्धि को दूर करती है; हृदय में प्रसन्नता भरती है। स्थितप्रज्ञ की भावना बाह्य विषयों के प्रति आसक्ति को घटाती है। विभिन्न अंगों में ईश्वरीय शक्ति का आह्वान करने से निर्बलता और रोग दूर होते हैं। नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है। इसी को तंत्र साधना में न्यास कहते हैं।

अगले पृष्ठों में ध्यान के विविध रूपों का प्रतिपादन किया जाएगा। साधक अपनी योग्यता एवं कामना के अनुसार चुनाव कर सकता है। अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि श्रद्धापूर्वक निरंतर अभ्यास किया जाय। मन में उत्साह और विश्वास बना रहे। विश्वास जितना तीव्र होगा फलप्राप्ति उतनी ही शीघ्र होगी। वर्त्तमान मनोविज्ञान इस तथ्य को स्वीकार कर चुका है।

**सफलता के मूल तत्व**

प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिये अनेक तत्वों की आवश्यकता होती है। प्रतिभा, शारीरिक स्वास्थ्य, अनुकूल परिस्थितियाँ तथा बाह्य साधन भी जरूरी हैं। किन्तु सबसे बड़ी शक्ति मनोबल हैं। विश्व में उथल-पुथल करने वाले राजनीतिज्ञों, धर्मनेताओं, वैज्ञानिकों तथा कलाकारों के उदाहरण हमारे सामने हैं। बाह्य साधनों के न होने पर भी वे एकमात्र दृढ़ मनोबल को लेकर जुट गये और लक्ष्य प्राप्त करके छोड़ा। जब मन में एकाग्रता और दृढ़ता होती है तो साधन अपने आप जुट जाते है।

**१. शास्त्र**

इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर भारतीय साधना में मनोबल पर अत्यधिक बल दिया गया है। जब मनुष्य एकाग्र होकर किसी कार्य में जुट जाता है तो सफलता अवश्य मिलती है। योगवासिष्ठ में आया है:—

**शास्त्रवद्भिर्दृढ़ाभ्यासैः, प्रज्ञोत्साहसमन्वितैः।**
**मेरवोऽपि निगीर्यन्ते, कैव सत्पौरुषे कथा॥**

'जो व्यक्ति शास्त्रानुसार चलते हैं, अभ्यास नही छोड़ते, बुद्धि तथा उत्साह को कायम रखते हैं वे पहाड़ों को भी उलट देते हैं; सत्पुरुषार्थ की प्रशंसा कहाँ तक की जाय ?' इस श्लोक में सर्वप्रथम 'शास्त्रवद्भिः' कहा गया है। इसका अर्थ है उन लोगों की शिक्षायें जो सफलता प्राप्त कर चुके हैं। यह आवश्यक है कि हमारा प्रयत्न अंटशंट न हो। मनमानी करने वाला अत्यधिक श्रम करने पर भी सफल नहीं होता।

## २. अभ्यास

दूसरी आवश्यकता है दृढ़ अभ्यास। इसके तीन तत्व हैं:—

(क) **दीर्घकाल**—अभ्यास को लम्बे समय तक चलाना चाहिए। साधारणतया हम कार्य का प्रारम्भ उत्साहपूर्वक करते हैं और कुछ दिनों में उत्साह मंद हो जाने पर उसे छोड़ देते है। फलस्वरूप सफलता नहीं मिलती और अभ्यास के प्रति उपेक्षा होने लगती है। इसके लिए उचित है कि विचारपूर्वक अभ्यास प्रारम्भ किया जाय। पहले ही यह सोच लिया जाय कि हमें कौन-सा अभ्यास अच्छा लगता है और प्रतिदिन उसमें सुविधापूर्वक कितना समय लगाया जा सकता है। प्रारम्भ करने के पश्चात् उसे लम्बे समय तक चलाना चाहिए। ध्यान द्वारा हम उन संस्कारों को बदलना चाहते हैं जो वर्त्तमान ही नहीं पिछले अनेक जन्मों से आत्मा को घेरे हुये हैं। उन्हें बदलने के लिए लम्बे समय तक अभ्यास आवश्यक है। धीरे-धीरे बुरे संस्कार मिटते जायेंगे और उनका स्थान अच्छे संस्कार ले लेंगे। इसके लिए जहाँ तक हो सके समय तथा स्थान भी नहीं बदलने चाहिए। आसन भी वही रखना चाहिए। ये बातें संस्कार उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। वर्तमान मनोविज्ञान इस तथ्य को स्वीकार कर चुका है।

(ख) **नैरंतर्य**—जिस अभ्यास को आरंभ किया जाए उसे लगातार करते रहना चाहिए। विक्षेप होने पर संस्कार धुंधला पड़ जाता है।

(ग) सत्कार—लक्ष्य तथा अभ्यास के प्रति आदरबुद्धि रहनी चाहिए। मन में यह विश्वास रहना चाहिए कि लक्ष्य उपोदय है और अंगीकृत अभ्यास द्वारा सफलता अवश्य मिलेगी।

## ३. प्रज्ञा

सफलता का तीसरा तत्त्व प्रज्ञा है। इसका अर्थ है विवेक। बिना सोचे समझे की गई साधना फलदायी नहीं होती।

## ४. उत्साह

चौथा तत्त्व है उत्साह। सफलता प्राप्त करने के लिये मन में उत्साह बना रहना आवश्यक है। जब तक वह कायम है, विघ्न-बाधायें अड़चन नहीं डाल सकती, प्रत्युत दुगुना बल देती है। उत्साह के मन्द हो जाने पर छोटी-सी बाधा भी बड़ी दिखाई देती है।

एक साधक ने इन्हीं बातों को नीचे लिखे छः तत्त्वों में प्रस्तुत किया है—(क) संगठित व्यक्तित्व, (ख) प्रबल इच्छा, (ग) स्थिरता, (घ) गुरु अथवा मार्ग-दर्शक, (च) उच्च आदर्श और (छ) निष्ठा या भाव।

### (क) संगठित व्यक्तित्व

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये हमारे व्यक्तित्व का संगठित होना आवश्यक है। इसके लिए उन सब शक्तियों को केन्द्रित करने की आवश्यकता है जो हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा हमारे व्यक्तित्व के घटक हैं। इन सब में परस्पर सामंजस्य की आवश्यकता है। शरीर के जिस अंग में प्राण या रक्त का संचार नहीं होता, उसे मृत कहा जाता है। ऐसा अंग वरदान के स्थान पर अभिशाप बन जाता है, शारीरिक क्रियाओं में सहायक होने के स्थान पर अड़चन डालने लगता है। इसी प्रकार जब प्राणों में सामंजस्य नहीं रहता, नाड़ियों में उनका संचार न्यूनाधिक होने लगता है तो शरीर में रोग हो जाते हैं। मन का अर्थ है इच्छाशक्ति और बुद्धि का

अर्थ है विवेकशक्ति। जब इच्छा और विवेक में समन्वय नहीं रहता तो व्यक्तित्व अशांत हो जाता है। बुद्धि का संकेत होता है कि अमुक काम हानिकारक है फिर भी मन नहीं मानता। फल स्वरूप बुद्धि और मन मे संघर्ष छिड़ जाता है और व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। बहुत से व्यक्तियों में मन अर्थात् इच्छाशक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह बुद्धि के सँकेत की परवाह नहीं करती। हानिकारक समझने पर भी वे उस कार्य को करते चले जाते हैं। रोगी जानता है कि अमुक वस्तु खाने से हानि होगी। फिर भी खाता है—मन नहीं मानता। बहुत बार ऐसा भी होता है कि मन कभी इधर दौड़ता है और कभी उधर। शक्तियों के इस प्रकार परस्पर विरुद्ध, विशृंखलित तथा अस्थिर हो जाने पर मनुष्य उत्तरोत्तर निर्बल एवं रुग्ण होता जाता है। स्वास्थ्य तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए इन सब में समन्वय की आवश्यकता है। जिस व्यक्तित्व में मन बुद्धि के संकेत पर चलता है अर्थात् बुद्धि जिस बात को हितकारी समझती है मन में उसी की इच्छा होती है, प्राण मन का साथ देते हैं और शरीर प्राणों का, वह बड़े से बड़ा कार्य संपादन कर सकता है। उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं हैं। ध्यान हमारे व्यक्तित्व को संगठित करने का वैज्ञानिक उपाय है।

### (ख) प्रबल इच्छा

मन में प्रबल इच्छा होनी चाहिए कि हम अपने व्यक्तित्व को संगठित एवं शक्तिशाली बनाना चाहते हैं। यह इच्छा जितनी तीव्र होगी और प्रयत्न जितना उत्कट होगा उतनी ही सफलता शीघ्र मिलेगी। मंद इच्छा प्रयत्न को भी मंद कर देती है और फल में विलंब होने लगता है। फलस्वरूप साधना तथा सफलता के विषय में संदेह होने लगता है। और साधक पथभ्रष्ट हो जाता है। प्रबल इच्छा नदी के वेग के समान छोटे-मोटे विघ्नों को अनायास ही बहा ले जाती है।

### (ग) स्थिरता

तीसरा तत्त्व स्थिरता है। बहुत से व्यक्ति प्रारम्भ में तीव्र इच्छा लेकर चलते हैं किन्तु धीरे-धीरे वह शिथिल होती जाती है। उत्साह मंद पड़ जाता है और उसके साथ प्रयत्न में न्यूनता आने लगती है। यह अस्थिरता प्रगति रोक देती है। कहीं तात्कालिक परिस्थितियाँ प्रगति के लिए प्रेरित करती हैं और कहीं महापुरुष के उदाहरण। ऐसे उदाहरणों में प्रायः प्रयत्न प्रारम्भ में तीव्र होता है। किन्तु शनैः शनैः मंद पड़ता जाता हैं। जिनमें यह प्रेरणा अन्दर से नहीं उठती, जिसके हृदय में तात्कालिक परिस्थिति, वातावरण या बाह्य आकर्षण के कारण क्षणिक स्पंदन होता है, वे प्रयत्न में स्थिर नहीं रह पाते। तनिक-सी बाधा अथवा कष्ट अनुभव करने पर उसे छोड़ देते हैं। उन्हें सफलता नहीं मिलती। इस असफलता का मुख्य कारण इच्छाशक्ति की न्यूनता नहीं, किन्तु अस्थिरता है।

### (घ) गुरु अथवा मार्ग-दर्शक

चौथा तत्त्व गुरु या मार्ग-दर्शक है। कोई भी लक्ष्य हो, जब हम उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ करते हैं तो बाधायें आने लगती हैं। उलझने भी खड़ी होती हैं। गुरु बाधाओं के समय प्रोत्साहन देता है और उलझनें दूर करता है। वह अपना कार्य उपदेशों द्वारा ही नही, निजी जीवन द्वारा भी संपादित करता है। उसका जीवन साधक के लिए आदर्श और प्रेरणा का स्रोत होता है। जिस प्रकार आग के पास पड़ी हुई लकड़ी यदि गीली भी हो तो धीरे-धीरे सूख जाती है, इसी प्रकार सच्चे गुरु का सत्संग करने पर साधक के दोष दूर होते चले जाते हैं। गुरु के मन में साधक के प्रति अटूट प्रेम और सहानुभूति होनी चाहिए। अन्यथा वह उसके हृदय में आध्यात्मिक ज्योति प्रज्वलित नहीं कर सकता उसका आदर्श और मौन-प्रेरणा जीवन को परिवर्तित करने में जितने सहायक होते है, उतने उपदेश नहीं होते। किन्तु यह प्रेरणा तभी प्राप्त होती है जब शिष्य के मन में दृढ़ श्रद्धा हो।

साधना के लिए गुरु का सतत सम्पर्क आवश्यक है। अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि जब किसी ने तीव्र उत्साह के साथ साधना प्रारम्भ की, धीरे-धीरे विघ्न आने लगे। उस समय प्रोत्साहन न मिलने के कारण वह साधना को छोड़ बैठा। दूसरी ओर ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं, जहाँ उत्साह मन्द होने पर साधक को जाग्रत कर दिया गया, पुनः दृढ़ता आ गई और वह अपने लक्ष्य तक पहुँच गया।

**(च) उच्च आदर्श**

साधक के सामने ऐसा लक्ष्य होना चाहिए जो समस्त दुर्बलताओं और दोषों से परे हो। इस प्रकार का लक्ष्य परमात्मा ही है। हम उस ओर जितना बढ़ेंगे, उतनी ही शक्ति और सुख की वृद्धि होगी। धन-संपत्ति, यश, शत्रु का दमन आदि लक्ष्य संकुचित भावना को लिए रहते हैं। और भावना जितनी संकुचित होगी उतना ती व्यक्तित्व भी दुर्बल होगा।

वास्तव में देखा जाय तो लक्ष्य की उच्चता का प्रतिपादन आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से किया जाता है। जहाँ तक ध्यान का प्रश्न है वह एक शक्ति है। सफलता प्रदान करने का अमोघ साधन है। आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका जितना उपयोग है, उतना ही लौकिक क्षेत्र में भी है। हमारे सामने ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जहाँ साधकों ने ध्यान द्वारा लौकिक इच्छायें पूर्ण की। इसी के द्वारा अर्जुन को गांडीव प्राप्त हुआ। कर्ण को अद्‌भुत कटक और कुण्डल, भीष्म को इच्छामृत्यु। इन सब उदाहरणों से ध्यान के अद्‌भुत सामर्थ्य का पता लगता है। किन्तु भारतीय संस्कृति का यह तकाजा भी है कि उस शक्ति का उपयोग केवल स्वपर-कल्याण में किया जाए। इसीलिए उच्च लक्ष्य का प्रतिपादन किया गया।

**(छ) निष्ठा या भाव**

भक्ति तथा तंत्र साहित्य में आदर्श के प्रति निष्ठा को भाव कहा

गया है। इस तत्त्व का अर्थ है 'होना'। साधक का अपने को भूलकर उपास्य का रूप ले लेना। प्रत्येक साधक किसी लक्ष्य को लेकर साधना करता है। देवता उसी लक्ष्य का साकार रूप होता है। सफलता के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने आपको भूलकर उसमें लीन हो जाय। यदि वह अग्नि के तेज और प्रकाश को चाहता है तो उसकी ज्वाला और ज्योति को अपने अन्दर अनुभव करना होगा। यदि वह शीतलता और निर्मलता का उपासक है तो अन्दर पानी की निर्मल धारा अनुभव करनी होगी। वायु का वेग प्राप्त करने के लिए तदनुसार अनुभूति करनी होगी। दृढ़ता प्राप्त करने के लिए पृथ्वी की अनुभूति करनी होगी। इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति प्राप्त करने के लिए अपने व्यक्तित्व में ईश्वर के व्यक्तित्व की अनुभूति करनी होगी।

ईश्वर की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं। किसी का सम्बन्ध ज्ञान से हैं, किसी का शक्ति से, किसी का ऐश्वर्य या संपत्ति से, किसी का विनाश और किसीं का मारण, मोहन, वशीकरण आदि आभिचारिक प्रयोगों से। साधक अपनी कामना के अनुसार किसी एक रूप को चुनता है और उसकी भावना करता है। भावना द्वारा साधक अपने आपको भूल जाता है। और अपने अन्दर देवता का अस्तित्व अनुभव करने लगता है। यह अनुभूति जितनी तीव्र होती है, उतना ही गुणों का संक्रमण शीघ्र होगा। शक्ति-संचार का यही रहस्य है।

तद्रूप हो जाने पर शक्ति का प्राप्त होना मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसका असली पता अनुभूति द्वारा ही हो सकता है। जब हम अपने को दुर्बल मानते हैं, तो दुर्बल हो जाते हैं और शक्तिशाली मानने पर शक्तिशाली। जो व्यक्ति अपने को रोगी समझता है, वह रोगों से घिर जाता है और जो स्वस्थ समझता है वह स्वस्थ हो जाता है। जो व्यक्ति अपने को दरिद्र समझता है, वह धनवान नहीं हो सकता। इसी प्रकार अपने को मूर्ख या बुद्धिहीन समझने वाला विद्वान नहीं बन सकता। भक्तियोग

में भाव का अत्यधिक महत्व है। वहाँ इसका अर्थ है परमात्मा के साथ सम्बन्ध की अनुभूति। कोई साधक परमात्मा को अपना स्वामी मानता है, कोई मित्र, कोई प्रियजन और कोई प्रेमी। इन्हीं आधारों पर मानसिक अनुभूतियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। जब एक स्त्री भगवान की उपासना पुत्र के रूप में करती है तो उसके मन में होने वाली अनुभूति को वात्सल्य कहा जाता है। वही जब पति के रूप में उपासना करती है तो उसे माधुर्य कहा जाता है। मित्र के रूप में उपासना को सख्य और स्वामी के रूप में की जाने वाली उपासना को दास्य कहा जाता है। भक्ति साहित्य में इन्हीं अनुभूतियों को भाव कहा गया है।

साधक भिन्न-भिन्न इच्छाओं और भावों को लेकर ईश्वर की उपासना करता है। भाव के उत्कट होने पर वह अपने आपको भूल जाता है। इच्छा भी समाप्त हो जाती है। भगवान की इच्छा ही उसकी इच्छा बन जाती है। इस प्रकार प्रारम्भ में भेद होने पर भी अन्त में भक्त, भगवान और इच्छा तीनों एक रूप हो जाते हैं। गाय तरह-तरह के घास तथा अन्य वस्तुयें खाती हैं। सब मिलकर दूध का रूप ले लेती हैं। दूध से दही बनता है और दही से मक्खन निकलता है। उसी प्रकार प्रारंभिक भाव महाभाव में परिणत हो जाते हैं। मक्खन में जो तत्व है वह घास में भी होता है। मक्खन उसी का अभिव्यक्त रूप है। इसी प्रकार महाभाव के रूप में प्रकट होने वाला रस भिन्न-भिन्न भावों से ही प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में उस पर इच्छा या अन्य बातों के आवरण छाये रहते हैं। क्रमशः वे हटते चले जाते हैं और असली तत्त्व शेष रहता है। उसी का नाम महाभाव या रस है। जो परमात्मा का ही रूप है।

### कुछ आवश्यक निर्देश

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए उपयुक्त वातावरण नितांत आवश्यक है। इसके लिए स्थान, समय आदि का ठीक चुनाव होना चाहिए। नीचे कुछ आवश्यक निर्देश दिए जाएँगे :—

**स्थान**—ध्यान के लिए स्थान शांत एवं एकांत होना चाहिए। सरोवर या नदी का तट, अरण्य तथा उपवन उत्तम माने गए हैं। यदि इनकी सुविधा न हो तो घर में ही कोई स्थान चुना जा सकता है। यह आवश्यक है कि वह कोलाहल एवं अन्य विक्षेपों से दूर हो। प्राकृतिक स्थानों पर जो स्वाभाविक ध्वनि सुनाई पड़ती है वह एकाग्रता में बहुत सहायक होती है। नदी को शान्त कल-कल, पर्वत एवं उपत्यकाओं की नीरवता तथा वृक्षों की मर्मर ध्वनि हमारी चेतना को अनायास ही परमात्मा की ओर ले जाती है। पक्षियों का कलरव, भ्रमरों का गुंजन, पुष्पो की सुगन्ध एवं प्राकृतिक सौन्दर्य भी ध्यान में सहायक होते है किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि साधक उन्हीं में न डूब जाय। वे मन की एकाग्रता में सहायक होते है। उसके एकाग्र होने पर इष्ट का चिन्तन प्रारम्भ कर देना चाहिए।

घर में जो स्थान चुना जाय वहाँ भी अनुकूल वातावरण तैयार किया जा सकता है। देवी-देवता एवं योगियों के चित्र तथा धूप की सुगन्ध इसमें सहायक है। ध्यान के कमरे में जहाँ तक हो सके सामान बहुत थोड़ा रखना चाहिये। विलासिता की सामग्री बिल्कुल नहीं रखनी चाहिये।

स्थान ऐसा होना चाहिये जहाँ न अधिक गर्मी हो, और न अधिक ठंड। तीव्र वायु भी एकाग्रता में बाधक होता है। बैठने की जगह के पास नमी तथा दुर्गन्ध नहीं होनी चाहिये।

**समय**—ध्यान का समय नियमित रखना चाहिये अर्थात प्रतिदिन एक ही समय पर ध्यान किया जाय। उसकी अवधि भी प्रायः एक-सी रहनी चाहिये। यदि आधे घन्टे से प्रारम्भ किया जाये तो प्रतिदिन वही चलाना चाहिये। इच्छा हो तो धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये। कभी अधिक समय तक और कभी कम समय के लिये ध्यान करना ठीक नहीं है।

ध्यान के लिये रात्रि के समय मध्य भाग और ब्राह्म मुहूर्त उत्तम माने गये हैं। जब हम निद्रा से उठते हैं तो वृत्तियाँ शांत होती हैं। उस समय

मन अनायास ही परमात्म-चिन्तन में लग जाता है। भोजन के तत्काल पश्चात् थकावट के समय या जब नींद आ रही हो, ध्यान नहीं करना चाहिये।

**आसन**—महर्षि पतंजलि ने बताया है कि आसन वही उपयोगी हैं जिसमें देर तक आराम से बैठा जा सके। भगवद्गीता में आया हैं कि बैठने का स्थान न बहुत ऊँचा होना चाहिये और न बहुत नीचा। छोटी चौकी पर कुश. मृगचर्म या ऊन का आसन बिछाना चाहिये। वह न अधिक नरम हो ओर न अधिक कड़ा। मुँह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रखना चाहिये। बैठने के लिए पद्मासन और सिंहासन अच्छे माने गये हैं। रीढ़ की हड्डी और गर्दन सीधी रहनी चाहिये।

## सफलता के विघ्न

प्रत्येक शुभ कार्य में विघ्न आया करते हैं। उन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—१. बाह्य और २. आभ्यंतर।

## बाह्य विघ्न

सामाजिक, पारिवारिक एवं शारीरिक परिस्थिति, शत्रु अथवा अन्य कारणों से आने वाले विघ्नों को बाह्य विघ्न कहा जायेगा। उनमें से बहुत से विघ्न ऐसे होते हैं जो अपने जीवन में तनिक सा परिवर्तन करने पर दूर हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति ईर्ष्या अथवा द्वेष के कारण हमारी आलोचना करता रहता है और विकास में विघ्न डालने का प्रयत्न करता है। यदि हम नम्रता एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करें तो उसकी भावनाओं में शनैः शनैः परिवर्तन होने लगेगा और एक दिन वह पूरी तरह बदल जायेगा। इतना ही नहीं विघ्न उपस्थित करने के स्थान पर हमारा सहायक बन जाएगा। योगदर्शन में आया है कि मैत्री की भावना द्वेष एवं ईर्ष्या को समाप्त कर देती है।

जो विघ्न सामाजिक परिस्थिति के कारण आते हैं उनमें कुछ वास्तविक होते हैं और कुछ का कारण केवल मानसिक संकोच होता है।

उदाहरण के रूप में नागरिक जीवन का कोलाहल एक स्वाभाविक विघ्न है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उससे बचना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में यथासंभव एकान्त एवं शान्तिपूर्ण स्थान ढूँढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि न मिल सके तो कोलाहल की ओर उपेक्षावृत्ति धारण करने से उसकी बाधा समाप्त हो जाएगी। प्राय: देखा गया है कि जिस चीज से हम चिढ़ते हैं या जो बुरी लगती है उसकी तनिक-सी अनुभूति भी मन में हलचल पैदा कर देती है। उपेक्षावृत्ति धारण करने से उधर ध्यान ही नहीं जाता और विघ्न समाप्त हो जाता है।

रोग से बचने के लिए अपनी दिनचर्या को नियमित बनाना चाहिए और भोजन में संयम रखना चाहिए। पारिवारिक विघ्नों को दूर करने के लिए अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए जिससे दूसरों पर कम से कम बोझ पड़े। जो व्यक्ति साधना करते समय दूसरों पर बोझ बन जाता है, उसकी साधना अधिक दिन तक नहीं चल पाती। साथ ही जब तक वह परिवार में रहता है उसे उसका उत्तरदायित्व भी निभाते जाना चाहिए।

कुछ विघ्न ऐसे होते हैं जो अपनी भावनाएँ एवं दिनचर्या ठीक रखने पर भी दूर नहीं होते। उनका दृढ़तापूर्वक सामना करना चाहिए। प्राय: देखा गया है कि हमारी मानसिक दुर्बलता विघ्नों को प्रबल बना देती है। यदि हम साहस बटोर कर अपने निश्चय पर दृढ़ हो जाएँ तो उनकी शक्ति क्षीण होने लगती है। दृढ़ता साधना का आवश्यक तत्त्व है।

## आभ्यंतर विघ्न

जिन विघ्नों का संबंध मानसिक स्थिति के साथ है, उन्हें आभ्यंतर कहा जाएगा। हमारे मन में अकारण ही घृणा, संकोच, भय आदि उत्पन्न होते रहते हैं और उत्साह को कम कर देते हैं। इन मनोभावों का कोई वास्तविक कारण नहीं होता। पारिवारिक जीवन सामाजिक परिस्थिति

आदि के कारण बचपन से ही हमारे मन में ऐसे संस्कार बनने लगते हैं। फलस्वरूप हम किसी कार्य को अच्छा मानने लगते हैं और किसी को बुरा। किसो व्यक्ति से प्रेम करने लगते हैं और किसी से घृणा। किसी कार्य में उत्साह होता है और किसी में संकोच। साधक जब मन को एकाग्र करने का अभ्यास करता है तो ये संस्कार उभरने लगते हैं और मन को अशांत कर देते हैं। ऐसे मौके पर घबराना नहीं चाहिए। प्रत्युत शांत हो कर उसके कारण एवं औचित्य पर विचार करना चाहिए। यह विचार धीरे-धीरे जमे हुए कुसंस्कारों को समाप्त कर देगा और मानसिक विघ्न घटने लगेंगे।

तंत्रसाधना में इस प्रकार के मानसिक संकोच और विघ्नों को आठ पाशों के रूप में विभक्त किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव और ईश्वर में यही भेद है। जो व्यक्ति इन पाशों में बँधा हुआ है, वह जीव है और जो उनसे मुक्त है, वह ईश्वर।

"घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेतिपंचमी,
कुलं शीलं तथा जाति रष्टौ पाशाः प्रकीर्तिता।
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।"

(१) **घृणा**—प्रथम पाश घृणा है। इसका अर्थ है कि किसी व्यक्ति या वस्तु को हेय समझना। हम जिससे घृणा करते हैं उससे दूर रहना चाहते हैं। मन में उसके प्रति बुरे विचार उठते रहते हैं। उसकी निंदा में सुख मिलता है। उसके पास आने पर मन में बेचैनी होने लगती है। इसके दो रूप हैं। यदि सामने वाला व्यक्ति शक्तिशाली या बराबरी का है, तो घृणा, द्वेष और असहिष्णुता का रूप ले लेती है। मन में एक प्रकार की जलन होती है और हम शत्रु का नाश या उसे नीचा दिखाना चाहते हैं। ऐसे समय में यह विचार करना चाहिए कि द्वेषबुद्धि से हम उसे जितना नुक्सान पहुँचाते हैं उससे अधिक अपने आप को पहुँचाते हैं। इसके विपरीत मित्रता होने पर दोनों को लाभ है। जिस व्यक्ति को

हम अपने से छोटा मानते हैं वहाँ घृणा, तिरस्कार या हेयबुद्धि का रूप ले लेती है। ऐसे समय में सर्वप्रथम यह भावना करनी चाहिए कि जो परमात्मा हमारे अन्दर है वही उसके अन्दर है। घृणा द्वारा हम उस परमात्मा का अपमान करते हैं। तुलसीदास ने कहा है—'सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।' अर्थात् मैं समस्त विश्व को सीता और राम के रूप में देखता हूँ और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

दूसरी बात यह है कि साधक को अपने दोष और दूसरों के गुणों पर ध्यान देना चाहिए। अपने को ऊँचा मानने का अर्थ है दूसरे के दोष और अपने गुणों पर ध्यान देना। अपने अन्दर कमी या न्यूनता की अनुभूति विकास का आवश्यक तत्त्व है। जो व्यक्ति अपने को उत्कृष्ट समझता है उसका विकास रुक जाता है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है—'मो सम कौन कुटिल खल कामी, जेहि तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी।' लघुता की यह भावना घृणा दूर करती है और ऊँचा उठने की प्रेरणा देती है।

व्यक्ति के प्रति घृणा का दूसरा रूप सामाजिक है। अपने को ऊँचा समझने वाले हिंदू शुद्रों से घृणा करते हैं। अँग्रेज यहूदियों से। हिंदू और मुसलमानों में भी परस्पर घृणा जातीय विद्वेष का रूप ले चुकी है। व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रों में स्वार्थों को लेकर संघर्ष होते रहते है। ये संघर्ष जब लम्बे समय तक चलते हैं तो जातीय विद्वेष का रूप ले लेते हैं। व्यक्ति बदल जाते हैं, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, किन्तु वे संस्कार नहीं छूटते। और तनिक-सा कारण उपस्थित होने पर विकराल रूप ले लेते हैं। साधक को इस घृणा से भी ऊपर उठने की आवश्यकता है। जो व्यक्ति कण-कण में परमात्मा का दर्शन करता है, वह इस विद्वेष को प्रश्रय नहीं दे सकता।

जब यह विद्वेष धर्म के साथ जुड़ जाता है तो इसकी अभिव्यक्ति

धर्म की सेवा मान ली जाती है। विधर्मियों का संहार धर्म का अंग हो जाता है। घृणा की यह अभिव्यक्ति प्राचीन समय से धर्म संस्था का अभिशाप बनी हुई है। जो व्यक्ति सर्वत्र परमात्मा को देखता है वह इसे प्रश्रय नहीं देगा।

वस्तु के प्रति घृणा भी हमारे विकास में बाधा डालती है। हम मल-मूत्र, श्लेष्म आदि से घृणा करते हैं। इसके दो रूप हैं—पहला रूप शारीरिक शुद्धि एवं पवित्रता है। शुद्ध वस्त्र, शरीर की सफाई तथा पवित्र वातावरण मन को पवित्र बनाते हैं, और परमात्मचिंतन में सहायक होते हैं किन्तु ऐसा भी देखा गया है कि बहुत से व्यक्ति जिन वस्तुओं से अत्यधिक घृणा करने लगते हैं उनका ध्यान पवित्रता की ओर नहीं रहता, किन्तु मन इनके प्रति घृणा से भरा रहता है। वे शौच से आने पर कई बार हाथ धोते हैं। किसी ऐसी वस्तु के छू जाने पर उद्विग्न हो जाते हैं। वस्तु शुद्धि एवं शरीर शुद्धि को अधिक महत्व देते हैं। ऐसा होने पर मन असली लक्ष्य की ओर नहीं जाता। हमें यह सोचना चाहिए कि परमात्मा की सृष्टि में कोई वस्तु बुरी नहीं है। शरीर का प्रत्येक भाग अपने-अपने स्थान पर आवश्यक है। एक के बिना दूसरे का कार्य नहीं चल सकता। यदि शरीर के अंग परस्पर घृणा करने लगें तो अव्यवस्था फैल जाएगी। यह विश्व परमात्मा का शरीर है। उसमें भी एक व्यवस्था है। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति घृणा करने का अर्थ है उस व्यवस्था को बुरा समझना। दूसरे शब्दों में यह परमात्मा का अपमान है।

(२) **लज्जा**—यह एक प्रकार का संकोच है। मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती हैं और उचित होने पर भी हम उन्हें पूरी करने में संकोच कर जाते हैं। बोलना चाहते हैं, किन्तु नहीं बोल पाते। किसी का स्वागत करना चाहते हैं, किन्तु मुँह से शब्द नहीं निकलते। मन ही मन हीनता का अनुभव करते हैं। इस प्रकार की लज्जा आत्मविकास

में बाधक होती है। सामाजिक जीवन में लज्जाहीन व्यक्ति को अच्छा नहीं कहा जाता। किन्तु वहाँ उसका अर्थ है बुरे कार्य में भी संकोच न करने वाला। इसके विपरीत उचित कार्य में लज्जा या संकोच करना गुण के स्थान पर दोष है।

(३) **भय**—यह उत्साह को कम कर देता है। साधारणतः हम जिस वस्तु के प्रति महत्व रखते हैं उसके नाश का भय लगा रहता है। संपत्ति, प्रियजन, प्रतिष्ठा आदि की हानि का भय मानस को घेरे रहता है। कहीं सकारण होता है और कहीं अकारण। इससे ऊपर उठने के लिये भय के कारणों पर विचार और दृढ़तापूर्वक उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह मालूम पड़े कि उन्हें दूर नहीं किया जा सकता तो साहसपूर्वक विषम परिस्थितियों का सामना करना चाहिए।

(४) **शंका**—हमारे मानस को व्यर्थ की आशंकाऐं एवं संदेह घेरे रहते हैं। उन्हें दूर करते रहना चाहिए।

(५) **जुगुप्सा**—घृणा में द्वेष की मुख्यता रहती है और जुगुप्सा में छिपाने की। हम बहुत सी बातों को गुप्त रखना चाहते हैं। और वे मन को अशांत किये रहती है। जिस बात को ठीक समझा जाये उसे नहीं छिपाना चाहिए।

(६) **कुल**—पारिवारिक मर्यादाएँ।

(७) **शील**—रीतिरिवाज

(८) **जाति**—सामाजिक मर्यादाएँ।

जीवन में सफलता प्राप्त करने तथा उसे सुखी बनाने के लिये इन पाशों से ऊपर उठने की आवश्यकता है। इनके कारण व्यक्तित्व दबा रहता है। प्रतिभा कुंठित हो जाती है।

महाभारत में सफलता के पाँच विघ्न बतलाते हुए कहा है—

नालसं प्राप्नुवंत्यर्थाः न क्लीबं नातिमानिनम् ।
न च लोकरवाद्भीतं, न च शश्वत् प्रतीक्षणम् ।

पाँच प्रकार के व्यक्तियों को सफलता नहीं मिलती—

(१) **आलसी**—सफलता प्राप्त करने के लिये उद्यम-शील होना चाहिए ।

(२) **क्लीब**—जिसमें हिम्मत या साहस नहीं है । प्रत्येक कार्य में भय या संकोच करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल नहीं होता । जोखम प्रत्येक कार्य में रहता है । जो उसे उठाने में डरता है, वह प्रगति नहीं कर सकता ।

(३) **अतिमानी**—बहुत से व्यक्ति वैयक्तिक प्रतिष्ठा या अहंकार को अत्यधिक महत्व देने लगते हैं । प्रत्येक कार्य में हाथ डालते समय उन्हें भय लगा रहता है कि कहीं प्रतिष्ठा को ठेस न पहुँचे । ऐसे व्यक्ति संकोच में पड़े रहते है, आगे नहीं बढ़ पाते ।

(४) **लोकनिन्दा से डरने वाला**—बहुत से व्यक्ति इस बात से डरते रहते हैं कि दुनिया क्या कहेगी । यह भी एक प्रकार का संकोच है और विकास में बाधक है ।

(५) **प्रतीक्षा करने वाला**—बहुत से व्यक्ति अवसर की प्रतीक्षा करते हैं और प्रारंभ नहीं करते । समय बीतने पर उत्साह मंद हो जाता है और प्रारम्भ नहीं हो पाता । मन में जो निश्चय हो उसे यथासंभव शीघ्र कार्य रूप में परिणत कर देना चाहिए । उत्साह, सफलता का बहुत बड़ा महत्व है । वह छोटी-मोटी बाधाओं को अनायास ही दूर कर देता है । विलम्ब करने से उत्साह मंद पड़ जाता है । इन्हीं बातों को अन्यत्र छः दोषों के रूप में प्रकट किया गया है । वहाँ कहा गया है—

षड्दोषाः पुरुषेणेह, हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तंद्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ।।

अर्थात् उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को नीचे लिखे छः दोष छोड़ देने चाहिए । निद्रा, तंद्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता ।

पतंजलि ने अपने योगशास्त्र में नौ विक्षेप बताये हैं :

(१) **व्याधि**—रोग

(२) **स्त्यान**—मोटापा । इससे आलस्य आने लगता है और साधना के लिए देर तक बैठना कठिन हो जाता है ।

(३) **संशय**—मन में संदेह उठना कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह ठीक है या गलत । अथवा उससे फल प्राप्ति होगी या नहीं ।

(४) **प्रमाद**—भूल-चूक । साधना के लिये जिस पद्धति को अपनाया जाय उसे पूरी सावधानी के साथ करना चाहिए । भूलें करने से लाभ नहीं होता और उत्साह मंद पड़ जाता है ।

(५) **आलस्य**—साधना के लिये जो अनुष्ठान अपनाया जाय उसे निरंतर ठीक समय पर उत्साह के साथ करना चाहिए । आलस्य सफलता का विघ्न है ।

(६) **अविरति**—साधक को अपने जीवन में संयम रखना चाहिए । इंद्रियलोलुपता साधन का विघ्न है ।

(७) **भ्रांतिदर्शन**—अनुष्ठान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम होना । साधक को चाहिए कि जिस अनुष्ठान को अपनाये उसे अच्छी तरह समझ ले । प्रक्रिया में किसी प्रकार का संदेह या भ्रम न रहने दे ।

(८) **अलभ्य भूमिकत्व**—साधारणतया हम अभ्यास प्रारम्भ करने के कुछ ही दिन पश्चात् सफलता की आशा करने लगते हैं । और यह समझने लगते हैं कि हमें ध्यान की ऊँची भूमि प्राप्त हो जायेगी । किन्तु

जब वह नहीं प्राप्त होती तो उत्साह मंद पड़ने लगता है। ऐसे समय में दृढ़तापूर्वक अभ्यास जारी रखना चाहिए। हो सकता है मन का कोई प्रबल कुसंस्कार बाधक बना हुआ हो। उसके हटते ही मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

(६) **अनवस्थितता**—किसी एक उपाय में स्थिर न रहना। कभी किसी, और कभी किसी पद्धति को पकड़ना। साधना द्वारा हम जन्म जन्माँतरों के जमे हुए कुसंस्कारों को दूर करना चाहते हैं। और अच्छे संस्कार लाना चाहते हैं। इसके लिए लम्बे समय तक एक ही अभ्यास की आवश्यकंता है। बदलते रहने से नये संस्कार दृढ़ नहीं होते।

पतंजलि ने इन विक्षेपों के साथ चार बातें और बताई हैं जो विक्षेप का परिणाम हैं। वे हैं—

१. दुःख—शरीर में पीड़ा।
२. दौर्मनस्य—मन में खेद या ग्लानि।
३. अंगमेजयत्व—हाथ-पाँव आदि अंगों का फूलना।
४. श्वासप्रश्वास—साँस फूलना।

इन विक्षेपों को दूर रखने का एकमात्र उपाय मन की प्रसन्नता है। मन में जितना उत्साह रहेगा उतने ही विक्षेप कम आएँगे। इसके लिए सत्संग और योगसम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन उपयोगी है।

## चित्त शुद्धि के उपाय

ध्यान द्वारा वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है। निर्मल हृदय वाला व्यक्ति ही ध्यान में आगे बढ़कर परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। हृदय को निर्मल बनाने के लिये जीवन को शुद्ध करने की आवश्यकता है। अतः ध्यानों का निरूपण करने से पहले कुछ ऐसी क्रियायें बताई जायेंगी जिनसे जीवन में पवित्रता आती है। संकुचित भावनायें दूर होती हैं।

भवद्गीता में चित्त शुद्धि के लिए तीन बातें बताई गई हैं—

**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**

**यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।** अ० १८, श्लोक ५

यज्ञ, दान और तप तीन क्रियाएँ सदा करते रहना चाहिए। उन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए। ये तीनों जीवन को पवित्र बनाती हैं।

**यज्ञ**

इसका शब्दार्थ है दान या त्याग। साधक को प्रतिदिन समाज तथा विश्व का संचालन करने वाली शक्तियों को लक्ष्य में रखकर कुछ न कुछ त्याग करते रहना चाहिए। इससे संकुचित भावना दूर होती है। और हमारा सम्बन्ध उस विराट सत्ता के साथ जुड़ जाता है जो विश्व का संचालन कर रही है। हम अपने को पृथक् इकाई न समझ कर परमात्मा के विशाल परिवार का सदस्य समझने लगते हैं। समस्त प्राणियों के साथ बन्धुत्व स्थापित होता है। सारा जगत् अपने घर के समान दिखाई देने लगता है और हृदय में पवित्रता आती है। यज्ञ करते समय साधक अपने संकुचित अस्तित्व को भूलकर विराट् सत्ता का ध्यान करता है और उनके लिये यथाशक्ति त्याग करता है।

भगवद्गीता में आया है—

**यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**

**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ।।** अ० ३, श्लोक १३

जो व्यक्ति यज्ञ से बचे हुये अन्न को खाते हैं वे सभी पापों से छूट जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग अपने ही लिए पकाते हैं वे पाप के भागी होते हैं। मनुस्मृति में गृहस्थों के लिए ५ यज्ञ बताये गये हैं।

(१) **देवयज्ञ**—देव का अर्थ है, वे महाशक्तियाँ जो विश्व का संचालन कर रही हैं। जो सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रों को प्रकाश देती हैं। बादलों, नदियों तथा समुद्रों में पानी भरती हैं। वायु को वेग प्रदान करती हैं, अग्नि में उष्णता लाती हैं, फूलों में सुगन्ध भरती हैं और

वृक्षों वनस्पतियों तथा फलों में रस। साधक उन सब शक्तियों का ध्यान करता है। उन्हें पुष्प, सुगन्ध धूप आदि समर्पित करता है। इस प्रकार उसके साथ सम्बन्ध जोड़ता है। यह अनुभव करता है कि वे शक्तियाँ मेरी सहायक हो गई है। उनका वरदहस्त मेरे सिर पर है। प्रत्येक कार्य में वे मेरे साथ हैं। यह अनुभूति उसमें साहस, शक्ति और उत्साह का संचार करती है। वह अपने संकुचित तथा निर्बल व्यक्तित्व को भूलकर परमात्मा की विराट् एवं शक्तिशाली सत्ता में मिल जाता है। उसके विशाल परिवार का सदस्य बन जाता है।

भगवद्गीता में आया है—

**देवान्भावयतानेन, ते देवा भावयंतु वः।**

**परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥** अ० ३, श्लोक ११

तुम यज्ञ के द्वारा देवताओं का सत्कार करो; फल स्वरूप देवता तुम पर कृपा करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे का सत्कार करने पर तुम्हारा उत्तरोत्तर अभ्युदय होगा।

**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः।**

**तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तस्तेन एव सः॥** अ० ३, श्लोक १२

यज्ञ द्वारा प्रसन्न होने पर देवता तुम्हें अभीष्ट फल देंगे, तुम्हारी इच्छायें पूर्ण करेंगे। जो व्यक्ति उनके द्वारा दी गई वस्तुएँ उन्हें अर्पित किये बिना भोगता है वह स्तेन अर्थात् चोर है।

(२) **पितृयज्ञ**—इसका अर्थ है पूर्वजों का स्मरण और उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना। हमारा व्यक्तित्व पृथक इकाई नहीं है। वह समाज के साथ मिला हुआ है, उसी का एक अंग है। जिस प्रकार हाथ-पैर आदि अंगों को शरीर से शक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार व्यक्ति को समाज से। अपने को पृथक इकाई समझने वाला निर्बल हो जाता है। पूर्वज समाज संगठन के इस प्रासाद की आधार शिला होते हैं।

उनका नाम ऐसी कड़ी होता है जो विशाल संख्यक व्यक्तियों को परस्पर जोड़े रखती है। हजारों मील की दूरी पर निवास करने पर भी जब दो व्यक्ति एक ही पूर्वज का स्मरण करते हैं तो उनमें परस्पर भ्रातृत्व जागृत होने लगता है। वात्सल्य और प्रेम उमड़ने लगता है। पितृयज्ञ इसी कड़ी की रक्षा करता है। इसमें भी पूर्वज का नाम लेकर दान किया जाता है। श्राद्धों में इसका अनुष्ठान विशेष रूप से होता है। ब्राह्मण-भोजन, त्यागी, तपस्वी एवं विद्वानों की सेवा का प्रतीक है। पूर्वजों का नाम लेकर गृहस्थ यथाशक्ति उनकी सेवा करता है।

(३) **भूतयज्ञ**—भूत का अर्थ है पशु-पक्षी आदि छोटे प्राणी। गृहस्थ विश्व के समस्त प्राणियों को परमात्मा की संतान और अपना बन्धु मानता है। भूतयज्ञ के द्वारा उनको भेंट देता है। पक्षियों को दाने डालता है और पशुओं को घास, इस प्रकार उनके साथ पारिवारिक संबंध जोड़ता है।

(४) **अतिथियज्ञ**—अतिथि का अर्थ है—नवागंतुक। गृहस्थ इस बात की प्रतीक्षा में रहता है कि कोई अतिथि आकर उसके घर को पवित्र करे। वह मानता है कि उसके भोजन कर लेने पर सारा भोजन पवित्र हो जायगा और उसके—चरणोदक से घर का आँगन। इस प्रकार वह समस्त मानवता के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। उपनिषदों में कहा गया है कि अतिथि को देवता मानो।

(५) **ऋषियज्ञ**—ऋषि का अर्थ है, वे महापुरुष जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया। उनकी वाणी हमारे अज्ञान को दूर करती है। उसका अध्ययन करना ऋषियज्ञ है। प्राचीन ग्रन्थों में इसकी परिभाषा वेदाध्ययन के रूपों में की गई। किन्तु वेद का अर्थ ज्ञान है। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक नई-नई बातें खोजकर ज्ञान की वृद्धि कर रहे है, वे सभी ऋषि हैं। उन्होंने अपनी खोज द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, उसका अध्ययन करना ऋषियज्ञ है।

**दान**

दान का अर्थ है दूसरे की सहायता। इसकी प्रेरणा सहानुभूति से होती है, जिसका अर्थ है दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट और दूसरे के अभाव को अपना अभाव समझना। दान हृदय में उदारता उत्पन्न करता है, उसके द्वारा व्यक्ति अपने अस्तित्व का विस्तार करता है। इसकी अन्तिम सीमा वहाँ है जब वह सब कुछ दूसरों के लिये त्याग देता है। बदले में यश या सन्मान की इच्छा भी नहीं रखता। गीता में इसकी तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं—

(१) **सात्विक**—जो दान देश, काल तथा योग्य पात्र को देखकर बिना प्रत्युपकार की भावना के दिया जाता है वह सात्विक है।

(२) **राजस**—जो दान प्रत्युपकार तथा फल की कामना से दिया जाता है, जहाँ देने वाले का हृदय शुद्ध नहीं होता।

(३) **तामस**—जो दान अयोग्य देश, अयोग्य काल तथा अयोग्य पात्र को दिया जाता है, जहाँ देते समय मन में अवज्ञा या तिरस्कार रहता है।

बौद्धों की महायान शाखा में साधना का प्रारम्भ दान पारमिता से होता है। पारमिता का अर्थ है उत्कृष्टता। दान पारमिता के तीन तत्त्व हैं—(क) दाता में किसी प्रकार की स्वार्थ भावना का न होना जहाँ साधक बदले में कुछ नहीं चाहता। बोधिचर्यावतार में बताया गया है कि बोधिसत्त्व दूसरों के कल्याण के लिए स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख भी त्याग देते हैं। (ख) दी जाने वाली वस्तु में किसी प्रकार का संकोच या मर्यादा न रखना। बोधिसत्व धन सम्पत्ति ही नहीं, जीवन भी दूसरों के लिए अर्पित कर देते हैं। (ग) क्षेत्र की विशालता। जिस प्रकार बादल बिना किसी भेद के सर्वत्र बरसता है इसी प्रकार बोधिसत्व का हृदय सबके लिये खुला रहता है। यह दान की उत्कृष्ट

अवस्था हैं। जिसे सर्वस्व त्यागी संत ही प्राप्त कर सकते हैं। इसके पहले गृहस्थ को यथाशक्ति अभ्यास करना चाहिए और उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए।

## तप

आत्मशुद्धि के लिए तप का भी विधान किया गया है। साधक को इसका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। इसके मुख्य तीन भेद है—

१. शारीरिक २. वाचिक ओर ३. मानसिक

**शारीरिक**— देवता, गुरु और विद्वानों की पूजा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा।

**वाचिक**—सत्य, प्रिय हित तथा दूसरे को पीड़ा न पहुँचाने वाली वाणी, स्वाध्याय और शास्त्रों का अभ्यास।

**मानसिक**—मन की प्रसन्नता, कोमलता, शान्ति आत्मसंयम तथा विचारों की पवित्रता।

पूर्वोक्त सभी तप तीन प्रकार के होते हैं—

१ सात्त्विक—जो तप श्रद्धापूर्वक फल की आकांक्षा के बिना तथा पूरे मनोयोग के साथ किया जाता है उसे सात्त्विक कहते हैं।

२ राजस—जो तप सत्कार तथा मान पूजा के लिये किया जाता है, जिसके पीछे अहंकार, कपट या प्रदर्शन होता है। उसका फल क्षणिक और अनिश्चित होता है।

१ तामस—जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है।

## ध्यान और अनुभूति के स्तर

प्रतिदिन जो प्रतीतियाँ होती हैं उनके कई स्तर हैं। कोई हृदय पर

गहरा प्रभाव डालती है और जीवन को बदल देती है। बहुत-सी क्षणिक आभास के रूप में चमक कर लुप्त हो जाती हैं। उनका हृदय पर प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता। इनके बीच न्यूनाधिक प्रभाव की दृष्टि से अनेक स्तर हैं।

मार्ग पर चलते हुए हमारे सामने अनेक दृश्य आते हैं। किन्तु घर पर पहुँचते ही उन्हें भूल जाते हैं। समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि अमुक-स्थान पर दुर्घटना हो गई और सौ व्यक्ति मर गए। हम समाचार पढ़कर पत्र को एक ओर रख देते हैं और मनोरंजन या वार्तालाप में लग जाते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे वह घटना हुइ ही नहीं। अथवा उसका हमारी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। हिरोशिमा में अणुबम के द्वारा एक साथ लाखों व्यक्ति भस्म हो गये। अनेक स्थानों पर भूकंप अथवा अन्य विपत्ति के कारण हजारों व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। उन समाचारों को पढ़कर किसी के मन मे तनिक-सा संवेदन होता है, मुँह से एक आह निकलती है और अनुभूति समाप्त हो जाती है। यदि उन दुघटनाओं में उसका कोई आत्मीय होता है और वह जितना निकट होता है, अनुभूति उतनी ही उत्कट और स्थायी होती है। इसीप्रकार यदि दुर्घटना हमारे सामने हो तब भी अनुभूति अपेक्षाकृत प्रबल होती है। सामने लेटे हुये रुग्ण या घायल की कराह जो संवेदन उत्पन्न करती है, दूरस्थ सैंकड़ों व्यक्तियों की कराह का समाचार नहीं करती।

इन उदाहरणों से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि घटना जितनी निकट होगी, अनुभूति उतनी ही प्रबल होगी। दर्शनशास्त्र में हमारे ज्ञान को तीन श्रेणियो में विभक्त किया गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनमें अनुभूति उत्तरोत्तर न्यून होती जाती है। शब्द का अर्थ है दूसरे से सुनकर प्राप्त होने वाला ज्ञान। समाचार पत्र भी इसी कोटि में आते हैं। धर्मग्रथों में हम स्वर्ग, नरक, ईश्वर आदि का वर्णन पढ़ते हैं। उनकी सच्चाई में विश्वास होने पर भी अनुभूति अत्यन्त क्षीण

होती है। ऐसे वर्णन पढ़कर क्षणिक मनोरंजन भले ही हो, जीवन में परिवर्तन नही होता।

ज्ञान की दूसरी कोटि अनुमान की है, जहाँ घटना में प्रत्यक्ष न होने पर भी अन्य तथ्यों को देखकर अग्निकाण्ड का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार हिंसक तैयारी को देखकर उसके भावी परिणाम का अनुमान किया जाता है। ऐसे स्थानों में अनुभूति अपेक्षाकृत तीव्र होती है।

तीसरी कोटि प्रत्यक्ष है। इसका अर्थ है इंद्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान। यहाँ अनुभूति तीव्रतम हो जाती है। इंद्रियों में भी सर्वत्र एक-सी अनुभूति नहीं होती। हम आकाशवाणी में समाचार सुनते हैं, कि अमुक स्थान पर दुर्घटना हो गई। यह शब्द ज्ञान है। उसके पश्चात् दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों का रुदन सुनाई पड़ता है। इसका अर्थ है दुर्घटना का कर्णेद्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष। यहाँ अनूभूति बढ़ जाती है। वही घटना जब टेलिविजन द्वारा आखों के सामने आ जाती है, तो अनुभूति उग्रतर हो जाती है। इसका अर्थ है श्रवण प्रत्यक्ष से चाक्षुष प्रत्यक्ष की अनुभूति प्रबल होती है। वही ज्ञान यदि समस्त इंद्रियों द्वारा होने लगे तो अनुभूति की मात्रा चरम सीमा पर पहुँच जायेगी।

दूसरा तत्त्व आत्मीयता है। जिस व्यक्ति को हम पराया समझते हैं, उसके साथ प्रत्यक्ष दुर्घटना होने पर भी अनुभूति प्रबल नहीं होती। सड़क पर एक व्यक्ति बस या मोटर से टकराकर घायल हो जाता है। किन्तु हमें अपने कार्यालय में ठीक समय पर पहुँचने की पड़ी रहती है। दुर्घटना को देखकर भी अनदेखी कर देते हैं। कार्यालय में पहुँच कर उसकी चर्चा करते हैं। वह चर्चा एक प्रकार का मनोरंजन होती है। उससे हृदय की वेदना नही प्रकट होती। इसलिये हम किसी प्रकार का त्याग करने को तैयार नहीं होते। इसके विपरीत यदि वह व्यक्ति हमारा आत्मीय है तो कार्यालय को भूलकर उसके उपचार में लग जाते हैं।

तीसरा तत्त्व स्वार्थभावना है। बहुत बार ऐसा होता है कि एक व्यक्ति को कष्ट पीड़ित देखकर हम उसकी सुश्रुषा में लग जाते हैं। किंतु जब उसका कष्ट लम्बे समय तक चलता रहता है और दैनंदिन आवश्यकताओं में अड़चन आने लगती है तो शुश्रूषा शिथिल हो जाती है। एक दिन हृदय इतना कठोर हो जाता है कि सहानुभूति भी नहीं रहती। आत्मीय होने पर भी उसका कष्ट हमें विचलित नहीं करता। मौलिक आवश्यकताएँ उस अनुभूति को दबा देती हैं। इसके विपरीत यदि हमें यह प्रतीति हो कि उस शुश्रूषा से स्वार्थपूर्ति भी होगी तो अनुभूति स्थायी ही नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है।

इस चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुभूति को प्रबल बनाने के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता है—(१) प्रत्यक्ष या साक्षात्कार (२) लक्ष्य की आत्मीयता (३) उसके द्वारा स्वार्थ का पोषण। ध्यान को शक्तिशाली बनाने के लिए भी इन तीनों की आवश्यकता है। सर्वप्रथम हमें अपने लक्ष्य को साकार रूप में देखने का अभ्यास करना चाहिए। इसी के लिए विविध प्रतीक बताये गये हैं। उनको सामने रख कर देवता का ध्यान किया जाता है और यह भावना की जाती है। कि देवता स्वयं हमारे सामने विराजमान हैं। अनुभूति जितनी तीव्र होगी उतना ही शक्ति का अधिक संचार होगा। यह प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया है।

उपनिषदों में अनुभूति के तीन स्तर बताये गये हैं—(१) श्रवण, (२) मनन और (३) निदिध्यासन। श्रवण का अर्थ है—शास्त्र या गुरु-मुख से किसी बात को जानना। यह शाब्दिक ज्ञान तक सीमित है। मनन का अर्थ है इस बात पर अपनी बुद्धि से विचार करना। इसका सम्बन्ध अनुमान से है। निदिध्यासन का अर्थ है—पुनः पुनः चिंतन द्वारा उस अनुभूति को प्रबल बनाना। जिसका पर्यवसान साक्षात्कार है। साथ ही यह भी बताया गया है कि ब्रह्म या ईश्वर हमारी आत्मा से

भिन्न नहीं है। उसकी खोज हमारी अपनी ही खोज है। वह सबसे अधिक प्रिय है। धन, सन्तान, पत्नी आदि अपने आप में प्रिय नहीं होते। वे हमें तृप्त करने के कारण ही प्रिय लगते हैं। किंतु आत्मा अपने आप में प्रिय है। साथ ही वह सुख या आनन्दरूप है। उसे प्राप्त कर लेने पर समस्त दुख मिट जाते हैं। समस्त स्वार्थ पूर्ण हो जाते हैं। उसके साक्षात्कार से बढ़कर कोई स्वार्थ नहीं है। इस प्रकार पुनः पुनः चिंतन करने पर भावना उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है और एक दिन साक्षात्कार हो जाता है। साधना जगत् में इसी प्रक्रिया को ध्यान कहा जाता है। विभिन्न परंपराओं ने उपर्युक्त तत्त्वों को प्रबल बनाने के लिए अनेक उपायों का आविष्कार किया है। उनका निरूपण अगले अध्याय में किया जायेगा।

## स्वरूप ज्ञान

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए उसके स्वरूप और प्रक्रिया का ज्ञान होना चाहिए। बिना विचारे किया गया ध्यान अभीष्ट फल दायक नहीं होता। यदि अनुभवी गुरु प्राप्त हो और उसकी देखरेख में अभ्यास हो सके तो बहुत अच्छा है। गुरु न मिलने पर शास्त्र गुरु का काम देता हैं। उसका पर्यालोचन करके अभ्यास प्रारम्भ करने में हानि नहीं है। धीरे-धीरे साधक को स्वयं अनुभव होता जाता है और आगे बढ़ता जाता है। हठयोग की कुछ क्रियायें ऐसी भी हैं जिन्हें अपने आप करने से हानि की संभावना है। किन्तु राजयोग या ध्यान में ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें खतरा हो।

## एक रूपता

साधक जिस ध्यान को प्रारम्भ करे निरन्तर उसी का अभ्यास करता रहे। बदलते रहने से यथेष्ट लाभ नहीं होता। पहले बताया जा चुका है कि ध्यान मन में विशेष प्रकार के संस्कार उत्पन्न करने की प्रक्रिया है। ये संस्कार तभी उत्पन्न होते हैं जब निरन्तर एक ही बात का चिंतन किया

जाय। ध्यान का विषय बदलते रहने पर संस्कार में दृढ़ता और स्पष्टता नहीं आ पाती। एक ही आलम्बन रहने पर वह उत्तरोत्तर स्पष्ट होता चला जाता है। और आंखें बन्द करने पर भी ऐसा प्रतीत होता है जैसे सामने बैठा हो। इसका अथ है ध्यान की प्रथम भूमिका म सफलता। आलम्बन बदलते रहने पर यह सफलता नहीं प्राप्त होती।

## ध्यान और स्वभावभेद

बौद्ध धर्म में ध्यान का अत्यधिक महत्व है और विस्तृत विवेचन है। किस व्यक्ति के लिए किस प्रकार का साधन उपयुक्त होगा इसके लिए छः चर्याओं अर्थात् स्वभावों का वर्णन है। साथ ही यह भीं बताया गया है कि किस स्वभाव वाले व्यक्ति को साधन के रूप में कौन सा आलम्बन लेना चाहिए। चर्याएँ निम्न-लिखित हैं—

रागचर्या, द्वेषचर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या और वितर्कचर्या। इनके सम्मिश्रण से और भी अनेक भेद हो गये हैं। उदाहरण के रूप में रागचर्या के चार भेद हैं। राग-मोहचर्या, रागद्वेषचर्या, द्वेषमोहचर्या, और रागद्वेषमोहचर्या। इसी तरह श्रद्धा आदि चर्याओं के परस्पर सम्मिश्रण से श्रद्धाबुद्धिचर्या, श्रद्धावितर्कचर्या, बुद्धिवितर्कचर्या और श्रद्धा-बुद्धिवितर्कचर्या आदि भेद हो गये। यहाँ संक्षेप में छः मूल चर्याओं का प्रतिपादन किया जायगा। इनके कारण जीव की छः अवस्थाएँ मानी जाती हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित ओर वितर्कचरित। यहाँ चरित का अर्थ है स्वभाव।

१. **रागचर्या**—संतान, पत्नी, संपत्ति आदि के प्रति अनुराग। इस चर्यावाले व्यक्ति को रागचरित कहा जाता है। उसे साधना में प्रवृत्त करने के लिए श्रद्धा का विकास किया जाता है। क्योंकि राग और श्रद्धा एक ही प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं। जब आकर्षण अकुशल या हेय वस्तुओं के प्रति होता है तो उसे राग कहते हैं। वही जब कुशल अर्थात् उपादेय वस्तुओं

के प्रति होने लगता है तो उसे श्रद्धा कहा जाता है। राग और श्रद्धा दोनों में स्नेह की मात्रा प्रबल होती है। केवल लक्ष्य में अन्तर होता है। दोनों रुखाई व उपेक्षा के प्रतिपक्षी हैं। किन्तु दोनों में स्निग्धता का रूप एक सा नही होता। राग में जो स्निग्धता रहती है वह मन की स्वभाविक वृत्ति नहीं होती। वह एक प्रकार की मलिनता या मनोवेग है। उससे बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है। इसके विपरीत श्रद्धा मन की स्वभाविक प्रसन्नता है। वह राग के स्थान पर प्रसाद अर्थात् निर्मलता लिए रहती है। अच्छी वस्तु के प्रति झुकाव मन का स्वभाव है। बुद्धि ज्यों-ज्यों निर्मल होती है झुकाव अपने आप बढ़ता चला जाता है। इसी का नाम श्रद्धा है। राग का लक्ष्य काम्यवस्तुएँ होती हैं। जो हमारी इंद्रिय तृप्ति या क्षणिक इच्छाओं को पूर्ण करती हैं। इसके विपरीत श्रद्धा का लक्ष्य चरित्र, समाधि आदि वे गुण हैं जो आत्मा को ऊँचा उठाते हैं। राग भावी अहित को लिए रहता है और श्रद्धा हित को। लक्ष्यभेद होने पर भी दोनों एक ही मनोवृत्ति से संबद्ध हैं। अतः रागचर्या वाले साधक का परिष्कार श्रद्धा द्वारा किया जाता है।

१. **द्वेषचर्या**—इस स्वभाव वाले व्यक्ति के मन में घृणा या द्वेष का संचार होता है। इसकी उत्पत्ति दूसरों में बुराई या दोषदर्शन से होती हैं। जब हम बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु या व्यक्ति का विश्लेषण करते हैं, उस समय भी उसके दोष सामने आने लगते हैं। अतः द्वेषचरित और बुद्धिचरित में समानता है। अन्तर इतना ही है कि एक में मन आविष्ट होता है और दूसरे में स्वभावस्थ यानि निर्मल। जब द्वेषचरित का झुकाव दूसरे को हानि पहुँचाने से हटकर कुशल की ओर हो जाता है तो उस में प्रज्ञा का विकास होता हैं। द्वेषपूर्ण चित्त आसक्त नहीं होता। किन्तु उसका कारण हिंसा या द्वेषबुद्धि होता है। प्रज्ञा का विकास होने पर भी आसक्ति नहीं रहती। यहाँ उसका कारण हिंसा वृति के स्थान पर वस्तु का निजी स्वभाव होता है। बुद्धिमान विश्लेषण करके देखता है और प्रत्येक वस्तु

क्षणिक, द्वेषपूर्ण, नश्वर दिखाई देती हैं। सत्य की यह प्रतीति ही हेय बुद्धि को जन्म देती है। इसके विपरीत द्वेष होने पर ऐसे दोषों की भी कल्पना होने लगती है जो व्यक्ति या वस्तु में नहीं होते। किन्तु प्रज्ञा असदभूत दोषों की कल्पना नहीं करती। यहाँ वे ही दोष सामने आते हैं जो वस्तुतः होते हैं। द्वेषचरित जिसमें दोष देखता है उस वस्तु या व्यक्ति से घृणा करता है। उसकी दृष्टि दोषों पर न रहकर व्यक्ति पर रहती हैं। व्यक्ति के अप्रिय लगने पर ऐसे दोष भी दिखाई देने लगते हैं जो उसमें नहीं होते। इसके विपरीत बुद्धिचरित की दृष्टि दोषों पर रहती है, उसकी हेयबुद्धि दोषों के प्रति होती है फिर भी दोनों में समानता है। अतः द्वेष चरित का परिष्कार करने के लिए बुद्धि या प्रज्ञा का विकास करना चाहिए।

३. **मोहचर्या**—मोह राग का उत्कट रूप है। मोहाविष्ट को अपनी सुधबुध नहीं रहती। वह ऐसी बातों की कल्पना करने लगता है, जिनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। मोहचरित का प्रतिपक्ष वितर्क चरित है। उनमें भी अनेक कल्पनाएँ रहती हैं। किन्तु उनका कारण क्रोध, अहंकार, लोभ आदि मनोवेग नहीं होते। रागचरित के समान मोहचरित का भी स्वाभाविक झुकाव परिवार, संपत्ति आदि बाह्य वस्तुओं के प्रति होता है। जब वह उनसे हटकर कुशल की ओर प्रवृत्त होता है और अपना लक्ष्य किसी उच्चवस्तु को बना लेता है तो मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ उठने लगती हैं। उन्हें वितर्क कहा जाता है। मोह के द्वारा मन एक ही लक्ष्य में जड़ीभूत हो जाता है। वितर्क उसमें स्पंदन या हलचल पैदा करता है। इस प्रकार मोहचरित का परिष्कार होने लगता है। मोह में व्याकुलता रहती है, बुद्धि पर अज्ञान छा जाता है। वितर्क में भी अस्थिरता रहती है। किन्तु यहाँ विकल्पों के पीछे आसक्ति नही रहती। वे विचारात्मक होते हैं।

तृष्णा, अहंकार और दृष्टि की भी चर्याओं में पृथक् गणना की जाती

है। परन्तु तृष्णा और अहंकार राग के अन्तर्गत हैं और दृष्टि मोह के अन्तर्गत।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि इस स्वभावभेद का कारण क्या है ? ऐसा क्यों होता है कि कोई पुरुष रागस्वभाव वाला होता है, कोई द्वेष स्वभाव वाला और कोई मोहस्वभाव वाला। सांख्यदर्शन में प्रथम दो का कारण रजोगुण और मोह का कारण तमोगुण माना गया है। शेष तीन चर्याएँ सत्वगुण का विकास करने पर प्राप्त होती हैं। बौद्धधर्म में गुणों की इस न्यूनाधिकता को धातु-दोष कहा गया है। जिसका कारण पूर्वजन्म एवं वर्तमान जन्म का रहन-सहन है। पूर्वजन्म में शुभकर्म करने वाला तथा जो व्यक्ति स्वर्ग से च्युत होता हैं, वह रागचरित होता है। पूर्वजन्म में बध, वन्धन, छेदन आदि क्रूर कर्म करने वाला तथा नरक गति से आने वाला द्वेष चरित। पूर्व जन्म मे मद्यपान करने वाला जड़मति तथा पशुयोनि से आने वाला मोहचरित। मोहचरित में पृथ्वी तथा जलतत्व की अधिकता रहती है। द्वेष-चरित में अग्नि और वायु की। रागचरित में चारों तत्व समान रूप से रहते हैं।

'उस्सद कित्तन' नामक अठ्ठकथा में चर्या के कारणों का नीचे लिखा वर्णन हैं। वहाँ लोभ, द्वेष तथा मोह की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर छः भेद किए गए हैं। जिस व्यक्ति में लोभ तीव्र होता है और द्वेष तथा मोह मंद, वह अनुरागी तथा प्रज्ञावान होता है। उसमें द्वेष-वृत्ति नहीं रहती। जिसके लोभ और द्वेष तीव्र होते हैं और मोह मंद, वह लोभी, द्वेषी, किन्तु प्रज्ञावान होता है। जिसके लोभ और मोह तीव्र होते हैं और द्वेष मंद वह सुखानुरागी, मंदबुद्धि, एवं क्षमाशील। जिसके तीनों वलवान होते हैं वह लोभी, मूर्ख और द्वेषी। जिसके लोभ मंद होता है, द्वेष और मोह तीव्र, वह सन्तोषी होने के साथ क्रोधी और मूर्ख। जिसके मोह बलवान होता हैं, शेष दो मंद, वह मंद बुद्धि, क्षमाशील तथा सन्तोषी। जिसके द्वेष बलवान होता है और शेष दो मंद, वह द्वेषी होने

के साथ सन्तोषी और प्रज्ञावान। जिसके तीनों मंद होते हैं, वह सन्तोषी, क्षमाशील और प्रज्ञावान लोभी की गणना रागचरित में होती है, द्वेषी की द्वेषचरित में तथा मूर्ख या जड़ बुद्धि की मोहचरित में। प्रज्ञावान बुद्धिचरित है। सन्तोषी तथा क्षमाशील की गणना श्रद्धाचरित में की जाती है, क्योंकि वह प्रसन्न चित्त वाला होता है। ध्यान के लिए आलंबन चुनते समय यह जानना आवश्यक है कि प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति किस कोटि में आता है। भिन्न-भिन्न चर्या अर्थात् स्वभावों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अवलम्बनों का विधान हैं।

चर्या का निश्चय करने के लिये साधक के व्यवहार पर ध्यान देना चाहिए। उसकी चाल, उठने-बैठने बोलने आदि का ढंग देखकर स्वभाव का निर्णय किया जाता है। इसके लिए नीचे लिखी पाँच बातें बताई गई हैं—

(१) **ईर्यापथ**—गति या चाल। रागचरित की गति स्वाभाविक होती है। उसमें बनावट या दिखावा नही होता। वह सम्हल-सम्हल कर धीरे-धीरे पैर रखता है। आवेश या उद्विग्नता नहीं रहती। पैर उठाने और धरने मैं सामंजस्य रहता है। ऐसा नहीं होता कि कोई कदम छोटा हो और कोई बड़ा। कहीं पैंर जोर से रखे और कहीं धीरे। उसके तलुवे का मध्य भाग भूमि स्पर्श नहीं करता। द्वेषचरित ऐसे चलता है, जैसे भूमि को खोद रहा हो। पैर को झटका देकर उठाता और रखता है। प्रतीत होता है जैसे पीछे की ओर सरक रहा हो। मोहचरित की गति व्याकुल होती हैं, वह डरता हुआ सा पैंर रखता और उठाता है। चलते-चलते अचानक कभी पंजे और कभी एडी के बल पर रुक जाता है। उठते-बैठते समय रागचरित की आकृति प्रसन्न तथा मधुर होती है। द्वेषचरित की अहंकारपूर्ण और मोहचरित की अस्तव्यस्त तथा व्याकुल। रागचरित अपना बिस्तर शांति के साथ बिछाता है और बिना हड़बड़ाहट के लेटता है। सोते समय हाथ-पैर नहीं मारता। मुख पर प्रसन्नता

रहती है। जगाने पर चौंक कर नहीं उठता, प्रेमपूर्ण उत्तर देता है, जैसे पहले से ही पता हो कि कोई जगाने आएगा। द्वेषचरित बिस्तर बिछाने में शीघ्रता करता है। इस बात पर ध्यान नहीं देता कि ठीक बिछा है, या नहीं। सोते समय हाथ-पैर मारता रहता है, भौंहें चढ़ी रहती हैं। आकृति पर क्रोध छाया रहता है। हाथ-पैर फैला कर सोता है। मुँह नीचे की ओर रखता है। जगाने पर 'हूँ' अर्थात् ऐसा उत्तर देता है, जिससे पता नहीं चलता कि वह जाग गया या नींद में है। नींद खुलने पर भी धीरे-धीरे उठता है। श्रद्धाचरित का व्यवहार रागचरित के समान होता है। बुद्धिचरित का द्वेषचरित के समान और वितर्कचरित का मोहचरित के समान।

(२) **कार्य-पद्धति**—विभिन्न स्वभाव वालों के काम करने का ढंग भी अलग-अलग होता है। उदाहरण के रूप में रागचरित झाड़ू लगाते समय उसे अच्छी तरह पकड़ता है। हड़बड़ाहट के बिना अच्छी तरह लगाता है। सभी स्थानों की समान रूप से सफाई करता है। द्वेषचरित झाड़ू को कस कर पकड़ता है, जमीन पर जोर-जोर से मारता है, जिससे सफाई नहीं होती। मोहचरित झाड़ू को ढीले हाथों से पकड़ता है, कभी इधर लगाता है, कभी उधर। बीच में कचरा छूट जाता है। अन्य क्रियाओं की भी यही बात है। रागचरित प्रत्येक कार्य कुशलता, सुन्दरता तथा सफाई के साथ करता है। उसे काम करने में आनन्द आता है। द्वेषचरित अहंकार तथा जड़ता लिए रहता है। मोहचरित अव्यवस्थित तथा घबराता सा रहता है।

(३) **भोजन**—भगवद्गीता में सात्विक, राजस तथा तामस प्रकृति वालों के भोजन का वर्णन है। बौद्धधर्म में भी वैसा ही है। रागचरित को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है। धीरे-धीरे स्वाद लेते हुए खाता है। स्वादिष्ट भोजन से प्रसन्न होता है। द्वेषचरित को रूखा तथा खट्टा भोजन प्रिय होता है। मोहचरित भोजन में भी अनियमित तथा

अव्यवस्थित होता है कभी कुछ खाता है और कभी कुछ। उसकी रुचि का पता नहीं चलता।

(४) **आकर्षण**—रागचरित सुन्दर वस्तु देखकर आकृष्ट हो जाता है। गुणों की मात्रा अल्प होने पर भी दूसरे की ओर झुक जाता है। उसके दोषों की ओर ध्यान नहीं देता। चाहता है, मनोरम रूप को देखता ही रहे। द्वेषचरित का ध्यान कुरूपता की ओर जाता है। सामने खड़े व्यक्ति या वस्तु में तनिक भी भद्दापन होने पर उसका ध्यान वहाँ चला जायगा। मन में घृणा उत्पन्न होने लगेगी। दोष उसकी दृष्टि से नहीं बच पाता। इसके विपरीत गुण यथार्थ होने पर भी छूट जाते हैं। मोहचरित अपने आप किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता। न आकृष्ट होता है और न दूर हटता है। उसका अपना कोई निर्णय नहीं होता। दूसरे को निन्दा करते देख कर निन्दा करने लगता है। और प्रशंसा सुनकर प्रशंसा करने लगता है।

(५) **व्यवहार**—रागचरित में माया, शाठ्य, मान, पापेच्छा, असंतोष, चपलता, लोभ तथा रसिकता की अधिकता रहती है। द्वेष चरित में क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य दंभ आदि की। मोहचरित में विचिकित्सा अर्थात संदेह शीलता, आलस्य, विक्षेप, चित्त की अकर्मण्यता। पश्चाताप दुराग्रह, हठाग्रह आदि की। श्रद्धा चरित में आशक्ति नहीं होती। वह सत्संग व धर्मश्रवण के लिए उत्सुक रहता है। प्रीति अर्थात् दूसरे से प्रेम उसका स्वभाव होता है। दुष्टता और कपटाचार से दूर रहता है। बुद्धि चरित मीठा बोलता है, आहार अल्प होता है और दूसरों का भला चाहता हैं। शास्त्रीय उपदेशों तथा पूर्वानुभवों को स्मरण में रखता हैं, सदा जाग्रत रहता है संसार का दुख देखकर मन में खेद का अनुभव करता है और उसे दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहता हैं। वितर्क चरित कुशल की ओर प्रवृत्त नहीं होता। उसका चित्त अव्यवस्थित होता है। बहुत बोलता हैं और सामाजिक जीवन पसन्द करता हैं।

एक आलम्बन में स्थिर नहीं रहता। कभी किसी बात को पकड़ता है और कभी किसी को। बहुत से व्यक्तियों में दो चर्याओं का सम्मिश्रण भी रहता है। कभी एक का उभार रहता है और कभी दूसरी का।

प्रकृति के तीन गुणों की दृष्टि से इन चर्याओं की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की जा सकती है। मोहचरित में तमोगुण की प्रधानता रहती है, रजोगुण की दो वृत्तियाँ हैं—राग और द्वेष। रागचरित और द्वेषचरित में क्रमशः उसकी प्रधानता रहती है। जब सत्त्व का विकास होता है तो मोहचरित वित्तर्कचरित में परिवर्तित हो जाता हैं। रागचरित श्रद्धाचरित में और द्वेषचरित बुद्धिचरित में, तन्त्रसाहित्य में इन गुणों के सम्मिश्रण के आधार पर स्वभाव भेद बताया गया है। सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति सत्य की खोज में लगा रहता है। रजोगुण का सम्मिश्रण होने पर वही समाज कल्याण की ओर झुक जाता है। नेताओं में इन्ही दो गुणों का सम्मिश्रण होता है। रजोगुणी प्रवृतिशील होता है। तमोगुण का सम्मिश्रण होने पर उसकी प्रकृति हिंसात्मक हो जाती है। ऐसा व्यक्ति डाकू या हत्यारा बन जाता है। व्यापारी में रजोगुण की मुख्यता रहती है। तमोगुण का सम्मिश्रण होने पर वह शोषण की ओर झुक जाता है। और सत्त्वगुण का प्रभाव होने पर ऐसा व्यापार करता है जिससे वैयक्तिक लाभ के साथ जनहित भी होता रहे। उदाहरण के रूप में वह उद्योगों की स्थापना करेगा। कलाकारों एवं वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन देगा तथा लोक-कल्याण के कार्य करके धन संचय करेगा।

तंत्रसाधना में स्वभाव भेद का वर्णन तीन भावों के रूप में आया है।

(१) पशुभाव—ऐसे व्यक्ति में तमोगुण की अधिकता होती है। उसकी तुलना मोहचरित के साथ हो सकती हैं।

(२) वीरभाव—इसमें रजोगुण की अधिकता होती हैं। उसका किसी के प्रति राग होता है और किसी के प्रति द्वेष। इनकी तुलना क्रमशः रागचरित और द्वेषचरित के साथ की जा सकती हैं।

(३) ब्रह्मभाव—इसमें सत्त्व की प्रधानता होती है। जहाँ राग श्रद्धा के रूप म परिणत हो जाता हैं। द्वेष वैराग्य के रूप में। और अज्ञान का स्थान वितर्क ले लेता है। इन भावों के मिश्रण से अधिकारियों के और भी अनेक भेद होगए हैं।

भागवत में आया है कि एक ही परमात्मा को विभिन्न अधिकारी भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। दार्शनिक सत्य की खोज करता है। दार्शनिक में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। वह परमात्मा को शुद्ध ब्रह्म के रूप में देखता है जो समस्त विश्व का अधिष्ठान है। कर्मयोगी उसे परमात्मा अर्थात् सर्वशक्तिमान् महासत्ता के रूप में देखता है। उसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। भक्त विविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न भगवान के रूप में देखता है। उसमें तमोगुण की प्रधानता होती है।

सत्यं तत्त्वविदः प्राहु तत्त्वं वदिदमव्ययम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

तत्ववेत्ता जिस सत्य का प्रतिपादन अव्यय तत्त्व के रूप में करते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है।

## ध्यान के आलम्बन

आलम्बन का अर्थ है वह वस्तु जिसका सहारा लेकर मन को एकाग्र किया जाता है। ये दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर और बाह्य।

शरीर, प्राण, मन, आत्मा आदि आभ्यन्तर आलम्बन हैं। हमारे शरीर में छः चक्र है। गुदा और लिङ्ग के बीच के सीवन के ऊपर मूलाधर चक्र है। लिंग के ऊपर स्वाधिष्ठान। नाभि में मणिपूर। हृदय में अनाहत कंठ में विशुद्धि और भौहों के बीच आज्ञा। मस्तक में सहस्रारदल कमल है। साधक अपनी अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार इनमें से किसी केन्द्र पर मन एकाग्र करता है।

पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक तक शरीर के विविध अंगों पर भी

मन को एकाग्र किया जाता है। इसे धारणा कहते हैं। विविध अंगों अथवा समस्त शरीर में देवता के आरोप को न्यास कहा जाता है। श्वासोच्छ्वास एवं हृदय की गति पर भी मन को एकाग्र किया जाता है।

उपनिषदों मे आत्मा को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप बताया गया है— अर्थात् वह शक्ति, ज्ञान और सुख का मूल स्रोत है। इन गुणों को लेकर उसके अलग-अलग ध्यान भी किए जाते है। सच्चिदानन्द के रूप में तीनों का सामूहिक ध्यान भी किया जाता है। इसके लिए साधक एकाँत में बैठकर आत्मा पर मन को एकाग्र करता है और यह सोचता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ। जो अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त सुख-रूप है।

जैनधर्म में आत्मा को अनन्त चतुष्टय रूप माना गया है—अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य। बाह्य विकारों ने आत्मा के इस स्वरूप को दबा रखा है। साधक इस शुद्ध रूप का चिंतन करता है और दुर्बलताओं एवं मलिनताओं से उपर उठता जाता है।

## बाह्य आलंबन

बाह्य आलंबनों के भी कई रूप हैं—

(१) **तारा मंडल**—रात्रि के समय सप्तऋषि या अन्य किसी ग्रह मंडल पर ध्यान जमाना।

(२) **चंद्र मंडल**—चंद्रमा पर ध्यान जमाना।

(३) **सूर्य मंडल**—अरुणोदय तथा सूर्यास्त के समय सूर्य पर दृष्टि स्थिर करना।

(४) **प्रतिबिंब**—पानी में परछाँई का ध्यान करना।

(५) **दर्पण**—दर्पण में प्रतिबिंबित प्रदीप की परछाँई का ध्यान करना।

(६) **कसिण**—बौद्ध साधना में पृथ्वी, जल आदि के घेरे बनाकर उन पर ध्यान जमाने का वर्णन है। इन्हें 'कसिण' कहा जाता है, जिनकी संख्या दस है।

(७) **चित्रों का ध्यान**—शिव, विष्णु, दुर्गा, आदि देवी-देवताओं के चित्रों पर ध्यान जमाना। इन्हीं को मूर्तियाँ भी प्रचलित हैं।

(८) **प्रतीक**—भारतीय साधना में विविध शक्तियों के प्रतीकों का विस्तृत वर्णन है। उन पर भी मन को एकाग्र किया जाता है।

(९) **मंत्र**—मंत्र का अर्थ है कुछ अक्षरों या पदों का समूह। ये सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के होते हैं। सार्थक मत्र देवता के गुणों को प्रकट करते हैं और निरर्थक उनके संकेत मात्र होते हैं। ध्यान में मत्रों का जप किया जाता है और साथ ही उनके अर्थ या संबद्ध देवता का चिंतन।

(१०) **यन्त्र**—इसके लिए त्रिकोण या अन्य प्रकार के आकार बनाये जाते हैं। उन पर देवी-देवताओं, विविध शक्तियों या विश्व के स्वरूप का आरोप किया जाता है।

यन्त्र शब्द का साधारण अर्थ है—उपकरण अथवा साधन। किन्तु साधना में इसका अर्थ है मन को अपने लक्ष्य पर स्थिर करने का उपाय। मूर्त्ति और प्रतीक को केवल अवलम्बन के लिए अपनाया जाता है, (यन्त्र दोनों काम करता है।) वह ध्यान का आलम्बन होता है और साधन भी। यन्त्र दो प्रकार के होते हैं। (१) कागज, पत्ता, वस्त्र, आदि पर लिखे हुए तथा (२) धातु, पत्थर आदि पर खुदे हुए। यन्त्र-शास्त्र की पुस्तकों में और भी अनेक प्रकार बताए गए हैं, कोई यन्त्र चीते या गधे, की खाल पर अंकित किया जाता है, और कोई मनुष्य की हड्डी पर। विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न आकार के यन्त्र उपयोग में लाए जाते हैं।

(११) **मण्डल**—मण्डल भी एक प्रकार का रेखाचित्र होता है। जिसे भूमि पर बनाया जाता है। यन्त्र विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न आकार का होता है और मण्डल सबके लिए एक-सा। यही दोनों में मुख्य अन्तर है।

एक देवता के लिए भी विभिन्न लक्ष्यों को लेकर अनेक यन्त्रों का उपयोग होता है। तन्त्र-शास्त्र की पुस्तकों के मुख पृष्ठ पर प्रायः श्री यन्त्र अंकित होता है। धातु और पत्थर पर बने यन्त्रों में देवता का चित्र नहीं होता। किन्तु कागज पर बने यन्त्रों में देवता, शक्ति, आवरण आदि बहुत सी बातें रहती हैं। सभी यन्त्रों के चारों ओर एक चतुष्कोण रेखा होती है जिसे भूपुर कहा जाता है जो रेखा यन्त्र को शेष जगत् से पृथक करती है।

अगले खण्डों में ध्यान के इन आलंबनों और प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया जाएगा।

पुस्तक को निम्नलिखित छः खंडों में विभक्त किया गया है—

१. **स्वास्थ्यवर्धक ध्यान**—इसमें परमात्मा के उन ध्यानों का निरूपण है जो जीवन में उल्लास और शक्ति प्रदान करते हैं। उन्हें सामूहिक रूप में भी किया जा सकता है।

(२) **पदस्थ ध्यान**—इसमें ॐ आदि पदों के ध्यान का निरूपण है।

(३) **पिंडस्थ ध्यान**—पिंड का अर्थ है शरीर। शरीर के विविध अंगों में देवी शक्तियों का आरोप करके उनका ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। इससे शरीर में शक्ति और स्फूर्ति का संचार होता है, रोग मिटते हैं।

(४) **रुपस्थ ध्यान**—मूर्त्तियों तथा चित्रों में परमात्मा का ध्यान। प्रतीक और यन्त्र भी इसी में आ जाते हैं।

(५) **रूपातीत**—निराकार का ध्यान।

(६) **भावनाएं**—जीवन में शक्ति एवं स्फूर्ति लाने के लिए आत्मचिंतन।

पुस्तक के द्वितीय खंड में योग की विविध पद्धतियों का निरूपण किया गया है। वे विभिन्न अधिकारियों को लेकर चली हैं। साधक अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार चुनाव कर सकता है। पुस्तक के अन्त में कुछ प्रार्थनाएँ भी जोड़ दी गई हैं जो मन में स्फूर्ति लाती है।

द्वितीय अध्याय

# शक्तिवर्धक ध्यान

यदेव विद्या करोति श्रद्धयोपानिषदा
तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।। — गीता

—जो कार्य ज्ञानपूर्वक, श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ किया जाता है, वही शक्तिशाली होता है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। —गीता

—जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु में मुझे देखता है और प्रत्येक वस्तु को मुझमें देखता है, मैं उससे ओझल नहीं होता और वह मुझसे ओझल नहीं होता ।

## शक्तिवर्धक ध्यान

प्रस्तुत अध्याय में ऐसे ध्यानों का निरूपण किया जाएगा, जो जीवन को शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करते हैं । दुर्बलता, निराशा, उदासी आदि संकुचित वृत्तियों को दूर करते हैं और मन में उत्साह भरते हैं । इन ध्यानों का अभ्यास करते समय साधक अपनी संकुचित सत्ता को भूलकर परमात्मा की विराट् सत्ता में लीन हो जाता है । अपने अन्दर उसके बल, ज्ञान और आनन्द की अनुभूति करता है । वास्तविक लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि ध्यान में प्रतिपादित प्रत्येक शब्द को समझ कर मन में उतारने का प्रयत्न किया जाय । निरन्तर अभ्यास करने पर संस्कार उत्तरोत्तर दृढ़ होते जाएँगे और अचानक परिवर्तन दिखाई देगा ।

दुर्बलता के स्थान पर शक्ति की वृद्धि होगी, अन्धकार के स्थान पर प्रकाश फैलता जाएगा। उदासी दूर होगी और जीवन आनन्द से भर जायेगा।

## सार्वभौम सत्ता

महाकवि कालिदास ने अपने कुमारसंभव में सार्वभौम सत्ता के रूप में ईश्वर का चित्रण किया है। उसका ध्यान करने से विश्व के कण-कण में परमात्मा की अनुभूति होने लगती है। प्रत्येक हलचल में उसकी हलचल मालूम पड़ती है। साधक का उस महासत्ता के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। वह उसकी शक्ति को अपनी शक्ति समझने लगता है उसके ज्ञान को अपना ज्ञान और उसके सुख को अपना सुख। ध्यान में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है दुर्बलताएँ और दुःख दूर होते जाते हैं। अज्ञान का अन्धकार मिटता चला जाता है और परमात्मा की ज्योति चमकने लगती है।

इस ध्यान में नीचे लिखे अनुसार चिंतन करना चाहिए—"परमात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त है। प्रत्येक तत्त्व उसके गुणों को प्रकट करता है। आकाश में उसका विस्तार है, वायु में वेग, अग्नि में उष्णता, पानी में शीतलता और पृथ्वी में धारणशक्ति। वही सूरज बन कर समस्त विश्व को प्रकाश देता है। वही चन्द्र बन कर अमृत की वृष्टि करता है। वही तारों के रूप में टिमटिमाता है।

फूलों में उसकी सुगन्ध है, फलों में उसका रस और पंखुड़ियों में उसका सौन्दर्य। पक्षियों के कलरव में उसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। वही भ्रमर के रूप में गुञ्जन करता है और कोयल के रूप में कलरव। वही मयूर के पंखों में चित्रित है। वही इन्द्रधनुष बन कर सौन्दर्य बिखेरता है। वही बिजली बन कर आँखमिचौनी करता है। समुद्र और बादलों में उसी का गर्जन है। नदियों में उसी का वेग, वही योगी की ध्यान शक्ति है। तपस्वी का तपोबल, सन्त का त्याग, ज्ञानी की बुद्धि,

कवि की भावना, कलाकर की अनुभूति, योद्धा का उत्साह, भक्त का समर्पण और प्रेमी का प्रेम। वही नारी का सौन्दर्य है और शिशु की मृदु मुस्कान। विश्व की समस्त अनुभूतियों में उसी की अनुभूति है। समस्त हृदयों में उसी का स्पन्दन।"

"बादल का पानी सर्वत्र एक सा होता है, किन्तु पृथ्वी पर आकर अनेक रूप ले लेता है। फूलों में सुगन्ध बन जाता है और फलों में रस। वही हिमालय के शिखर पर श्वेत हिम के रूप में चमकता है, नदी के रूप में बहने लगता है और सरोवरों में संचित होकर कमलों को विकसित करता है। इसी प्रकार एक ही ईश्वरीय शक्ति विविध स्थानों और व्यक्तियों में जाकर विविध रूप ले लेती है। योगी उसी महाशक्ति को अपने हृदय में ध्यान द्वारा देखना चाहते हैं। जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष एक ही तत्त्व की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। उसी को उपादान कारण के रूप में प्रकृति कहा जाता है और निमित्त कारण के रूप में पुरुष।

"भगवन ! तुम पानी के समान द्रव हो और पत्थर के समान ठोस। स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म। हल्के से हल्के और भारी से भारी। सर्वत्र प्रकट हो और अप्रकट भी। विश्व की समस्त विभूतियाँ तुम्हारी ही अभिव्यक्तियाँ है। तुम्हारी उस इच्छा पर कोई नियन्त्रण नहीं है। तुम पितरों के भी पिता हो, देवों के भी देवता, विधाताओं के भी विधाता और पर से भी परे। देव, पितर, ब्रह्मा आदि सबके पूर्वज हो। काल की मर्यादा से परे हो, तुम्हारी न कहीं आदि है और न अन्त।

तुम्हीं हव्य अर्थात् हवन की सामग्री हो और तुम्हीं होता अर्थात् हवन करने वाले। तुम्हीं भोक्ता और तुम्हीं भोग्य, तुम्हीं वेत्ता और तुम्हीं वैद्य, तुम्हीं ध्याता और तुम्हीं ध्येय। तुम्हीं साधन हो और तुम्हीं साध्य। तुम समस्त जगत् के मूल कारण हो किन्तु तुम्हारा कोई कारण नहीं है। तुम जगत् के अन्त हो किन्तु तुम्हारा कोई अन्त नहीं है।

तुम जगत की आदि हो किन्तु तुम्हारी कोई आदि नहीं। तुम जगत के शासक हो किन्तु तुम्हारा कोई शासक नहीं है। तुमने समस्त विश्व को नाप लिया है, किन्तु स्वयं अपरिमेय हो। समस्त विश्व की कामनाएँ पूर्ण करते हो किन्तु स्वय कुछ नहीं चाहते। तुम सर्वविजयी हो, तुम्हें कोई नहीं जीत सकता। स्वय अव्यक्त होने पर भी समस्त जगत की अभिव्यक्ति करते हो। हृदय में विराजमान हो, फिर भी दूर हो। निरीह हो, फिर भी तपस्या करते हो। भक्तवत्सल होने पर भी राग द्वेष से परे हो, अनादि होने पर भी सदा नवीन हो।

तुम सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानते हो किन्तु स्वयं अज्ञेय हो। सबके उत्पादक हो, किन्तु तुम्हारा कोई उत्पादक नहीं है। सबके स्वामी हो किन्तु तुम्हारा कोई स्वामी नहीं। एक होने पर भी अनेक हो। जन्म धारण करने पर भी अजन्मा हो। शत्रुओं का नाश करते हो फिर भी वीतराग हो। सदा जाग्रत होने पर भी सुप्त हो। तुम्हारी वास्तविकता कौन जान सकता है ? ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो तुम्हें प्राप्त न हो. फिर भी कर्म में लगे रहते हो। लोकानुग्रह ही तुम्हारी प्रवृत्तियों का एकमात्र उद्देश्य है।

जिस प्रकार समुद्र के रत्न और सूर्य की किरणें गिनी नहीं जा सकतीं उसी प्रकार तुम्हारे गुणों को कौन गिन सकता है। तुम्हारी लीलाओं का वर्णन नहीं हो सकता। विश्व का अतीत, वर्तमान और भविष्य तुम्हारे तीन पद हैं। अपने ज्ञाननेत्र से तीनों को देखते हो।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ; उन्हें आलोकित करने वाला ज्ञान, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि के रूप में विभक्त चार युग और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में विभक्त चार वर्ण तुम्हारे ही चार मुखों से प्रकट हुए हैं।

## स्थितप्रज्ञ

भगवद्गीत में स्थितप्रज्ञ का स्वरूप बताया गया है। उसका ध्यान करने से मन में दृढ़ता आती है। काम, क्रोध, राग, द्वेष, लोभ आदि विकार शान्त होते हैं। चित्त स्थिर और निर्मल बनता है। आत्मज्योति प्रकट होती हैं। ध्यान में नीचे लिखी बातों का चिंतन होना चाहिए—

"जब समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, मन में किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नहीं होती, मनुष्य अपने आप में तल्लीन रहने लगता है। तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुख तथा कष्टों में उसे घबराहट नहीं होती सुखों के लिये तृष्णा या बेचैनी नहीं होती। न किसी के प्रति राग होता है, न किसी से भय और न किसी पर क्रोध। प्रिय तथा अप्रिय, अनुकूल तथा प्रतिकूल, शुभ तथा अशुभ किसी के प्रति लगाव नहीं होता। वह न प्रिय का अभिनन्दन करता हैं और न किसी अप्रिय से घृणा। जिस प्रकार कछुआ समस्त अंगों को समेट लेता है, इसी प्रकार जो मनुष्य समस्त इंद्रियों को समेट लेता है, उन्हें बाह्य विषयों की और नहीं जाने देता, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। मनुष्य जब निराहर रहता है, मन बाह्य विषयों की ओर नहीं दोड़ता, किंतु उनके प्रति आसक्ति बनी रहती है। आत्मा का दर्शन होने पर वह भी नही रहती। समझदार व्यक्ति इंद्रियों को वश में रखने का प्रयत्न करता है। फिर भी वे मन को बलपूर्वक खींचती रहती हैं। उन सबको नियंत्रित करके मन को परमात्मा के ध्यान में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस व्यक्ति की इंद्रियाँ वश में है, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। जो मनुष्य बाह्य विषयों का ध्यान करता है, उसकी उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन्हें प्राप्त करने की इच्छा होती हैं। जब इच्छा पूर्ण नहीं होती तो क्रोध आता है। क्रोध आने पर विवेक नष्ट हो जाता है। भले-बुरे का विचार नहीं रहता। विवेक नष्ट होने पर पिछले अनुभव विस्मृत हो जाते हैं और ज्ञान पर परदा पड़ जाता है। फलस्वरूप बुद्धि चली जाती है। हित और अहित, कर्त्तव्य

और अकर्त्तव्य का भान नहीं रहता। यह भान समाप्त होने पर व्यक्ति सब कुछ खोकर दुःख तथा संकटों से घिर जाता है। यही विनाश का मार्ग है।

जो व्यक्ति राग और द्वेष से दूर रहता है, बाह्य विषयों को जानने, देखने और काम में लाने पर भी उनमें आसक्त नहीं होता, इंद्रियों तथा मन को वश में रखता है, उसकी आत्मा प्रसन्न तथा निर्मल रहती है। आत्मा के प्रसन्न होने पर सभी दुःख मिट जाते हैं। क्योंकि जिसका चित्त निर्मल है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

दूसरी ओर जिस व्यक्ति का मन वश में नहीं है, उसमें बुद्धि अर्थात् भले बुरे का विवेक नहीं रहता। बुद्धि कुछ कहती है, किंतु मन नहीं सुनता। विचार और इच्छाओं में संघर्ष चलता रहता है। फलस्वरूप व्यक्ति दुर्बल और अशांत हो जाता है। ऐसी स्थिति में सुख की आशा नहीं की जा सकती। जब मन इंद्रियों के पीछे चलने लगता है तो बुद्धि को भी उस ओर खींच ले जाता है। जिस प्रकार आंधी नाव को जबर्दस्ती खींच ले जाती है और फलस्वरूप वह चट्टान से टकराकर छिन्नभिन्न हो जाती है। उसी प्रकार मन बुद्धि को गलत रास्ते पर ले चलता है और वह विषम परिस्थितियों से टकराकर छिन्नभिन्न हो जाता है।

इसलिए जिसकी इंद्रियाँ वश में हैं, बाह्य विषयों की ओर नही दौड़तीं—उसी की बुद्धि स्थिर होती।

साधारण प्राणियों का मन बाहर की ओर दौड़ता रहता है, आत्मा की ओर नहीं जाता। वह उनके लिए रात है। किंतु संयमी का मन वहीं विचरण करता हैं। साधारण प्राणियों के लिए जो दिन है, संयमी के लिए वह रात है और साधारण प्राणियों के लिए जो रात है, वह संयमी के लिए दिन है।

समुद्र में नदियाँ गिरती रहती हैं। निरंतर भरा जाने पर भी वह

अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार जिसकी इच्छाएँ आत्मा को अपना लक्ष्य बना लेती हैं, वही शांति प्राप्त करता हैं। मर्यादा छोड़ कर इच्छाओं के पीछे दौड़ने वाला नहीं।

जो व्यक्ति समस्त कामनाओं को छोड़कर निःस्पृह हो जाता है। न किसी के प्रति ममत्व रखता है और न अहंकार को प्रश्रय देता है, वही शांति प्राप्त करता है।

इस प्रकार जब मन बाह्य विषयों को छोड़कर आत्मा में लीन हो जाता है, तो उसे ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है। इसे प्राप्त कर लेने पर समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और मरने पर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है। जीवात्मा परमात्मा में मिल जाता है।

### महानर्तकी

इस ध्यान में साधक भगवान की कल्पना नर्तकी के रूप में करता है। विश्व की समस्त हलचल को उसका अभिनय मानता है। किंतु भय-भीत नहीं होता। उसे वात्सल्य एवं करुणा से पूर्ण माता के रूप में देखता है। उसके अभिनय से गद्गद् होकर कभी आश्चर्य प्रकट करता है और कभी प्रेमविभोर हो जाता है। इस ध्यान से हृदय में आनंद की लहरें उठने लगती हैं। दिव्य रस की अनुभूति होने लगती है।

साधक नीचे लिखे अनुसार चिंतन करता है—

"विश्व की यह हलचल
किसका नृत्य ?
ये शृंखलाएँ
जो खोलने पर भी नहीं खुलतीं
किसने फैलाई ?
यह महानाटक किसका अभिनय है ?
इसका सूत्रधार कौन है ?

न्याय और वैशेषिक,
सांख्य और योग,
मीमांसा और वेदांत,
सभी दर्शन
किसकी व्याख्या में लगे हैं ?
सृष्टि का क्या रहस्य है ?
इसे किसने रचा ?
कैसे रचा ?
क्यों रचा ?
किसी के पास इसका उत्तर नहीं है ?

एक अन्धा दूसरे अन्धे का
हाथ पकड़कर
चल रहा है
किंतु
मार्ग का पता
किसी को नहीं है
न नेता को
और
न अनुयायी को।

दर्शन परस्पर
खंडन में लगे हैं।
दूसरे को मिथ्या कहकर
निजी अहंकार का
पोषण कर रहे हैं
आपस में टकराते हैं

गर्जना करते हैं।
किंतु
सभी सत्य से दूर हैं।
एकांत और मतभेद ही
उनके विनाश का
कारण है।
वे जीवन से
अलग होकर
मृत्यु की
उपासना कर रहे हैं।

माँ,
यह विश्व तेरा नृत्य है,
जो अनादि काल से चल रहा है,
और अनंत काल तक चलता रहेगा
माया तेरा वीणा है,
जिसे तू अनादि काल से बजा रही है।
हम
उस पर
पागल के समान
नाच रहे हैं।
विश्व
जादूगर का तमासा है।
कल्पना के भूत
मिट्टी के घरौंदे बनाकर
खेल रहे हैं।
वे महाकाल को

भूल गए हैं
जिसे
तुम मृत्यु के रूप में
अपना दूत बनाकर
भेजती हो।

पंच भूत
असंख्य भूतों की
सृष्टि करते हैं।
संसार
इन भूतों की क्रीड़ा है।

माँ,
तुम नचाती हो
और
सारा विश्व
नाचता है
पूछता हूँ—
तुम्हें इससे
क्या मिलता है ?
क्यों सबको
नचा रही हो ?
वास्तव में
तुम अपने ही मंत्र से
मुग्ध होकर
स्वयं नाच रही हो।
विचार करने पर

ज्ञात होता है
सब एक हैं।
यह भी संभव है
कि
मैं तुमसे भिन्न हूँ।
अभेद मानने पर
मैं
तुझसे पृथक् नहीं हूँ
भेद मानने पर
तुम्हारा ही अंश या रूप हूँ।

सारा विश्व नश्वर है।
यही परम सत्य है।
फिर भी जीव
बन्धन में क्यों है ?
संसार की ज्वाला
अन्दर ही अन्दर
जला रही है
जीव दुःखी क्यों है ?

पागल जब नाचता है,
मन में कोई स्वार्थ नहीं होता
इसी प्रकार नाचना
तुम्हारा स्वभाव है।
इस नृत्य की न आदि है, न अन्त।
महाकाल के
वक्ष पर

तुम्हारा सतत नृत्य
चल रहा है
वही विश्व की
हलचल है ।
उसी के वशीभूत होकर
समस्त जीव
महाकाल के गर्भ में
नाच रहे है ।

ब्रह्ममयी,
तुम कोई भी हो
तुम्हीं ब्रह्मांड की जननी हो ।
मैं और तू
सबका आधार
एक मात्र तुम्हीं हो
तुम्हारे बिना सब दृष्टिहीन हैं ।

हे महानर्तकी,
तेरा नृत्य
समस्त हृदयों में
स्पंदन भर रहा है
उसके रुकते ही
जीव का अस्तित्त्व
समाप्त हो जाता है ।

माँ,
यह सब
अपने-अपने

कर्मों का फल है,
सभी तुम्हारी इच्छा के
अधीन हैं।
तुम्हारे मन में
सृष्टि,
स्थिति,
तथा संहार की
कामनाएँ उठती रहती हैं।
मुझमें कुछ नहीं है
जिसे 'मैं' कहूँ।
तुम्ही सबको उत्पन्न करती हो
और समेट लेती हो।
केवल तुम्हारा वात्सल्य
शेष रहता है।
जीव-शक्ति के
रूप में
तुम निरन्तर जीवों को
नचा रही हो।
कभी हँसाती हो, और कभी रुलाती हो
यह तुम्हारा स्वभाव है,
हम म्हारे संकेत पर नाचते हैं,
हँसते हैं और रोते हैं।
इसमें बुराई क्या है ?
तुम सबका
मूल कारण हो।

मुझे यह ज्ञान है,
फिर भी प्रार्थना करता हूँ—
मेरे कष्टों को दूर करो।

**विराट्**

भगवान् ने अर्जुन के सामने अपने विराट रूप को प्रकट किया था। उसका वर्णन भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में आया है—उसका ध्यान मनुष्य के सामने भगवान् की विराट् सत्ता को प्रकट करता है।

**अर्जुन ने कहा—**

"हे भगवन् ! मुझ पर कृपा करके आपने अध्यात्म का रहस्य बताया, आपकी वाणी ने मेरे मोह को दूर कर दिया। प्राणियों की सृष्टि किस प्रकार होती है और प्रलय कैसे होता है, ये सारी बातें मैंने सुनीं। साथ ही आपके माहात्म्य को भी सुना जो शाश्वत और सर्वातिशायी है। हे पुरुषोत्तम, आपने अपने रूप का जो वर्णन किया है, उसे देखना चाहता हूँ। आपके अद्भुत ऐश्वर्य का साक्षात्कार करना चाहता हूँ। योगेश्वर, यदि समझते हो कि मैं उस रूप को देख सकता हूँ तो कृपा कीजिए ओर अपने उस विराट् रूप को दिखाइये।"

**भगवान ने उत्तर दिया—**

"पार्थ ! मेरे अद्भुत रूपों को देखो। उनमें अगणित रंग हैं और अगणित आकृतियाँ। आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी तथा मरुत् सभी देवताओं का दर्शन करो। ऐसे आश्चर्यों को देखो जिन्हें पहले कभी नहीं देखा। चर और अचर समस्त विश्व का एक ही स्थान पर दर्शन करो और भी जिन वस्तुओं को देखना चाहते हो सभी मेरे अन्दर दृष्टि-गोचर होंगी। किन्तु उस रूप को स्थूलचक्षुओं के द्वारा नहीं देख सकते। अतः दिव्यचक्षु प्रदान करता हूँ। उनके द्वारा मेरे अद्भुत ऐश्वर्य का दर्शन करो।"

यह कहकर भगवान् ने अर्जुन को अपने विराट्रूप का दर्शन कराया।

"उसमें हजारों मुख थे और हजारों आँखें। हजारों अद्भुत दृश्य दिखाई दे रहे थे। अनेक प्रकार के दिव्य आभूषण चमक रहे थे। हाथों में दिव्य शस्त्रास्त्र थे। दिव्य मालाएँ ओर दिव्यवस्त्र पहन रखे थे, शरीर पर दिव्य वस्तुओं का लेप था। अद्भुत सुगन्ध फैल रही थी। सारा रूप आश्चर्यों से भरा था। न कहीं आदि थी और न कहीं अन्त। चारों ओर वही दिखाई दे रहा था। दैदीप्यमान प्रभा चारों ओर फैल रही थी जैसे हजारों सूर्य एक साथ चमक रहे हों।"

**अर्जुन ने देखा—**

भगवान् के शरीर में सारा विश्व समाया हुआ है।
प्रत्येक लोक अपने-अपने स्थान पर अवस्थित है।

अर्जुन विस्मय में पड़ गया। रोमांच होने लगा। हाथ जोड़ कर उसने प्रार्थना की—

भगवन्, तुम्हारे शरीर में समस्त देवों और प्राणियों को देख रहा हूँ। कमलासन पर ब्रह्मा विराजमान हैं, ऋषि समाधि में बैठे हैं और उरग विचरण कर रहे हैं। हजारों भुजाएँ हैं। हजारों उदर, हजारों मुख तथा हजारों आँखें। जिधर दृष्टि डालता हूँ वही दिखाई देता है। विश्वेश्वर, तुम्हारा न कहीं अन्त है, न कहीं मध्य और न कहीं आदि। सिर पर मुकुट है, हाथ में गदा और चक्र। तुम तेज के असीम सागर हो, चारों ओर तुम्हारी ज्योति चमक रही है। धधकती हुई महा ज्वाला हो। मध्याह्न सूर्य के समान तुम्हारे तेज को देखकर आँखें चौंधिया जाती हैं। तुम्हीं परम अक्षर हो, जिसे जानने के लिए ज्ञानी उत्सुक रहते हैं। तुम्हीं वह निधान हो, जिसमें विश्व समाया हुआ है। तुम अव्यय हो, शाश्वत धर्म के रक्षक हो। तुम्हीं वह पुरुष हो जिसकी न आदि है और

न अन्त । तुम्हारी शक्ति का कहीं अन्त नहीं है । अनन्त भुजाएँ हैं, सूर्य और चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं । प्रज्ज्वलित महाज्वालाएँ तुम्हारा मुख है, सारा विश्व तुम्हारे तेज से व्याप्त है । पृथ्वी और आकाश का यह अन्तर और सारी दिशाएँ तुम्हारे तेज से भरी हैं । भगवन् ! तुम्हारे इस उग्र रूप को देखकर विश्व काँप उठा है । देवता तुम्हारे मुख में प्रवेश कर रहे हैं । सिद्ध हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं और ऋषि स्वस्तिवाचन । ग्यारह रुद्र, बारह सूर्य, आठ वसु, साध्य, अश्विनी, मरुत्, पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्ध सभी चकित होकर देख रहे हैं । तुम विराट् हो, तुम्हारे रूपों की कोई सीमा नहीं है । असंख्य मुख हैं, असंख्य नेत्र, लंबी-लम्बी असंख्य भुजाएँ, असंख्य दंष्ट्राएँ जिनके द्वारा विश्व को निगल रहे हो , तुम्हारे इस रूप को देखकर समस्त विश्व स्तब्ध है । आकाश को छू रहे हो, सर्वत्र चमक रहे हो, तुम्हारे अनेक रंग हैं, मुख खुला है जैसे सारे विश्व को निगलना चाहते हो, बड़ी-बड़ी आँखें अग्नि के समान चमक रही हैं जैसे विश्व को भस्म करना चाहती हों । भगवन् , तुम्हारे इस रूप को देखकर हृदय काँप रहा है, धैर्य समाप्त हो रहा है । मन क्षुब्ध है और आत्मा अशांत । विशाल दंष्ट्राओं वाले, प्रलयाग्नि के समान भयंकर तुम्हारे मुखों को देख कर चेतना लुप्त हो गई है, कुछ नहीं सूझता किधर जाऊँ और क्या करूँ ? हे जगत् के आश्रय, हे देवों के देव, कृपा कीजिए । पुनः अपने प्रसन्न रूप को प्रकट कीजिए । जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं, समस्त प्राणी तुम्हारी ओर दौड़ रहे हैं और तुम्हारे मुख में प्रवेश कर रहे हैं । जिस प्रकार पतंगिये दीपशिखा की ओर दौड़ते हैं ; समस्त प्राणी तुम्हारी ओर दौड़ रहे हैं, तुम्हारी महाज्वाला में भस्म होना चाहते हैं । तुम अपने विस्फारित मुखों द्वारा प्राणियों को निगल रहे हो । ये ज्वालाएँ तुम्हारी जिह्वा हैं । सारा विश्व तुम्हारे उग्र तेज से उत्तप्त है । भगवन् , देवाधिदेव कृपा कीजिए, बताइये इस उग्र रूप को धारण करने वाले आप कौन हैं ? हे विश्व के आदि मैं तुम्हें समझना चाहता हूँ । तुम्हारी इस हलचल का क्या रहस्य ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—

"मैं विश्व का संहार करने वाला महाकाल हूँ। अपनी इस रचना को समेटना चाहता हूँ। अर्जुन तुम्हारे कुछ न करने पर भी शत्रु-सेना जीवित नहीं रह सकती। इन योद्धाओं को मैंने पहले ही मृत्यु के मुँह में पहुँचा दिया है। तुम केवल निमित्त बन जाओ और यश प्राप्त करो।"

अर्जुन ने कहा—

"भगवन्! विश्व तुम्हारी स्तुति और कीर्तन से प्रसन्न होता है। हर्ष का अनुभव करता है। राक्षस डरकर इधर-उधर भाग रहे हैं। सिद्धों के गण वन्दन कर रहे हैं। यह सब स्वाभाविक ही है। भगवन्! वे वन्दना क्यों न करें। तुम महान् हो। ब्रह्मा के भी जन्मदाता, अनन्त तथा देवों के भी देव। समस्त विश्व तुम्हारे अन्दर है। तुम्हीं सत् हो, तम्ही असत् और तुम्हीं अक्षर परब्रह्म जो दोनों से परे है। तुम सबके आदि हो, तुम्हीं अन्त, तुम्ही शाश्वत पुरुष और तुम्हीं विश्व का आधार, तुम्ही ज्ञाता हो और तुम्ही ज्ञेय। हे अनन्त रूप, तुम्ही समस्त विश्व को व्याप्त करने वाले परम तेज हो। तुम्ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और ब्रह्मा हो। तुम्हें हजारों नमस्कार, हजारों वन्दन! तुम अनन्त वीर्य हो, चर तथा अचर समस्त जगत् के पिता और पूज्य। गुरुओं के भी गुरु। कोई तुम्हारी बराबरी नही कर सकता। तीनों लोकों में तुम्हारे तेज का कोई समकक्ष नही है। हे परमेश्वर, हे वन्दनीय, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मन, वाणी तथा शरीर को एकाग्र करके तुम्हारी स्तुति करता हूँ। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के और प्रिय अपने प्रिय के अपराधों को क्षमा करता हैं, उसी प्रकार मेरे अपराधों की क्षमा करो। तुम्हारे इस अपूर्व रूप को देख कर रोमांच हो रहा है। भय से शरीर काँप रहा है। भगवन् पुनः उसी सुन्दर रूप का दर्शन कराइये। हे सर्वाश्रय कृपा कीजिए। मैं पुनः आपको उसी रूप में

देखना चाहता हूँ । सिर पर मुकुट हाथों में गदा और चक्र, चार भुजाएँ । हे सहस्रबाहो ! पुनः उसी रूप को अङ्गीकार कीजिए ।"

भगवान् ने कहा—

"अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर योग के द्वारा अपना तेजोरूप प्रकट किया जो समस्त विश्व में व्याप्त है । उसकी न आदि है और न अन्त । उसी से समस्त विश्व प्रारम्भ होता है । मेरा यह रूप वेदाध्ययन, यज्ञ, तप तथा कठोर क्रियाओं द्वारा नहीं देखा जा सकता । इसका एक मात्र उपाय भक्ति है । इस रूप को देखकर तुम्हें भय हो रहा है, उसे दूर कर दो । मैं पुनः अपने पूर्व रूप में आ रहा हूँ ।"

यह कहकर भगवान् ने अपना मधुर रूप ले लिया । वे पुन; शङ्ख, चक्र, गदा तथा मुकुट धारण करके अर्जुन के सामने मुस्कराते हुए प्रकट हुए ।

**परमेश्वर**

परमेश्वर सत्य ज्ञान और आनन्द स्वरूप है । शक्ति और सुख का भंडार है । एक, अद्वितीय, निरञ्जन, निराकार, स्वतन्त्र, अनुपम, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापी है ।········विश्व का कर्ता और प्रतिपालक ।

सृष्टि के पहिले कुछ नहीं केवल ईश्वर था । न दिन था न रात । पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता आदि कुछ नहीं थे । परमेश्वर ने अपनी इच्छा से सबका सृजन किया । वही मूल सत्य है । उसी से सबकी सृष्टि हुई बह प्रत्येक पदार्थ में प्राण रूप से ओतप्रोत है । सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और प्रत्येक घटना का निरीक्षक है । कुछ भी उससे छिपाया नही जा सकता । वह अन्तर्यामी, असीम, अनन्त तथा मन वाणी का अगोचर है । स्वयं ज्योति और स्वयम्भू है । आनन्द शान्ति और अमृत का निर्झर है । मङ्गलमय, पवित्र तथा सर्वत्र व्याप्त है । सदा जागता है और सबको देखता ।

परमात्मा वह अनन्त सत्ता है, जहाँ ज्ञान, सुख और शक्ति की पूर्णता है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा आनन्दस्वरूप है। इसके विपरीत जीव अल्पज्ञ, दुःखी तथा निर्बल है। वह ज्यों-ज्यों परमात्मा की ओर बढ़ता है ज्ञान, सुख और शक्ति की वृद्धि होती जाती है। इसीलिए वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है :—

"हे भगवन् ! मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो।
अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।
मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलो।

असत् का अर्थ दुर्बलता है और सत् का सबलता। अन्धकार अज्ञान का प्रतीक है और प्रकाश ज्ञान का। मृत्यु दुःख का और अमृतत्व सुख का।

परमात्मा का यह रूप हमारे अन्दर छिपा हुआ है। जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु अज्ञान के कारण सर्वशक्तिमान होने पर भी हम अपने को निर्बल समझ रहे हैं। परमसुखी होने पर भी अपने को दुःखी समझ रहे हैं।

छिपे हुए परमात्मा को प्रकट करने के लिये उसका ध्यान करना चाहिए।

## महाज्योति

जीवन को अन्धकार, संदेह तथा निराशा ने घेर रखा है। उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए उस महाज्योति का ध्यान करना चाहिए जो समस्त विश्व को प्रकाश दे रही है। अज्ञान तथा भ्रम को दूर कर रही है। जो बँधनों से मुक्त करती है। वह ज्योति हमारी अन्तरात्मा ही है।

भगवान कहते हैं—

> "जो ज्योति सूरज, चाँद आग में दिखाई देती है, जो सारे विश्व को प्रकाशित करती है वह मेरी ज्योति है।"
>
> —भगवद्गीता।

प्रकाश सत्य का सर्वश्रेष्ठ तथा पूर्ण प्रतीक हैं। विश्व के सभी धर्मों ने किसी न किसी रूप में उसे स्वीकार किया है। प्रदीप वेदी पर अपना कोमल प्रकाश फैलाता है। वह शांत तेज का प्रतीक है। मशाल की ज्वालाएँ ऊपर की ओर उठती हैं, वे संकेत करती हैं कि हमें अन्तर्ज्योति प्रज्वलित रखनो चाहिए और उसका संबंध उस महाज्योति के साथ जोड़ना चाहिए।

किन्तु बाह्य प्रकाश हृदय तथा बुद्धि के अन्धकार को दूर नही कर सकता। उसे ही सबकुछ मानना ठीक नही हैं। वह आंतरिक प्रकाश का प्रतीक है। हमें अपना ध्यान उसी पर केंद्रित करना चाहिए। उसी को देखने का अभ्यास करना चाहिए। वही हमारे जोवन-पथ का सच्चा प्रदीप है। जहाँ वह प्रकाश चमकता है, अज्ञान का अंधकार मिट जाता है। भ्रम की छाया तक नही रहती।

जीवन के कण-कण में उस ज्योति का आह्वान करना चाहिए। उसके द्वारा प्रत्येक कोने को आलोकित करना चाहिए। उसका स्पर्श होते ही प्रत्येक विचार पवित्र हो जायगा। प्रत्येक अनुभूति दैवी बन जायगी। जब तक मन बाहर की ओर भटक रहा है, चंचल है, तब तक उस प्रकाश के दर्शन नही हो सकते। उसका दर्शन करने के लिए निरंतर मन को एकाग्र करना होगा। इसके लिए निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है प्रतिदिन आत्मा की उस दिव्यज्योति का ध्यान करना चाहिए। मन में चिंतन करना चाहिए कि—

"मेरे शरीर के कण-कण में वह ज्योति समाई हुई है।

मेरी बुद्धि में चमक रही हैं।

मेरे हृदय को आलोकित कर रही है।

मेरे हाथ-पैर तथा समस्त इन्द्रियाँ उससे परिपूर्ण हैं।

अन्धकार का अस्तित्व कहीं नहीं है।"

हृदय में इस अनुभूति का निरंतर अभ्यास करना चाहिए। दिन हो या रात, सोते-जागते किसी समय उसे भूलना नहीं चाहिए।

## महाशक्ति

शारीरिक तथा मानसिक निर्बलताओं से छुटकारा पाने के लिए उस महाशक्ति का ध्यान करना चाहिए जो शाश्वत, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, असीम, निर्लिप्त तथा मुक्त है। बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु से परे है।

"तुम वह तत्त्व हो, जो शाश्वत और सर्वत्र व्याप्त है। उस नित्य सत्ता को कोई नहीं मिटा मकता।" —भगवद्गीता।

हम जीवन की परिभाषा शरीर को लेकर करते हैं। अपना संबंध बचपन, जवानी तथा बुढ़ापे के साथ जोड़ते हैं। देह में होने वाले परिवर्तनों तथा अनुभूतियों को अपनी मानते हैं। किंतु सत्य का साक्षात्कार होने पर पता लगता है कि शरीर केवल वस्त्र हैं। आत्मा उससे भिन्न है।

"शरीर नश्वर है और उसका अधिष्ठाता आत्मा शाश्वत। वह समस्त दुःख तथा दुर्बलताओं से परे है।"

गीता का यह संदेश हमारे सामने उस शाश्वत सत्ता को उपस्थित करता है, जो सुख का सागर तथा प्रकाश का पुंज है। समस्त जीवनों का जीवन है। बाह्य जगत् की दुर्बलताओं और सीमाओं से घिरे रहने पर भी यह संदेश उस विराट अस्तित्व की अनुभूति कराता है जो सर्व-शक्तिमान, तेजस्वी तथा आनंद का स्रोत है। शाश्वत जीवन की अनुभूति के लिए उस सार्वभौम नित्य शक्ति का ध्यान करना चाहिए जिसकी सर्वत्र अभिव्यक्ति हो रही है। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में वही चेतना के रूप में प्रस्फुरित है। सूरज, चाँद तथा नक्षत्रों में प्रकाश बनकर चमक रही है।

अरुणोदय के समय उसी की अभिव्यक्ति हमें आनंद विभोर कर देती है। सूर्यास्त के समय हम उसी को मंत्रमुग्ध होकर देखते हैं।

वह अनादि, अनंत, सर्वव्यापी, नित्य तथा शाश्वत है। मृत्यु उसका नाश नहीं कर सकता।

जब मन उस महाशक्ति के ध्यान में स्थिर हो जाता है तो दुर्बलता के समस्त विचार अपने आप मिट जाते हैं। भय, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष तथा आत्मा को खिन्न करने वाले सभी विचार समाप्त हो जाते हैं।

हमारा मन उस दिव्यस्रोत की निर्मल धारा में स्नान करके शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है। एक क्षण के लिए भी इस प्रकार का ध्यान नयी स्फूर्ति उत्पन्न करता है। शरीर में उसकी प्रतिक्रिया होती है। वह स्वस्थ एवं नवीन हो जाता है।

ऋषियों ने उस महाशक्ति का साक्षात्कार किया। और कहा—

"वह अनंत तथा शाश्वत सत्ता सर्वत्र है—ऊपर, नीचे, आगे, पीछे दायें, बायें कोई स्थान उससे सूना नहीं है। यह हलचल उसी का संकेत है। अणु-अणु में उसकी झलक है। जिसे उसका साक्षात्कार हो जाता है वह मृत्यु, रोग तथा दुखों से छूट जाता है। जिसे उसका दर्शन हो जाता है उसे सब कुछ दिखाई देने लगता है।"

प्राणशक्ति के रूप में परमात्मा का ध्यान हमारे जीवन में शक्ति का संचार करता है। इसके लिए प्रत्येक श्वास पर मन को स्थिर करना चाहिए। श्वास लेते समय यह सोचना चाहिए कि परमात्मा की अनंत शक्ति हमारे जीवन में प्रवेश कर रही है। श्वास छोड़ते समय यह ध्यान करना चाहिए कि राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ आदि मनोविकार, समस्त रोग, दुर्बलताएं तथा अज्ञान दूर हो रहे हैं। कुछ दिनों तक निरंतर अभ्यास करने पर यह ध्यान जीवन को बदल देगा।

**प्रेम**

प्रेम का चिंतन हृदय को पवित्र बनाता है। मन का मैल धो डालता है। संकुचित संस्कारों को दूर करता है। यह अनुभव होने लगता है कि

यह दौड़ धूप और चिंता बेकार है। प्रेम घृणा करना नहीं जानता। वह हमारी समस्त कमियों और दुर्बलताओं से परे है। आत्मा में उच्च भावनाओं की ज्योति जगाता है।

प्रेम उस भूमिका पर पहुँचने का पाठ सिखाता है जहाँ कोई सीमा नहीं है। किसी प्रकार का भेद नहीं है। कोई पराया नहीं रहता, सब अपने हो जाते हैं। वहाँ पहुँचने पर ही सच्चा सुख और शांति प्राप्त होती हैं।

ईसामसीह का कथन है—

"प्रेम ईश्वरीय गुण हैं। जो व्यक्ति प्रेम करता है, वह ईश्वर की सच्ची सन्तान है, वही उसे पहचानता है।"

भगवान बुद्ध का आदेश है—

"क्रोध पर क्षमा द्वारा विजय प्राप्त करो, शत्रु पर मित्रता द्वारा और घृणा पर प्रेम द्वारा।"

प्रेम में स्वास्थ्य प्रदान करने की सबसे अधिक शक्ति है। वह सब रोगों की दवा है। प्रेम कभी निष्फल नहीं होता। प्रत्येक परिस्थिति में तथा प्रत्येक अवसर पर अपना प्रभाव दिखाता है।

तुम कहोगे— मैंने प्रेम किया। प्रत्येक परिस्थिति में प्रेम द्वारा विजय प्राप्त करने की कोशिश की। किंतु मन की अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं हुईं।

संभव है, वे अभिलाषाएं पूर्ण होने योग्य ही न हों। यदि किसी व्यक्ति ने तुम्हें निराश किया है, धोखा दिया है या हानि पहुँचाई है तो उसे मन में मत लाओ। यह मत सोचो कि प्रेम असफल हुआ। इसके विपरीत यह सोचो कि वे अनुभव तुम्हारे प्रेम की परीक्षाएं हैं।

प्रेम अपने आप घाव भरदेगा, विजय प्रदान करेगा। प्रेम की सदा जीत होती है। किंतु वह आभ्यंतर विजय है, बाह्य नहीं।

"द्वेष पर द्वेष द्वारा विजय नहीं होती, उस पर प्रेम द्वारा विजय प्राप्त होती है।"

भगवान बुद्ध ने हजारों वर्ष पहले यह बात कही थी। आज भी वह उतनी ही सत्य है।

अन्य ऋषि मुनियों ने भी इसी का समर्थन किया है। इस महाशक्ति से अनुप्राणित होने पर आत्मा सर्वथा नया जीवन प्राप्त कर लेता है। मन का मैल धुल जाता है। नई शक्ति तथा स्फूर्ति का संचार होने लगता है। यह आशा मत रखो कि दूसरे लोग तुम्हें प्रेम करें, तुम्हें खुश रखें, तुम्हारी चापलूसी करें। सच्चा प्रेम बदले में कुछ नहीं चाहता। लेनदेन या सौदा नहीं करता। वह एक शक्ति है जो मानवीय भूमिका से ऊपर उठा कर ईश्वरीय भूमिका पर पहुँचा देती है।

प्रेम, आनन्द, और उल्लास जीवन के चमत्कार हैं, उसे पूर्णतया बदल देते हैं। ईर्ष्या, द्वेष और भय को समाप्त कर देते हैं। जब हृदय प्रेम से भर जाता है, अन्य किसी बात के लिए स्थान नहीं रहता।

प्रेम के द्वारा ही हम अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। प्रेम के द्वारा ही मानवता अपने दिव्यस्वप्न को पूरा कर सकती है।

बौद्धिक विश्लेषण, दाशनिक विचार तथा तर्क पूर्ण ऊहापोह के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन का अर्थ केवल सोचना तथा बोलना नहीं है, किंतु करना है। प्रेम हमारे हृदय, बुद्धि तथा आत्मा को आप्लावित करके क्रियाशील बनने की प्रेरणा देता है।

आईये, अपनी चेतना को प्रेम से भर लें।
प्रेम सबको जीत लेता है;
सब कष्टों का अन्त कर देता है;
सबका आधार है;
सर्वत्र व्याप्त है।

मन में यह ध्यान कीजिए—

"हृदय ईश्वरीय प्रेम से भर जाए।"

"आत्मा ईश्वरीय प्रेम में डूब जाये। बुद्धि ईश्वरीय प्रेम के संकेत पर चलने लगे।"

"कण-कण में ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति हो।"

**आनंद**

शोक, दुःख, निराशा और उदासी को दूर करने के लिए उस महासत्ता का ध्यान करना चाहिए जो आनन्दस्वरूप है, सदा मुक्त है। यह ध्यान ज्यों-ज्यों स्थिर होगा अप्रिय विचार भाग जाएँगे, उसी प्रकार जैसे सूरज निकलने पर रात का अँधेरा भाग जाता है।

"ईश्वरीय आनन्द तुम्हारा बहुत बड़ा बल है।"

—बाइबल (ओल्ड टेस्टामेंट)

जो अनन्त तथा असीम है वही सुख है। सीमित में सुख नहीं होता।

'यद्वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।"

—उपनिषद्

आत्मसाक्षात्कार होने पर समाधि अपने आप प्राप्त हो जाती है। सत्य का अन्वेषक ज्यों-ज्यों लक्ष्य के समीप पहुँचता है, हृदय आनन्द से भरता जाता है। लक्ष्य प्राप्त होने पर वह परिपूर्ण हो जाता है।

शब्द उस आनन्द को प्रकट नहीं कर सकते। वह ऐसी शक्ति है जो स्वार्थ के समस्त बन्धनों को काट डालती है। अहंकार तथा भेद के पर्दे को फाड़ डालती है।

साधक को पागल बना देती है और वह अपने आनन्द को समस्त विश्व में वितरण करना चाहता है।

बुद्ध की मूर्तियों में इस तथ्य की झलक मिलती है। उनके मुख पर आनन्द की ज्योति चमकती है। प्रत्येक चेष्टा मस्ती से भरी है। विभोर होकर वे बोधि वृक्ष के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं।

समस्त विश्व के ऋषि, मुनि तथा योगियों के मुख पर यह आभा मिलती है। दुखी तथा शोकग्रस्त विश्व पर वे सुख तथा शक्ति की वृष्टि करते रहते हैं।

आइये, जो विचार हमारे जीवन में उस आनन्द के प्रवेश को रोके हुए हैं उन्हें दूर कर दें। हृदय तथा बुद्धि को निर्मल बना लें। इसके लिए संकुचित विचार तथा कठोर शब्दों को छोड़ना होगा। यदि इतने मात्र से वह असीम आनन्द प्राप्त होता है तो क्या उसके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए ?

प्रातः उठते ही सूर्य का स्वागत कीजिए जो समस्त विश्व को जीवन प्रदान करता है। कर्म के लिए प्रेरित करता है। प्रकाश तथा आनन्द का स्रोत है।

हम सत्य पर दृढ़ रहें। फिर कोई बाह्य तत्त्व हमें दुखी नहीं कर सकता।

ईश्वर आनन्द रूप है। मन में जब तक यह विचार बना रहेगा, दुःख और चिन्ता पास नहीं आ सकते।

"जो हृदय ध्यान के द्वारा शुद्ध हो चुका है। मैल तथा बुराइयों को धो चुका है, उसमें जो आनन्द हिलोरें लेता है, वह शब्दों से परे है। उसकी अनुभूति अन्तरात्मा ही कर सकती है।"

## निर्मलता

हमारी आत्मा सदा निर्मल है। बाह्य विकार उसे मलिन नहीं कर सकते। जब यह विचार स्थायी हो जाता है तो दुर्बलता और निराशा के संस्कार अपने आप धुल जाते हैं।

"आत्मा सदा पवित्र है। पाप और दुख उसका स्पर्श नहीं कर सकते।"

—उपनिषद

'जिनका हृदय पवित्र है, वे भाग्यशाली हैं। वे ही परमात्मा का दर्शन कर सकेंगे।' —क्राईस्ट

शुद्ध हृदय निर्मल दर्पण के समान होता है। उसी में सत्य झलकता है। जो हमारी बुद्धि को निर्मल तथा दृष्टि को तीक्ष्ण बनाता है।

आत्मा सूर्य के समान है। भूतल का मैल उसका स्पर्श नहीं कर सकता। आइए, हम उसका ध्यान करें। राग, द्वेष, अहंकार, लोभ आदि विकारों से ऊपर उठने का प्रयत्न करें। आत्मा का यह ध्यान विकारों से ऊपर उठने में सहायता देगा। बुद्धि को उत्तरोत्तर निर्मल बनाता जाएगा।

हृदय को पवित्रता प्रदान करता है। पाप और दुःखो को धो डालता है।

हृदय में ईश्वरीय गुणों की अभिव्यक्ति के लिए अपवित्र तथा क्रूर विचारों को छोड़ देना चाहिए। कठोर शब्दों का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। हमारी प्रत्येक क्रिया एवं हलचल में प्रेम झलकना चाहिए।

बाह्य शुद्धि आँखों से दिखाई देती है। उसके लिए साबुन और पानी का प्रयोग किया जाता है। किन्तु आन्तरिक शुद्धि के लिए विचारों को पवित्र बनाना होगा। ध्यान कीजिए—

"हे अनन्त तेजोराशि !
मेरे हृदय, बुद्धि तथा समस्त अनुभूतियों को निर्मल बनाओ।
मेरे व्यक्तित्व का कण-कण तुम्हारे प्रकाश से चमक उठे।
मेरा अस्तित्व तुम्हारी प्रभा से जगमगा उठे।"

## नम्रता

कठोर, प्रतिकूल तथा विषम तत्त्वों पर विजय प्राप्त करने के लिए नम्रता का अभ्यास करना चाहिए। उसी पर ध्यान जमाना चाहिए, जिससे वह हमारा स्वभाव बन जाए।

जब हम अपने भौतिक अस्तित्त्व को परमात्मा के चरण में अर्पित कर देते हैं। नश्वर शरीर को शाश्वत की खोज में लगा देते हैं उसे आत्म-समर्पण या प्रपत्ति कहा जाता है। उस समय परिछिन्न हृदय अपने को अपरिछिन्न की भेंट चढ़ा देता है।

मिथ्याभिमान और अहंकार मिट जाते हैं। छोटे-बड़े की भावना समाप्त हो जाती है। शान्ति प्राप्त होती है, सन्तोष एवं सात्विक सुख की वृद्धि होती है।

'विनीत तथा नम्र बनो। यही उन्नति का मार्ग है। पक्षी आकाश में उड़ान भरता है किन्तु घोंसला जमीन पर बनाता है।'

—रामकृष्ण परमहंस

नम्रता दैवी गुण है। अहंकार के वशीभूत होकर हम उसके महत्व को भूल जाते हैं।

समझते हैं कि यदि प्रभुत्व और अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष न किया गया तो हमारी उपेक्षा होने लगेगी और अवसर हाथ से निकल जाएगा। कुछ समय पश्चात् अनुभव होता है कि यह छिछोरापन है। इससे जीवन का सच्चा सुख नहीं प्राप्त होता। प्रत्युत उन्नति के मार्ग में दीवार खड़ी हो जाती है।

नम्रता वह रक्षा कवच है जिसे कोई नहीं तोड़ सकता।

हिंसा, अहंकार और अभिमान के दुर्ग हमारी रक्षा नही कर सकते। जब तक 'मैं' और 'मेरा' की भावना बनी हुई है, हम अरक्षित हैं। घमंडी को कोई पसन्द नहीं करता। घर, बाहर या दफ्तर कहीं पर हो, ऐसा व्यक्ति जिसे मिलता है, उसी के साथ टक्कर होने लगती है।

दूसरी ओर ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब नम्र व्यक्ति के साथ संघर्ष करके किसी ने विजय प्राप्त की हो। नम्रता हमारे स्वभाव को कोमल बनाती है और दूसरे को भी कोमल बनने के लिए प्रेरित करती है।

नम्र की परमात्मा रक्षा करता है।

चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस का कथन है—

"जिस व्यक्ति के जीवन में ताओ (धर्म) उतर गया है, वह शिशु के समान होता है। उसे विषैले जीव-जन्तु नहीं काटते, सिंह व्याघ्र आदि आक्रमण नहीं करते। हिंसक पक्षी दूर रहते हैं।"

नम्रता बहुत बड़ी शक्ति है, मृदुता या कोमलता उसका साथी है। उसमें दूसरे को बदलने की अमोघ शक्ति है। प्रत्येक युग के महामानव इसका उदाहरण है।

महात्मा गाँधी नम्रता की साक्षात् मूर्ति थे। एक बार महात्वाकांक्षाओं से अभिभूत किसी व्यक्ति ने उन पर आक्रमण किया। उसने कहा— 'आध्यात्मिक सन्त के रूप में हम गाँधीजी का स्वागत करते हैं, किन्तु वे राष्ट्रीय नेता बनने लायक नहीं हैं।'

गाँधीजी ने उत्तर दिया—"मैं तो बौना हूँ। परमात्मा बहुत बड़ा है।" यह मनोवृत्ति पत्थर को भी पिघला देती है। इसी कारण महापुरुष अत्यन्त नम्र होते हैं। वे ऐसा दिखावे अथवा शिष्टाचार के लिए नहीं करते। उन्हें प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तु में परमात्मा दिखाई देता है। यही अनुभूति उन्हें सबके सामने नम्र बना देती है।

सन्त तुलसीदास का कथन हैं—

सियाराम मय सब जग जानी
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी

अर्थात्—मैं प्रत्येक स्त्री-पुरुषों को सीता एवं राम के रूप में देखता हूँ और उन्हें दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

सूरदास कहते हैं—

'मोसो कौन कुटिल खल कामी

भगवन् ! मेरे समान मायावी दुष्ट तथा इन्द्रिय लोलुप कौन है।

वैष्णव भक्तों को कथन है—

**तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।**
**अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदाहरिः॥**

भगवान् का सच्चा सेवक बनने के लिए तिनके से भी अधिक नम्र तथा वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बन जाना चाहिए। स्वयं किसी प्रकार का अभिमान न रखकर दूसरे को सम्मान देना चाहिए।

मन में यह भावना करनी चाहिए कि—

भगवन् ! मैं नहीं, सब कुछ तू ही है।

तू पूर्ण है और मैं तेरा क्षुद्र अंश। मुझ पर कृपा कर कि मैं इस तथ्य को जीवन में उतार सकूँ।

तू समस्त विश्व का मूल है।

तू ही मेरा सर्वस्व है।

मुझ पर कृपा कर जिससे प्रत्येक हलचल में तेरी आहट सुन सकूँ और उसका आनन्द ले सकूँ।

तू हृदय में छिपकर जो प्रेरणा देता है, उसे सुनूँ और तदनुसार जीवन को ढाल सकूँ। मेरा जीवन, मेरी हलचल तथा मेरी समस्त क्रियाएँ तेरे संकेत पर होती रहें।

मैं नहीं, सब कुछ तू ही है। तू ही आदि है, तू ही अन्त और तू ही मध्य।

## स्वतंत्रता

जब शारीरिक दुःख कष्ट देने लगें, बाह्य बंधन सताने लगें, संकुचित स्वार्थ मन को क्षुब्ध करें तब उस अंतरात्मा का ध्यान करना चाहिए जो सदा स्वतंत्र तथा मुक्त है। जिसे माया तथा मिथ्यात्व के बंधन नहीं

बाँध सकते। उस निर्मल तथा निर्लिप्त परमात्मा का ध्यान करें। हृदय में उसके प्रत्यक्ष का प्रयत्न कर।

"तुम सत्य को पहचानो और वह तुम्हें बंधनों से मुक्त कर देगा।"

— क्राइस्ट

आत्मा स्वतंत्र है और शरीर परतंत्र। जो लोग शरीर की चिंता से घिरे है वे स्वतंत्र नहीं हो सकते। वे सदा भय से घिरे रहते हैं। हानि का भय, रोग का भय, अपमान का भय, पराजय का भय आदि अनेक भय उन्हें घेरे रहते हैं।

आइये, हम इस महानिद्रा को समाप्त करें और उठें। आत्मा के उस तेज का ध्यान करें जो सैंकड़ों सूर्यों के समान ददीप्यमान है। वही अँधेरा दूर करेगा और हमें समस्त बंधनों से छुटकारा देगा। जो वातावरण हमें कष्ट दे रहा है उससे भागने पर छुटकारा या मुक्ति नहीं मिलती। भागने से कठिनाइयाँ दूर नहीं होंगी, प्रत्युत बढ़ती चली जायेंगी।

वास्तविक मुक्ति आत्मा की अनुभूति से ही प्राप्त होती है। एक मात्र वही स्वतन्त्र तथा मुक्त है। उपनिषदों में आया है कि आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है। सूर्य के समान तेजस्वी है। मालिन्य तथा अंधकार उसका स्पर्श नहीं कर सकते। सूर्य सब पर अपनी किरणें फैलाता है। मलिन को निर्मल बनाता है। अन्धकार को दूर करता हैं, इसी प्रकार दैदीप्यमान आत्मा के प्रकाश में हमारे समस्त भय, भ्रम, तथा चिंताएँ मिट जायँगी। अन्धकार दूर होगा और स्वतन्त्रता की निर्मल ज्योति प्रकट होगी।

जीवन में अनेक बार ऐसे क्षण आते हैं जब अकस्मात् आत्मा की शक्ति का अनुभव होता है। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि वह अनुभूति स्थायी बन सकें। ऐसा होने पर बन्धन टूट जायँगे। मन और शरीर के घेरे हट जाएँगे।

आइये, उस आत्मा को देखने का प्रयत्न करें जो हमारे अन्दर सदा विराजमान है। यह अनुभव करें कि वह सदा स्वतन्त्र एवं स्वाधीन है। कभी परतन्त्र या पराधीन नहीं होती, समस्त बन्धनों से परे है। शरीर से भिन्न है, रोग उसे प्रभावित नही कर सकते। वह सम से भी भिन्न है। चिंता, निराशा आदि दुःख उसे नहीं छू सकते। आकाश के समान निर्मल है। अत्यन्त सूक्ष्म है। आँखों से दिखाई नहीं देता फिर भी महान शक्तिशाली है।

आइये, अपने मस्तिष्क को बाह्य बन्धनों से मुक्त करने का अभ्यास करें। एकांत तथा मौन क्षणों में ध्यान का अभ्यास करें। यह अनुभव करने का प्रयत्न करें कि हमारी अन्तरात्मा शुद्ध, निर्मल तथा निष्कलंक है। पाप तथा दु ख उसका स्पर्श नही कर सकते। वह सदा स्वतन्त्र है।

**प्रज्ञा**

आइये, उसी अनन्त शाश्वत सत्ता का ध्यान करें। अनुभव करें कि वही हमारे अस्तित्त्व का आधार हैं। वही भीतर है और वही बाहर। यह अनुभूति समस्त दुःखों का अन्त कर देगी।

कोई वस्तु उससे भिन्न नहीं है और न हो सकती है। यही सच्चा ज्ञान या प्रज्ञा है। यही जीवन का सबसे बड़ा वरदान है।

"तुम कितने ही बड़े पापी हो, ज्ञान रूपी नौका से पाप का सागर पार कर सकते हो।"

— भगवद्गीता

प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए मानसिक चिंताओं तथा संकुचित धारणाओं से ऊपर उठने की आवश्यकता है। जब तक उसके साथ सम्बन्ध बना रहेगा, प्रज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती।

प्रज्ञा प्रज्वलित अग्नि के समान है, वह हमारे समस्त दोषों को भस्म कर डालती है।

इसीलिए ऋषियों ने अग्नि को प्रज्ञा का प्रतीक माना है। उसी में समस्त आहुतियाँ दी जाती हैं। वह सब कुछ जला डालती है। उस पर किसी का प्रभाव नहीं होता।

ध्यान कीजिए—

"हे सूर्य के समान जाज्वल्यमान महाज्योति !

मेरे अन्तस्तल को प्रकाशित करो।

मेरे कण-कण में तुम्हारी प्रभा चमक उठे।"

## पूर्णता

प्रसिद्ध योगी पुण्यानन्द का कथन है—"अपूर्णंमन्यता व्याधिः कार्पण्यैकनिदान भूः।" अर्थात् अपने को अपूर्ण समझना ही व्याधि है, वही समस्त दुर्बलताओं का कारण है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है, परमात्मस्वरूप है, उसमें अनंत शक्ति है, सुख का सागर उमड़ रहा है, स्वयं ज्योति स्वरूप है, फिर भी अपने को अपूर्ण मान रहा है। इसी कारण दुर्बल तथा अज्ञानी बना हुआ है। ज्यों-ज्यों पूर्णता की ओर बढ़ेगा, ज्ञान, सुख, और शक्ति की वृद्धि होती जाएगी। हमें निरन्तर यह ध्यान करना चाहिए कि में पूर्ण हूँ। बाह्य प्रभावों ने मेरी शक्तियों को कुंठित कर रखा है। इसी कारण दुर्बल बना हुआ हूँ। परब्रह्म परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं। इस प्रकार ध्यान करने पर शरीर तथा मन की समस्त व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। शक्ति और सुख की वृद्धि होती है। उपनिषदों में आया है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् परमात्मा सर्वत्र पूर्ण है वहाँ भी, और यहाँ भी। पूर्ण से पूर्ण की अभिव्यक्ति होती है, पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बचता है।

जड़ वस्तुएँ पूर्ण नहीं होती, वे घटती बढ़ती हैं। किंतु ईश्वरीय सत्ता सदा पूर्ण ही रहती हैं। एक प्रदीप से दूसरा प्रदीप प्रज्वलित होता हैं, किंतु प्रथम प्रदीप में कमी नही आती। इसी प्रकार ज्ञान की ज्योति फैलती चली जाती है। दूसरे को देने पर उसमें कमी नहीं आती। सुख और शक्ति की भी यही बात हैं। इन्ही को परमात्मा कहा जाता है।

पूर्णता के ध्यान का अर्थ है परमात्मा के इन गुणों पर ध्यान। इसके विपरीत जब हमारा ध्यान धन, सम्पत्ति, कुलमर्यादा, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि अपूर्ण बातों पर जाता है तो हम भी अपूर्ण हो जाते हैं। उसके साथ ही व्याधियाँ और कष्ट खड़े होने लगते हैं। अपूर्ण बुद्धि ही समस्त कष्टों का मूल है। पूर्णता का ध्यान उन सबको दूर कर डालता है।

ध्यान कीजिए—

"परमात्मा पूर्ण है
हम भी पूर्ण हैं
शक्ति, ज्ञान तथा सुख का अनन्त सागर हमारे अन्दर उमड़ रहा है"

## शांति

यह ध्यान साधना का अन्तिम सोपान है। इतना तेज तथा शक्तिशाली है कि उसके आते ही सारी वृत्तियाँ रुक जाती हैं। कोलाहल, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, इच्छाएँ तथा संघर्ष बन्द हो जाते हैं। जीवन को विराट् आध्यात्मिक सत्ता व्याप्त कर लेती है और अपने आशीर्वादों की वर्षा करने लगती है। उसका नाम है शांति। जो अत्यन्त पवित्र तथा शक्तिशाली है।

'शांति का अर्थ है पिछले समस्त दुखों का अन्त।'

—भगवद्गीता

इस ध्यान में लीन होने पर आत्मा में एक निर्मल एवं दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है। यह मात्र निरी कल्पना नहीं है। उस अवस्था में उच्च

आदर्शों का स्वरूप साकार हो जाता है। धर्म तथा दर्शन जिस लक्ष्य का प्रतिपादन करते हैं वह प्राप्त हो जाता है।

"जब हम किसी को भयंकर विपत्तियों में शांत, निश्चल, इच्छा एवं कामनाओं से अस्पृष्ट, कष्टों में भी प्रसन्न तथा तूफानों में भी स्थिर देखते हैं तो क्या यह नहीं कहा जाएगा कि उसमें ईश्वरीय शक्ति उतर आई है।"

निस्सन्देह उसने ईश्वरीय शक्ति प्राप्त करली है। यही कारण है कि कोई बाह्य वस्तु उसके मन को क्षुब्ध नहीं करती। विकट परिस्थिति में भी उसका मानसिक सन्तुलन नष्ट नहीं होता। दिव्य संगीत की धारा उसके हृदय में निरन्तर बहती रहती है।

शांति जीवन का शाश्वत संगीत है। निर्दोष सौन्दर्य की अनुभूति है। दुःख तथा तूफानों से घिरे इस जगत् में शांतिपूर्ण हृदय एक आशीर्वाद है।

हम आशा करें और परमात्मा से यह प्रार्थना करें कि विश्व को शांति प्राप्त हों। तभी वह विकास की ओर बढ़ सकेगा और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। किन्तु शांति बाह्य वस्तुओं में नहीं है। विक्षिप्त होकर इधर-उधर भटकने से नहीं मिलती। उसके लिए अन्तरात्मा के गम्भीर अन्तस्तल में उतरना होगा। जहाँ बाह्य प्रभाव हमारे मन को क्षुब्ध नहीं कर पाते।

आइये, हम शांति के उस स्रोत को प्राप्त करें, जो आध्यात्मिकता के दुर्ग में सुरक्षित है, हमारे हृदय में निरन्तर बह रहा है।

"हे परमात्मा, मैं तेरी परमशांति को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करता हूँ। तूफान उठें, वर्षा आए, आँधियाँ चलें किन्तु मैं निर्भय रहूँगा।"

"जिसके पास तुम हो वह सर्वथा सुरक्षित है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

जब हृदय ध्यान के परिणामों का अनुभव करने लगता है, सूर्य के समान प्रज्ञा चमकने लगती है, उस समय उपनिषदों का यह सन्देश साक्षात् झलकने लगता है—

"आत्मा नित्य है। वह अन्तिम सीमा है। सारा विश्व उसी में समाया हुआ है। रात और दिन उसका अतिक्रमण नहीं करते। बुढ़ापा, मृत्यु तथा शोक उसका स्पर्श नहीं करते। पाप और पुण्य उसे नहीं छूते। पापी उस ओर नहीं देख सकते। शाश्वत सत्ता समस्त प्राणों से परे है। जिसने उसे देख लिया, वह यदि अन्धा है तो आँखें खुल जायँगी, घायल है तो घाव भर जाएँगे, कष्टों से घिरा है तो वे दूर हो जाएँगे। रात का अँधेरा मिट जाएगा और उजाला चमकने लगेगा। परमात्मा की शाश्वत ज्योति प्रस्फुटित होने लगेगी।"

भगवन् ! मेरे जीवन का कण-कण तुम्हारी असीम प्रभा प्राप्त करके महान हो जायगा।

दृष्टि का आवरण हटते ही आत्मा विशाल हो जायगी। जब यह भान होता है कि मेरी संकुचित सत्ता तुम्हारी विराट सत्ता में समा गई है, तो हृदय को शांति मिलती है।

आइये, अपने जीवन में उस असीम सत्ता की अनुभूति करें। संकुचित अस्तित्त्व को उस विराट अस्तित्त्व में मिला दें।

तृतीय अध्याय

# पदस्थध्यान

## मंत्र साधना

मंत्र का अर्थ है अक्षर या शब्दविशेष, जिन्हें दोहराने पर, देवता प्रकट हो जाते हैं और इच्छानुसार फल देते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। कुछ मंत्रों में ह्रीं क्लीं आदि ऐसे शब्द रहते हैं जिनका भाषा की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं होता, वे विभिन्न देवी-देवताओं के संकेत होते हैं। उन्हें बीजाक्षर कहा जाता है। अन्य मंत्रों में शिव, दुर्गा, विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवी-देवताओं का नाम तथा गुण-कीर्तन होता है। वे भाषा की दृष्टि से सार्थक होते हैं।

प्रथम प्रकार के मंत्रों को लेकर यह प्रश्न किया जाता है कि उनके जप से क्या लाभ है। इसके दो उत्तर हैं: पहली बात यह है कि सभी शब्द संकेत ही होते हैं, भाषाविशेष में जिन शब्दों का सम्बन्ध अर्थ के साथ जुड़ जाता है उन्हें सार्थक मान लिया जाता है और अन्य शब्दों को निरर्थक। किंतु जब लोकव्यवहार अथवा अन्य किसी कारण से उन शब्दों का भी अर्थविशेष के साथ संबंध जुड़ जाता है तो वे सार्थक हो जाते हैं। इसी प्रकार ऊँ, ह्रीं, क्लीं आदि शब्दों का सम्बन्ध शक्ति-विशेष के साथ जुड़ा हुआ है। यहाँ निरर्थक का इतना ही तात्पर्य है कि उनका अर्थ व्याकरण की व्युत्पत्ति पर आधारित नहीं है।

दूसरी बात यह है कि भावाभिव्यक्ति का क्षेत्र व्याकरण द्वारा घड़े हुए यौगिक शब्दों तक सीमित नहीं होता। बहुत से शब्द व्याकरण एवं कोष में न मिलने पर भी अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं इतना ही नहीं सांकेतिक शब्दों द्वारा होने वाली भावाभिव्यक्ति व्युत्पत्तिलभ्य शब्दों

की तुलना में प्रबल होती है। अनुराग, क्रोध, घृणा, आनन्द आदि भावों की अभिव्यक्ति जितनी सांकेतिक शब्दों द्वारा होती है, उतनी सार्थक शब्दों द्वारा नहीं होती। ओहो, अहा, थू, हाय आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इसी प्रकार दैवीजगत् में भी सांकेतिक शब्द बने हुए हैं। हजारों वर्षों की परम्परा ने उनका सम्बन्ध विभिन्न शक्तियों के साथ जोड़ दिया है। उनका उच्चारण करते ही देवता का समस्तरूप मस्तिष्क में घूमने लगता है।

तार में संकेत लिपि का प्रयोग किया जाता है। उसमें लकीरें और बिन्दु के अतिरिक्त कुछ नहीं होता, इसी प्रकार शीघ्र लिपि में संकेतों का प्रयोग किया जाता है। जो उन्हें नहीं समझता उसके लिए वे निरर्थक हैं, किंतु जो समझते है वे उन संकेतों के आधार पर करोड़ों का लेन-देन करते हैं।

एक बात और है। यौगिक शब्द अर्थ को सीमित कर देते हैं उनका उच्चारण करने पर हमारा ध्यान उसी अर्थ पर पहुँचता है जो व्युत्पत्ति द्वारा प्रकट होता है। उदाहरण के रूप में जननी शब्द माँ के उत्पादक रूप को प्रकट करता है। उसका उच्चारण करने पर ध्यान इसी रूप पर जायेगा। इसके विपरीत माँ शब्द उसके वात्सल्य, माधुर्य आदि समस्त गुणों का अभिव्यंजक है। अतः उसमें जितनी शक्ति है उतनी जननी शब्द में नहीं है।

काव्यशास्त्र में शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वाच्य अर्थ को प्रकट करने वाली शक्ति अभिधा है जैसे बैल या सिंह कहने पर हमें पशु-विशेष का बोध होता है। लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। जब हम किसी मनुष्य को बैल कहते हैं तो इसका अर्थ मूर्ख हो जाता है। यह लक्ष्यार्थ है, इसी प्रकार सिंह का अर्थ वीर हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति को आग कहा जाता है और तेजस्वी को सूर्य। तृतीय शक्ति व्यंजना है इसके द्वारा व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। जिसका शब्द या अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण

के रूप में 'सूरज छिप गया' यह वाक्य जब एक मजदूर अथवा हल चलाते हुए किसान के सामने कहा जायगा तो उसका अर्थ होगा, काम बन्द करके घर चले जाओ। कर्मकांडी ब्राह्मण के लिए इसका अर्थ होगा संध्यावन्दन करो। इन शक्तियों में अभिव्यक्ति की मात्रा उत्तरोत्तर प्रबल होती जाती है। अभिधा की अपेक्षा लक्षणा का और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना का अधिक प्रभाव होता है। बीजाक्षर अथवा निरर्थक मन्त्र लक्षणा और व्यंजना के द्वारा अपना अर्थ प्रकट करते हैं। मन्त्रविद्या एक विज्ञान है। अज्ञान एवं दुरुपयोग के कारण उसका उपहास होने लगा। किन्तु जो व्यक्ति उसके रहस्य को समझते हैं उन्हें वस्तुतः लाभ होता है, इसमें सन्देह नहीं।

मन्त्रों के मूल पाठ वेद, पुराण तथा तन्त्रों में मिलते हैं। अथर्ववेद मन्त्र-शास्त्र का आदि ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु इसका शास्त्र के रूप में वैज्ञानिक प्रतिपादन तन्त्रों ने किया। साधक उन्हें तन्त्र न कह कर मन्त्र-शास्त्र ही कहते हैं। शास्त्रों को शरीर का रूपक देकर कहा जाता है; तन्त्र या मन्त्र-शास्त्र परमात्मा है, वेद जीवात्मा, दर्शन ज्ञानेन्द्रियाँ, पुराण स्थूल देह और स्मृतियाँ विभिन्न अङ्ग। तन्त्र, मन्त्र के रूप में चिदात्मा की शक्तियाँ हैं। विश्वसार तन्त्र, द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि परब्रह्म ही शब्द ब्रह्म या सगुण ब्रह्म के रूप में जीवात्मा में निवास करता है। मन्त्र उसी का शरीर है। कुण्डलिनी शक्ति शब्द-ब्रह्म का ही रूप है जो प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान् है (शारदा-तिलक, अ० १)। इसी शब्द ब्रह्म से वाणी और अर्थ के रूप में समस्त जगत् की सृष्टि होती है। जिसे अक्षर और शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि देवता और समस्त विश्व शब्द-रूप हैं।

प्रतीयमान विश्व के इस प्रवाह में कहीं डुबकी लगाई जाय, तो सर्वत्र उस शाश्वत् तत्त्व के दर्शन हो सकते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है, समस्त वस्तुओं में छिपा है, उसी को शब्द तथा अन्य साधनों द्वारा प्रकट किया

जाता है। शब्द के द्वारा समस्त साकार वस्तुओं का ध्यान और उस वस्तु में छिपे हुए देवता के साथ सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। बाह्य आकार कैसा है और क्यों है, इस बात का महत्त्व नहीं है। मुख्य तत्त्व उसमें छिपी हुई शक्ति है।

समस्त विश्व शक्ति तथा चेतना रूप है। हम विचार करते हैं और उसे शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहते हैं, यह इच्छा शक्ति है। हम साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करते हैं, यह क्रिया-शक्ति है। हम विचार करते हैं और जानते हैं, यह ज्ञान-शक्ति हैं। प्राण-वायु वाक्-शक्ति है, इसके द्वारा हम भाषण करते हैं, जिन शब्दों का उच्चारण किया जाता है वे मन्त्रमयी पाण-शक्तियाँ हैं। अक्षर ही पद और वाक्य का रूप ले लेने पर वाणी के रूप में कानों से सुने जाते हैं। लिपि के रूप में आँखों द्वारा देखे जाते हैं। अन्धा व्यक्ति उभरे हुए संकेतों के रूप में उनका स्पर्श करता है। इस प्रकार वे विभिन्न इन्द्रियों को प्रभावित करते हैं। यह जानने को आवश्यकता है कि प्रभाव डालने वाली वास्तविक शक्ति कौन सी है? इन्द्रियाँ शक्तियाँ हैं और उनका विषय जो इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होता है, वह भी शक्ति है। इन्द्रियाँ चित्शक्ति हैं और विषय माया-शक्ति। वास्तव में देखा जाय तो दोनों अनुभूति रूप हैं। साधना के द्वारा मन्त्र-सिद्धि या मन्त्र-चैतन्य हो जाने पर साधक की आत्मा और मन्त्र की आत्मा में अभेद स्थापित हो जाता है। मन्त्र के प्रभावशाली, शक्तिशाली या क्रियाशील होने का यही रहस्य है।

मन्त्र शब्द के अर्थ को लेकर अनेक भ्रान्त धारणाएँ चल रही हैं। ऋग्वेद के प्रत्येक छन्द को मन्त्र कहा जाता है, इसी प्रकार देवी-देवताओं की प्रार्थनाओं, यज्ञ, हवन आदि करने के लिए रचे गए वाक्यों तथा शब्दात्मक प्रतीकों को भी मन्त्र कहा जाता है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपने अपने इष्ट-देवता की स्तुति को मन्त्र कहता है। किन्तु तन्त्र-शास्त्र में इसका भिन्न अर्थ है। प्रार्थना या नमस्कार में साधक अपने भावों को शब्द तथा क्रिया के द्वारा प्रकट करता है, शब्दों का चुनाव उसकी इच्छा

पर निर्भर होता । किन्तु तन्त्र-शास्त्र में प्रत्येक अक्षर, पद या पद-समूह को मन्त्र नहीं कहा जाता । जिस अक्षर, पद या पद-समूह में किसी देवता या शक्ति की अभिव्यक्ति हो चुकी है, वही उसे प्रकट करने की सामर्थ्य रखता है, इसलिए यहाँ उसको तत्तत् देवता या रूप का मन्त्र माना जाता है । मन्त्रों में स्वर, व्यंजन, नाद और बिन्दु का जो विन्यास किया जाता है, वह देवता के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति करता । देवता की पृथक्-पृथक् विभूतियों का सम्बन्ध वर्णों के साथ भी होता है, किन्तु पूर्ण अभिव्यक्ति पूरे मन्त्र से ही होती है । सभी अक्षर शब्द ब्रह्म के रूप हैं, किन्तु उसकी शक्ति-विशेष को प्रकट करने के लिए विशिष्ट वर्ण-समूह की आवश्यकता है । जिस प्रकार सभी मनुष्य चेतन स्वरूप हैं, फिर भी व्यक्ति विशेष को प्रकट करने के लिए विशेष नाम या संकेत की आवश्यकता है, उसी प्रकार दैवी-शक्ति की अभिव्यक्ति भी विशिष्ट नामों द्वारा होती है । भिन्न-भिन्न विभूतियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं । उन्हीं को मन्त्र कहा जाता है । नाद बिन्दु और वर्ण सभी अभिव्यक्ति के रूप में हैं, इनकी विशिष्ट रचनाएँ शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ अर्थात् देवता हैं । देवता वाच्य है और मन्त्र या इस प्रकार की रचनाएँ वाचक ।

जो शब्द या ध्वनि हमें सुनाई पड़ती है, उसे वैखरी कहा जाता है । यह शब्द का स्थूल रूप है । उसका सूक्ष्म रूप 'पश्यन्ती' है, जहाँ उसका विचारों के रूप में प्रथम उन्मेष होता है । उसके भी ऊपर परावाक् है जो सबका कारण है । मन्त्र कुलकुण्डलिनी अर्थात् शब्द ब्रह्म के अभिव्यक्त रूप हैं, वह प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान् हैं । बाह्य-ध्वनि या वैखरी शब्द प्राण-शक्ति के ही रूपान्तर हैं । कुण्डलिनी उसका मूल-स्रोत है, हमारा जीवन उसी पर अवलम्बित है । उसमें गुञ्जन के समान एक मधुर ध्वनि निरन्तर निकलती रहती है जो वर्ण या शब्द रूप नहीं होती । इसको अनाहत नाद कहा जाता है । वही ध्वनि जब कण्ठ, तालु आदि स्थानों से टकरा कर बाहर निकलती है तो वर्णात्मक बन जाती है ।

टक्कर खाकर निकलने के कारण इसे आहत कहा जाता है। जिस प्रकार बाह्य-आकाश में वायु की हलचल से तरंगें उठती हैं और वे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ बन जाती हैं, उसी प्रकार शरीरस्थ आकाश में प्राण वायु के संचार से ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। कुण्डलिनी ही परमात्मा है, उसी में सभी अक्षर प्रतिष्ठित हैं। वही चित्-शक्ति है, जो वर्ण और शब्दों के रूप में प्रकट होती है। वर्णमाला के अक्षर वास्तव में देखा जाय तो अक्षर या शाश्वत्-ब्रह्म के यन्त्र हैं। साधक को उसका साक्षात्कार तभी होता है, जब साधना के द्वारा उसकी शक्ति मन्त्र शक्ति मे मिल जाती है। कुण्डलिनी शक्ति का सूक्ष्म रूप है, वही स्थूल रूप में प्रकट होकर विभिन्न देवताओं का आकार ले लेती है। यही स्थूल रूप मन्त्र का अधिष्ठाता होता है, जिसे देवता कहा जाता है। साधक का लक्ष्य सूक्ष्म रूप होता है। मन्त्र और देवता ब्रह्म के ही दो रूप हैं, वे ही शिव और शक्ति हैं।

मन्त्र को प्रार्थना समझना भी ठीक नहीं है, प्रार्थना मे उपासक अपनी इच्छा या कामना देवता के सामने प्रकट करता है, किन्तु मन्त्र में किसी प्रकार की कामना नहीं रहती। प्रार्थना में साधक के अपने शब्द होते हैं, अपने भावों को वह निजी भाषा में प्रकट करना पसन्द करता है, इसके विपरीत मन्त्रों की भाषा स्थिर और शाश्वत् होती है। मन्त्र स्वयं देवता होता है। उसमें अक्षर विन्यास का निश्चित क्रम होता है। इष्ट फल की प्राप्ति के लिए मन्त्र का उच्चारण वर्ण और स्वर के अनुसार होना चाहिए। अनुवाद करने पर मन्त्र मन्त्र नहीं रहता।

मन्त्र का विधिपूर्वक पुनः पुनः उच्चारण करने से वही संस्कार बन जाता है, और अन्य ध्वनियों के संस्कार लुप्त हो जाते हैं, फलस्वरूप आत्मा से देवता का भेद करने वाले आवरण हटते चले जाते हैं और साधक स्वयं देवता रूप हो जाता। बृहद्-गान्धर्व तन्त्र (अ० ५) में कहा है—

**शृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजानां देव-रूपताम्।**
**मन्त्रोच्चारणमात्रेण देव-रूपं प्रजायते ॥**

हे देवी, सुनो, मन्त्र देव रूप होते हैं उनका उच्चारण करने पर देवता का साक्षात्कार हो जाता हैं।

मन्त्र-सिद्धि का अर्थ है मन्त्र का प्रभावशाली बनना, जिससे वह अभीष्ट फल प्रदान कर सके। जिसमें यह शक्ति आ जाती है उस साधक को मन्त्र-सिद्ध कहा जाता है। प्राणतोषिणी में आया है, 'साधक जो कुछ चाहता है, अवश्य प्राप्त होता है।' मंत्र एक शक्ति है जिससे अभीष्ट फल की प्राप्ति अवश्य होती है, वह फल लौकिक हो या लोकोत्तर। उससे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं। सिद्धि जप का अवश्यम्भावी परिणाम है।

कुछ मन्त्रों का प्रयोग प्रार्थना के रूप में भी किया जाता हैं, किन्तु किसी भी मन्त्र को निरी प्रार्थना कहना ठीक नहीं है। उदाहरण के रूप में गायत्री मन्त्र को उपस्थित किया जा सकता है। इसका प्रारम्भ ओ३म् के साथ होता है, जिसमें तीन अक्षर हैं, प्रथम अ ब्रह्मा या सृजन-शक्ति का द्योतक हैं, द्वितीय उ विष्णु अर्थात् पालनशक्ति का और तृतीय म् रुद्र अर्थात् संहार शक्ति का। भूः, भुवः, स्व, ये तीन शब्द तीनों लोकों को प्रकट करते हैं, इन्हीं का नाम संसार है। जो ओ३म् या सूर्य के रूप में ईश्वर का प्रकट रूप है। समस्त मन्त्र का अर्थ है हम तीन लोकों के रूप में समस्त विश्व के रचयिता सूर्य देवता का ध्यान करें। ओ३म् अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसी के विविध रूप हैं। वह हमारी बुद्धि का संचालन करे।

जब हम किसी व्यक्ति का नाम राम रख देते हैं तो वहां राम शब्द का असली अर्थ नहीं लिया जाता। वहाँ राम उस व्यक्ति का संकेत बन जाता है। इसी प्रकार ॐ भी ईश्वरीय शक्ति का संकेत है, उसके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलय के रूप में ईश्वर के तीनों कार्यों की अभिव्यंजना होती है। जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों में भी ॐ शब्द का प्रयोग होता है। वे इसे अपने-अपने अभीष्ट देवता का संकेत मानते हैं। मन्त्र शास्त्र का एक मात्र आधार वे संकेत है। तन्त्रशास्त्र में ऐसे संकेतों की विशाल

संख्या है। उदाहरण के रूप में ह्रीं माया बीज है, श्रीं लक्ष्मी बीज, क्रीं काली बीज, हम् कूर्च बीज, हुम् वर्म बीज और फट् अस्त्र बीज, रं अग्नि बीज, इं योनि बीज, क्लीं काम बीज, स्त्रीं वधू बीज, ऐं सरस्वती बीज। बीज का अर्थ है संकेत। प्रत्येक देवता का एक बीज या संकेत होता है और उसका पूजा में प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त सभी बीज साधारण प्रयोग में आ रहे हैं। उनकी संख्या विशाल है। कुछ बीज देवता के प्रथम अक्षर द्वारा बनाए गए हैं, उदाहरण के रूप में गणेश के लिए 'गं', दुर्गा के लिए दं आदि। जैन मन्त्र शास्त्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप पंच-परमेष्ठी के लिए 'असिआउसा' बीजाक्षर बन गए हैं।

प्रत्येक बीजाक्षर के अन्त में अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु होता है, इसे नाद कहा जाता है। इनका सर्वत्र एक-सा अर्थ है। वे प्रत्येक अक्षर के शक्तितत्त्व को प्रकट करते हैं। ईश्वर की जो शक्तियाँ बाह्य जगत की सृष्टि से पहले अप्रकट होती हैं, उन्हीं को नाद द्वारा प्रकट किया जाता है। अन्य अक्षर शक्ति की उत्तर अभिव्यक्तियों के प्रतीक हैं। दूसरे शब्दों में वे अभिव्यक्त देवता के विभिन्न रूप हैं, उनका वर्णन आगे किया जायगा।

इन अक्षरों की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। उदाहरण के रूप में भुवनेश्वरी या ह्रीं माया बीज को प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राण-तोषिणी में वरदा-तन्त्र का उद्धरण देते हुए इसकी नीचे लिखी व्याख्या की गई है—

ह् = शिव, र् = शक्ति प्रकृति, ई = महामाया म् (नाद और बिन्दु) = सृजनशक्ति अर्थात ब्रह्म या ईश्वर।

इसका फल दुःख-निवृत्ति बताया गया है। इस बीजाक्षर का प्रयोग महामाया या भुवनेश्वरी की पूजा में होता है वह तुरीया अवस्था में नाद या बिन्दु है और अभिव्यक्त अवस्था में शिव-शक्ति।

देवी गीता में भी वह बात अन्य प्रकार से प्रकट की गई है ।

ह् =स्थूल-शरीर, र् =सूक्ष्म-शरीर, ई =कारण-शरीर और म् = तुरीयावस्था । ह्रीं मन्त्र के द्वारा साधक तुरीया और कारण-शक्ति का आह्वान करता है, जिससे अन्य सभी रूप प्रकट हुए हैं । श्रीं का उपयोग लक्ष्मी की पूजा में होता है । श् =महालक्ष्मी, र् =धन, ई =सन्तोष या सुख जो लक्ष्मी से प्राप्त होता है । काली की पूजा में क्रीं का उपयोग होता है । क् =काली, र् =ब्रह्म, ई =महामाया । ऐं का उपयोग सरस्वती की पूजा में होता है इसे वाग्भव अर्थात् वाणी का उत्पादक माना जाता है । जिस प्रकार वैदिक मन्त्रों में आहुतियाँ देते समय स्वाहा या वषट् का प्रयोग होता है उसी प्रकार तान्त्रिक मन्त्रों में फट् का प्रयोग किया जाता है । इसे रक्षा बीज माना जाता है ।

देवता के मुख्य-मन्त्र को मूल-मन्त्र कहते हैं । इनका विभाजन सौर और सौम्य के रूप में भी किया जाता है । सौरमन्त्र पुल्लिग होते हैं और सौम्य स्त्रीलिंग । इसी प्रकार कुछ मन्त्र नपुंसक लिंग भी होते हैं । मन्त्रों में लिंगों का यह विभाजन उनकी उग्रता तथा भावों के आधार पर किया जाता है । स्त्रीलिंग के मन्त्रों को प्रायः विद्या कहा जाता है । नपुंसक लिंग के मन्त्रों में नमः लगा रहता है । हुँ और फट् पुल्लिग मन्त्रों में तथा थं या स्वाहा स्त्री-लिंग मन्त्रों में ।

नित्या-तन्त्र में अक्षरों की संख्या के आधार पर मन्त्रों के अनेक नाम हैं ।

१. बीज—यह साधारणतया एकाक्षर होता है ।
२. पिण्ड ।
३. कर्तरी ।
४. मन्त्र ।
५. माला ।

शारदा तन्त्र में बताया गया है कि परमेश्वर सच्चिदानन्द रूप है ।

उससे शक्ति का आविर्भाव हुआ, शक्ति से नाद का और नाद से बिन्दु का—

**सच्चिानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।**
**आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ॥**

यहाँ सकल परमेश्वर शिव तत्त्व है। शक्ति दूसरा तत्त्व है, उसमें तीन शक्तियाँ हैं—समनी, व्यापिनी और अञ्जनी। मन्त्र की प्रथम अभिव्यक्ति नाद के रूप में होती है, वही इसका प्रथम जन्य कारण है। वह शब्द का सूक्ष्म रूप है, उसीसे मन्त्र उत्पन्न होता है। [नाद तीन प्रकार का होता है।

**महानाद**—नाद के रूप में शब्द ब्रह्म का प्रथम प्रस्फुरण।

**नादान्त**—समस्त विश्व का नाद से व्याप्त होना।

**निरोधिनी**—अव्याकृत ध्वनि की और प्रथम झुकाव।

नाद के ये तीनों रूप शब्द नामक तत्त्व में विद्यमान हैं। उसका वाच्य को प्रकट करने के लिए प्रथम प्रस्फुरण अर्धचन्द्र कहा जाता है। इसके पहले की सारी क्रिया मानसिक होती है। अर्धचन्द्र का निवास बिन्दु में है। ये दोनों ईश्वर तत्त्व में रहते हैं।] कामकला के रूप में महा-बिन्दु तीन प्रकार का होता है।

(१) अव्याकृत शब्द और अर्थ का भेद होने से पहले की अवस्था।

(२) अव्याकृत चेतना जिसे अभिव्यक्त शब्द ब्रह्म या ब्रह्म भी कहा जाता है। वह तीन शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इच्छा शक्ति क्रिया-शक्ति और ज्ञान शक्ति। उसी से सत्त्व, रज और तम तीन गुण, सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में तीन बिन्दु या कार्य रूद्र, विष्णु और ब्रह्मा के रूप में तीन देवता प्रकट होते हैं।

इन सब की उत्पत्ति, प्रकाश और विमर्श शक्ति के मेल से होती है।

ईश्वरीय इच्छा के इन तीन रूपों को कामकला कहा जाता है इसका अर्थ है प्रजनन की इच्छा और तत्सम्बन्धित प्रथम चेष्टाएँ।

विश्व के मूल कारण को देवी त्रिपुरसुन्दरी और कामेश्वरी के रूप में उपस्थित किया जाता है। आगमों में इन्हीं की पूजा का वर्णन है। कामकला विलास का अर्थ हैं शिव और शक्ति का संगम। जीव अहङ्कार के कारण अपने वास्तविक रूप को नही समझ पाता।

वह विमर्श शक्ति है और अहंकार अविद्या शक्ति। इसी अविद्या शक्ति के कारण ज्ञात और ज्ञेय, चेतन और जड़, शब्द और अर्थ आदि द्वैत की उत्पत्ति होती है। विमर्श और अविद्याशक्ति, एक दूसरे के कारण नहीं हैं। साथ ही एक को दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता, दोनों का अविनाभाव है अर्थात एक के विना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है, वे शब्द ब्रह्म के ही दो रूप हैं। विराट् के एक ही प्रस्फुरण से शब्द और अर्थ दोनों की उत्पत्ति होती है। दोनों उसकी चेतना मे प्रस्फुरित होते है, एक ओर नाम, अभिव्यक्तियाँ या वाचक प्रस्फुरित होते हैं और दूसरी ओर रूप, आकार या वाच्य। दोनों एक ही प्रस्फुरण के दो प्रवाह हैं। फल स्वरूप एक दूसरे के साथ सम्बद्ध और परस्पर सापेक्ष हैं। शब्द की उत्पत्ति सृष्टि का एक रूप है। एकमात्र ब्रह्म ही शब्द और अर्थ दोनों का कारण है। एक ही शब्द ब्रह्म दो रूपों में विभक्त हो जाता है। शक्ति शब्द ब्रह्म है। वही सृष्टि के लिए उद्यत होती है, इसका अर्थ है पराबिन्दु का काम कला के रूप में विस्फुरण। वही सब मन्त्रों का मूल है। शब्द ब्रह्म को परा-वाक् कहा जाता है। उसी से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में तीन प्रकार के शब्दों की सृष्टि होती है। इनमें अव्याकृत चेतना क्रमशः व्याकृत होती हैं और अन्त में ध्वनि का रूप ले लेती है। जो अर्थ रूप जगत् का दूसरा पक्ष है। इन तीन प्रकारों के लिये शरीर आवश्यक हैं। अतः वे जीवन में ही होते हैं। जीवन में शब्द-ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति के रूप में सोया रहता है। वहीं पर-शब्द का निवास है। वह

मातृका या सूक्ष्म शब्दों के रूप में अभिव्यक्त होता है और सूक्ष्म शब्द या मातृकाएँ स्थूल-शब्द या वर्णों के रूप में। वर्णों से शब्द बनते हैं, शब्दों से पद और पदों से वाक्य, उन्हीं को मन्त्र कहा जाता है।

शरीरस्थ पर-शब्द पश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसी को सामान्य-स्पन्द कहा जाता है। स्पन्द का अर्थ है हलचल, यह चेतना की प्रथम हलचल है। उसमें शब्द और अर्थ का भेद नहीं रहता। इसलिए इसे सामान्य कहा जाता है। इसका स्थान मूलाधार से लेकर मणिपूर-चक्र तक है और वह मानसिक हलचल तक सीमित है।

मणिपूर से ऊपर उठकर वह अनाहत चक्र में पहुँचती है। यहाँ भेद की प्रथम स्फूर्ति होती है जिसे विशेष-स्पन्द माना गया है। यहां सामान्य चेतना बुद्धि का रूप ले लेती है, जिसे हिरण्यगर्भ या मध्यमा-वाक् कहा जाता है।

यहाँ से ऊपर उठ कर वह कण्ठ में पहुँचती है और विराट् या बाह्य शब्द का रूप ले लेती है, इसी को वैखरी वाक् कहते हैं। यहाँ पहुँच कर मन्त्र मुख से निकलकर कानों में सुनाई पड़ता है। एक ही समष्टि चेतना से विचार, उन्हें प्रकट करने वाले शब्द तथा अभिधेय रूप स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है, अतः मातृका और वर्ण विश्व को उत्पन्न करने वाली उस महाशक्ति के ही अभिव्यक्त रूप हैं, उस से भिन्न नहीं हैं। 'अ' से लेकर 'ह' तक वर्णमाला ही देवी है जो मातृकाओं अर्थात् ईश्वरीय शक्तियों का बाह्य रूप है। ईश्वर की जो शक्तियाँ जड़ और चेतन जगत् के रूप में प्रकट होती हैं, देवी उनसे भिन्न नहीं है। इन वर्णों का विभिन्न केन्द्रों के साथ सम्बन्ध है जो प्राणशक्ति का संचालन करते हैं, ये केन्द्र भी उसी शक्ति के साथ सम्बद्ध हैं। ये ही हमारे विचारों और भावनाओं का संचालन करते हैं, जिन्हें चक्र कहा जाता है। इन्हीं के कारण आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ है। सृजन-शक्ति का अर्थ है शिव और शक्ति का मेल। प्रत्येक अक्षर उनसे उत्पन्न होता है और उन्हीं का अंश है। वास्तव में देखा जाय तो वे शिव और शक्ति का ही रूप विशेष है। इसी आधार पर

तन्त्र-शास्त्र का कथन है कि देवता और मन्त्र परस्पर भिन्न नहीं हैं। संक्षेप में मन्त्र वर्णों से बने हैं, वर्ण मातृकाएँ है, मातृकाएं शक्ति हैं और शक्ति ही शिव है। शिव-शक्ति, नाद-शक्ति, विन्दु-शक्ति, शब्द-ब्रह्म अथवा पर शब्द से मातृका, वर्ण, पद और वाक्य-रूप मन्त्र उत्पन्न होते हैं, जो व्यक्त ध्वनि के विविध रूप हैं।

**मन्त्र का जागरण**

अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए मन्त्र का चेतन या प्रबुद्ध होना आवश्यक है। बिना जागृत हुए कोई शक्ति फल नहीं देती, मन्त्र भी एक शक्ति है, उच्चारण या अर्थ जानने मात्र से वह जागृत नहीं होती, इसके लिए भावना की आवश्यकता है, पहले बताया जा चुका है कि मन्त्र चेतना-शक्ति का ही एक रूप है, साधक उसका दूसरा रूप है। वास्तव में एक होने पर भी वह अपने को मन्त्र चेतना से भिन्न समझता है। जागरण का अर्थ है, उसके साथ अभेद की स्थापना। वहाँ साधक मन्त्र-चेतना में विलीन हो जाता है। उस समय विचार का सम्बन्ध बौद्धिक या बाह्य चेतना तक सीमित नहीं रहता, वह ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया के रूप में चेतना की प्रत्येक हलचल को व्याप्त कर लेता है। साधक की चेतना का प्रत्येक कण, चेतना से अनुप्राणित होने लगता है। मन्त्र शक्ति-विशेष है, उसके साथ अभेद स्थापित होने पर साधक शक्ति के साथ अभेद स्थापित कर लेता है। योग का यह सिद्धान्त है कि मन जब किसी वस्तु पर एकाग्र किया जाता है तो वह तद्रूप हो जाता है। जब साधक वर्ण या तत्त्वों के साथ अभेद स्थापित कर लेता है तो बाह्य विषयों का प्रभाव समाप्त हो जाता है, वह स्वयं उनका नियामक बन जाता है। कुण्डलिनी शक्ति चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँच जाती है और शिव के साथ मिल जाती है। साधक उससे भिन्न नहीं है, वह भी तत्त्व, वर्ण, मातृका आदि से ऊपर उठता हुआ शिव में विलीन हो जाता है, इसी का नाम समाधि है। वर्ण शिव-शक्ति रूप हैं, जब उन पर मन को

स्थिर किया जाता है तो वह सम्बद्ध देवता की ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होता चला जाता है। अन्त में तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार दैवी-शक्ति साधक के मन में उतर आती है।

## मंत्र की दो शक्तियाँ

प्रत्येक मन्त्र में दो शक्तियाँ होती हैं। वाच्य शक्ति और वाचक शक्ति। मंत्र वाचक शक्ति है और सम्बद्ध देवता वाच्य शक्ति। उदाहरण के रूप में—दुर्गा से सम्बद्ध समस्त मन्त्रों में दुर्गा अधिष्ठात्री देवी है और महामाया उसकी शक्ति। इसी प्रकार विष्णुसहस्रनाम में कृष्ण देवता हैं और देवकी पुत्र शक्ति हैं। जिस प्रकार फल में बीज होता है, इसी प्रकार वाचक शक्ति में वाच्य शक्ति रहती है। किन्तु जिस प्रकार फल का उद्‌घाटन किए बिना बीज नहीं देखा जा सकता इसी प्रकार वाचक शक्ति का रहस्य जाने बिना वाच्य शक्ति समझमें नहीं आती। वाच्य शक्ति मन्त्र का जीवन है और वाचक शक्ति शरीर, जो जीवन को धारण करता है। जीवन के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं है। साथ ही शरीर के बिना जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। मन्त्र सिद्धि के लिए दोनों आवश्यक हैं। वाचक शक्ति में जीवन डालने के लिए उसकी साधना आवश्यक है। चेतना हीन मन्त्र से सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

पृथ्वी का पानी सूर्य की किरणों के सहारे ऊपर उठता है और आकाश में पहुँचकर बादलों का रूप ले लेता है। वही हरियाली देखकर बरसने लगता है, इसी प्रकार मन्त्र साधना द्वारा शक्ति प्राप्त करता है और साधक की मनोकामनाएँ पूर्ण करने लगता है। बादल छोटा सा दिखाई देता है किन्तु बरसने पर चारों ओर पानी ही पानी कर देता है। इसी प्रकार मन्त्र छोटा सा दिखाई देता है, किन्तु उसमें अनन्त शक्ति संनिहित होती है। उसे जागृत करना साधक का काम है।

## जप के तीन प्रकार

जप का अर्थ है मन्त्र का उच्चारण। इसके साथ परमात्मा का ध्यान भी किया जाता है। यह तीन प्रकार का होता है।

(१) वाचिक—मन्त्र का बाह्य उच्चारण, जहाँ वह कानों में सुनाई पड़ता है।

(२) उपांशु—इसमें बाह्य उच्चारण नहीं होता। केवल जिह्वा और ओठ हिलते हैं। शब्द सुनाई नहीं पड़ता, केवल बिना नाद का श्वास प्रकट होता है। वाचिक की तुलना में यह श्रेष्ठ है।

(३) मानस—मन ही मन मन्त्र को दोहराना। इसमें न नाद होता है और न श्वास। मन में मन्त्र का ध्यान करते हुए उसे दोहराया जाता है। यह जप सबसे श्रेष्ठ है।

वाचिक जप में साधक का ध्यान, ध्वनि और उच्चारण पर रहता है। उपांशु में ध्वनि नहीं रहती, फिर भी जिह्वा और ओठों के परिस्फुरण पर ध्यान चला जाता है। मानस-जप में केवल मन्त्र के अर्थ पर ध्यान रहता है, इसी कारण उसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

जप द्वारा विचारों को साकार बनाने का प्रयत्न किया जाता है। शब्द उन्हीं का एक आकार है। यह प्रयत्न उपर्युक्त तीन प्रकार के जपों में उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली होता है, इस दृष्टि से भी इनका अधिक महत्व है।

## जप की विधि

जप के लिए कुछ नियम बताए गए हैं, उन पर ध्यान देना आवश्यक है। शारीरिक-शुद्धि, केशविन्यास, शुद्धवस्त्र, आसन आदि के लिए निश्चित विधान किए गए हैं, इसी प्रकार कुछ बातों का निषेध भी है। अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए जप की सख्या लाखों-करोड़ों तक पहुँच जाती है। साधारणतया एकबार में कम से कम १०८ जप किए जाते हैं। गणना माला या हाथ के द्वारा की जाती है। माला में १०८ मन के होते हैं। कर-जप अर्थात् हाथ से किए जाने वाले जप में दाहिने हाथ के अँगूठों को अँगुलियों की पोरों पर रखकर गिनती की जाती है। इसके

अनेक प्रकार हैं। साधारणतया अनामिका के मध्यम पोर पर अँगूठा रख कर गणना प्रारम्भ को जाती है। क्रमशः अनामिका के नीचे का पोर कनिष्ठा के नीचे का पोर, बिचला पोर, ऊपर का पोर, अनामिका के ऊपर का पोर, ज्येष्ठा के ऊपर का पोर, तर्जनी के ऊपर का पोर, बिचला पोर और नीचे का पोर स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार एकबार में दस की गणना की जाती है।

पतंजलि ने जप के साथ अर्थ की भावना पर भी बल दिया है। इसका अर्थ है शब्द और अर्थ में तादात्म्य या जीवित सम्बन्ध स्थापित करना। जब हम 'गाय' शब्द का उच्चारण करते हैं तो पशु विशेष की आकृति आँखों के सामने आ जाती है। इसे जीवित सम्बन्ध कहा जाता है। इसके विपरीत बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण करने पर किसी अर्थ का आभास नहीं होता। जब हम जल्दी-जल्दी माला फेरते हैं और मन अन्य स्थान पर घूमता रहता है तो उच्चारण किया गया शब्द किसी अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता। उससे हमारे सामने कोई वस्तु उपस्थित नहीं होती। ऐसे शब्द को शुष्क या निर्जीव कहा जाता है। भावना द्वारा उसमें प्राण प्रतिष्ठा की जाती है, अर्थ का चिन्तन करत रहने से उसका शब्द के साथ ऐसा सम्बन्ध जुड़ जाता है कि उच्चारण करते ही उसकी मूर्ति सामने आने लगती है। ऐसे शब्द को चेतन या सजीव कहा जाता है। वही मन्त्र का रूप ले लेता है। इसका अर्थ है वह शब्द जिसके द्वारा देवता को पुकारा जाता है।

उदाहरण के रूप में परिवार में किसी सदस्य का नाम कृष्ण है और वह सोया हुआ है। जब कृष्ण-कृष्ण कहकर उसे पुकारा जाता है तो वह जाग जाता है ओर हमारी इच्छानुसार काम करने लगता है। इसी प्रकार देवता हमारी आत्मा की सुप्त शक्तियाँ हैं। मत्रोच्चारण ओर अर्थ की भावना करने से तत्तद् शक्ति के साथ तत्तद् शब्द का सम्बन्ध जुड़ जोता है और उसका उच्चारण करने पर वह प्रकट होजाती है।

[ ॐ का सम्बन्ध चिरन्तन काल से परमात्मा के साथ जुड़ा हुआ है। अर्थ की भावना द्वारा वह जागृत और तीव्र हो जाता है। भावना में जितनी उत्कटता होगी, सम्बन्ध उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। इस प्रकार जीवित सम्बन्ध स्थापित होने पर ॐ का उच्चारण करते ही परमात्मा का वह रूप हमारे सामने उपस्थित होने लगेगा।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि परमात्मा का रूप क्या है? भावना में किस रूप का ध्यान करना चाहिए। इसके उत्तर में एक बात समझने की आवश्यकता है। परमात्मा का अपने आप में कोई रूप नहीं है। किंतु वह समस्त रूपों में प्रकट होता है। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं 'हे अर्जुन! जहाँ कहीं ऐश्वर्य अथवा विशेष प्रकार की शक्ति दिखाई देती हो, विशेष प्रकार के ज्ञान की अभिव्यक्ति हो रही हो, विशेष प्रकार का सौंदर्य दिखाई देता हो उसे मेरा ही अंश समझो। सारी अभिव्यक्तियाँ मेरे ही रूप हैं।" उनमें से किसी भी रूप का ध्यान किया जा सकता है। किंतु जिस अभिव्यक्ति को लिया जाय, उसी पर स्थिर रहना चाहिए। बदलते रहने से मंत्र की चेतना क्षीण होने लगती है। रूप की झलक धुंधली हो जाती है।

भावना का दूसरा कार्य है अन्य सस्कारों को दूर करना। हमारे मन में अनेक प्रकार की इच्छाएं और संकल्पविकल्प होते रहते हैं। किंतु जब मन में एक ही बात का बारबार चिंतन किया जाता है, तो अन्य संस्कार मिटते चले जाते हैं। ]

ऐसा भी देखा गया है कि हम बुद्धि द्वारा अपने हिताहित को सोचते हैं और किसी काम को करना अच्छा नहीं समझते। फिर भी, मन उस ओर दौड़ता रहता है। उदाहरण के रूप में रोगी यह जानता है कि अमुक वस्तु खाने से हानि होगी। फिर भी उसे खाने की इच्छा होती रहती है। मन को जितना रोकता है, उतना ही विरोध उत्कट होता जाता है। इसी को अंतर्द्वन्द्व कहते हैं। इसमें पड़ने पर बुद्धि मलिन और

साहस कुंठित हो जाता है। व्यक्ति अपने को निर्बल तथा कायर मानने लगता है। इसे दूर करने के लिए भावना बहुत बड़ी शक्ति है। हम जिस बात को अच्छा या बुरा मानते हैं उसका बारबार चिंतन करना चाहिए। इससे विचार शक्ति प्रबल होती जाएगी और वह विरोधी इच्छा को दबा देगी। एक दिन ऐसा आएगा जब मन बुद्धि का साथ देने लगेगा। अर्थात् जिस नात को हम अच्छा मानते हैं, उसी की इच्छा होगी। जिसे बुरा मानते हैं, उसकी नहीं होगी। गीता में बताया गया है कि भावना के बिना शांति प्राप्त नहीं होती अर्थात् मन और बुद्धि में द्वन्द्व चलता हैं, सुख प्राप्त नहीं होता। बुरे सस्कारों को दूर करने और अच्छे सस्कारों को डालने के लिए भावना बहुत बड़ी शक्ति है।

यहाँ प्रश्न होता है क्या भावना और जप एक साथ चल सकते हैं। जप में शब्द का उच्चारग किया जाता है और भावना में मानसिक चिंतन। महर्षि व्यास ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—

**स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।**
**स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥**

अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा योग पर पहुँचना चाहिए और योग के पश्चात् स्वाध्याय करना चाहिए। इन दोनों के मेल से परमात्मा प्रकट होता है। यहाँ स्वाध्याय का अर्थ है: जप, और योग का अर्थ है: एकाग्रता। इन दोनों का बारी-बारी से अभ्यास करना चाहिए। जप करते करते मन एकाग्र हो जाता है। उसके पश्चाद् जब तक हो सके जप वन्द करके एकाग्रता की स्थिति में रहना चाहिए। जब मन इधर-उधर जाने लगे तो पुनः जप प्रारम्भ कर देना चाहिए। इस प्रकार दोनों उपायों से अभ्यास करना चाहिए।

**नाम साधना**

नाम और नामवान में नित्य संबंध है। जिस प्रकार बीज के साथ

वृक्ष और फल का सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवन्नाम के साथ भगवत्स्व-रूप का सम्बन्ध है। भगवान का नाम साधारण शब्द नहीं होता, वह दिव्य वस्तु है। उसमें अचिंत्य शक्ति छिपी है।

परमात्मा तीन गुणों की परिपूर्ण अवस्था है—शक्ति, ज्ञान और सुख। इन्हीं को क्रमशः सत्, चित् और आनन्द कहा जाता है। नाम में भी ये तीनों अव्यक्त अवस्था में रहते हैं, जप द्वारा उन्हें प्रकट किया जाता है।

जो साधक इन्हें अभिव्यक्त कर लेता है, उसे सिद्ध कहते हैं। उसके मुख से निकली हुई प्रत्येक बात सत्य सिद्ध होती है। उत्तर रामचरित में आया है—

**लौकिकानां हि साधूनां अर्थं वागनुवर्तते।**
**ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति॥**

सासांरिक दृष्टि से जो सज्जन हैं उनकी वाणी अर्थ का अनुसरण करती है अर्थात् जैसी बात होती है मुख से वैसी ही निकलती है किंतु आद्य ऋषियों की बात दूसरी है। उनकी वाणी अर्थ का अनुसरण नहीं करती। इसके विपरीत अर्थ उनकी वाणी का अनुसरण करता है। वे जो कुछ मुँह से कहते हैं, वही हो जाता है। इसी अवस्था को मन्त्रसिद्धि कहते हैं। जहाँ शब्द का उच्चारण करते ही सम्बद्ध शक्ति प्रकट होने लगती है, शब्द साकार रूप ले लेते हैं।

उस अवस्था से पहले भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन्त्र या शब्द का उच्चारण व्यर्थ जाता है। प्रत्येक मंत्र का देवता या शक्ति विशेष के साथ सम्बन्ध है। भावनापूर्वक उच्चारण करने से उसमें प्राणों का संचार होता चला जाता है। वही उत्कृष्ट अवस्था में पहुँचने पर साकार शक्ति बन जाता है।

जाग्रत महापुरुष के मुख से निकले हुए नाम की तो बात ही क्या, साधारणतः उच्चारित नाम में भी विशेष प्रकार की शक्ति होती है।

वाच्य अर्थ की शक्ति के साथ योग होने पर नाम की निजी शक्ति आवरणमुक्त हो जाती हैं ओर उज्ज्वलरूप में प्रकट होने लगती है।

## नाम और नामाभाश

साधना की दृष्टि से नामोच्चारण के दो भेद हैं—(१) नाम और (२) नामाभास। जब सिद्धगुरु शिष्य की योग्यता देखकर मंत्र प्रदान करता है तो उसे नाम कहा जाता है। वहाँ गुरु अपनी शक्ति का शिष्य में संचार करता है। ऐसी स्थिति में सिद्धि शीघ्र प्राप्त होतीं है। साधना के क्षेत्र में इसी को शक्तिपात कहा जाता है।

गुरु के अभाव में जब कोई अपने आप किसी मंत्र का जप प्रारम्भ करता है तो उसे नामाभास कहते हैं। इसके द्वारा फल शीघ्र प्राप्त नहीं होता, फिर भी उसे व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। जप करते रहने से भावना उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है और एक दिन गुरु भी प्राप्त हो जाते हैं। परमात्मा स्वयं गुरु बन कर प्रकट होते हैं।

गुरु के द्वारा जो मंत्र दिया जाता है, उसे जाग्रत नाम कहते हैं। इसका उच्चारण वही कर सकता है जिस पर परमात्मा की कृपा होती है निजी पुरुषार्थ या कर्तृत्वाभिमान द्वारा किया गया नामोच्चारण इस अवस्था को नहीं प्राप्त करता।

जिस पर भगवान् की कृपा होती है, उसके कंठ में नाम स्वयं ध्वनित हो उठता है। जो स्वतः चैतन्यमय है, उसके लिए बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु नामाभास में उच्चारणकर्ता का कर्तृत्वाभिमान रहता है। तथापि दीर्घकाल तक विधि पूर्वक गुरूपदेश अथवा आंतरिक शुद्ध प्रेरणा के अनुसार उच्चारण करते-करते नामाभास भी नाम रूप में परिणत हो जाता है।

दीर्घकाल तक नियमित रूप में नाम साधना करते रहने से यथासमय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है, और वे पथप्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं।

नाम-साधना के द्वारा चित्तशुद्धि तथा देहशुद्धि होती है; जब तक भक्त गुरु से बीज प्राप्त करके अपने अशुद्ध बीज देह को शुद्ध काया में परिणत नहीं करता, तब तक वास्तविक साधना का सूत्रपात नहीं होता। प्राकृत शरीर में भगवत्साधना नहीं होतो। प्राकृत शरीर जागतिक विकार के अधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवत्तत्त्व की साधना सम्भव नहीं है।

बीज-साधना के फलस्वरूप क्रमशः बीज की अभिव्यक्ति तथा उसके प्रभाव से मलिन सत्ता को दूर करना सम्भव हो जाता है। [पंचभौतिक अशुद्ध शरीर का संस्कार हुए बिना प्रकृत साधन-मार्ग में प्रविष्ट होना दुष्कर है। गुरुप्रदत्त साधना के द्वारा भूत और चित्त शुद्ध हो जाते हैं। अशुद्ध शरीर विगलित हो जाता है और भाव के अनुसार अभिनव शरीर का अविर्भाव होता है। यह स्वभाव-शरीर कहा जाता है।]

इसी का पारिभाषिक नाम है—'भावदेह'। यह निर्मल, अजर और अमर होता है। क्षुधापिपासा, काम, क्रोध प्रभृति प्राकृतिक धर्मों से परे होता है। इसे प्राप्त करके भक्त प्रवर्तक-अवस्था से साधक-अवस्था में पहुँचता है। स्थूल देह में अभिनिवेश या तादात्म्य बोध के रहते हुए कोई साधना की जाय। वह अकृत्रिम अर्थात स्वाभाविक नहीं हो सकती।

अब हम कुछ मंत्र और उनके ध्यानों का निरूपण करेंगे।

## ऊँकार का ध्यान

सर्वे वेदा यत्पदमामनंति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदंति।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति
तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ऊँ इत्येतत्॥

—सब वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, सब तप (अन्तिम साध्य के रूप में) जिस पद की घोषणा करते है, जिस पद की चाह से (मुमुक्षु) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ—वह पद है 'ॐ'।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परं।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालंबनं श्रे दालंबनं परं।
एतदालंबनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठ० २।१६-१७)

यही अक्षर ब्रह्म है और यही परब्रह्म, इसको जान लेने पर मनुष्य जो कुछ चाहता है, मिल जाता है। यही सर्वोत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय; आलम्बन को भली भाँति जानकर साधक ब्रह्म-लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

## ऊँकार का ध्यान

पतंजलि ने अपने योग-दर्शन में बताया है कि ऊँ शब्द परमात्मा का वाचक है। इसी को प्रणव कहा जाता है। जिसका अर्थ है वह शब्द जिससे परमात्मा की विशेष प्रकार से स्तुति की जाती हो। ( **प्रणूयते अनेनेति प्रणवः** ) ध्यान में दो बातें आवश्यक हैं। एक ओर जप और दूसरी ओर अर्थ का चिन्तन। अर्थ चिन्तन के बिना निरे शब्द उच्चारण से अपेक्षित लाभ नहीं होता। भारत के सभी धर्मों ने ओम् के जप को स्वीकार किया है और उसकी व्याख्या अपने-अपने इष्ट देवता के अनु-सार की है।

सर्वप्रथम ऊँ का जप ध्वनि के रूप में किया जाता है। किन्तु धीरे धीरे अर्थ की अभिव्यक्ति तीव्र होती जाती है और साधक मानसिक जप की अवस्था में पहुँच जाता है। उसके पश्चात् वह भी नहीं रहती और समाधि प्राप्त हो जाती है।

उपनिषदों में आया है—

"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥"

प्रणव अर्थात् ओंकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य। साधक को सावधान होकर वेधन करना चाहिए। जिस प्रकार बाण लक्ष्य में विलीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा को ब्रह्म में लीन कर देना चाहिए। इस श्लोक में ओ३म् की उपमा धनुष से दी गई है। अर्थात् वह जीवात्मा को परमात्मा में विलीन करने का साधन है।

**"वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति र्न दृश्यते नैव च लिंगनाशः।**
**स भूय एवेंधनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥"**

**( श्वेताश्वेतर० )**

जिस प्रकार लकड़ी में छिपी आग दिखाई नहीं देती फिर भी उसका बीज बना रहता है। वही आग का स्पर्श होने पर प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार हमारे शरीर में परमात्मा छिपे हुए हैं। प्रणव का ध्यान उन्हें प्रकट कर देता है।

**"स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।**
**ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥"**

प्राचीन समय में दो लकड़ियों को परस्पर घिस कर आग जलाई जाती थीं। यहाँ उसी की उपमा देकर परमात्मा के साक्षात्कार का उपाय बताया गया है—'साधक अपने को नीचे की लकड़ी समझे और प्रणव को ऊपर की लकड़ी। ध्यान रूपी रगड़ के द्वारा सोयी हुई परमात्मा रूपी अग्नि को उद्‌बुद्ध करे।

भगवद्‌गीता में आया है—

**'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥"**

**( अध्याय ८, श्लोक १३ )**

अर्थात् जो व्यक्ति ओ३म् के रूप में अक्षर ब्रह्म का उच्चारण और

मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़ता है वह उच्चतम गति को प्राप्त होता है।

अब हम ओ३म् का ध्यान करने के कुछ प्रकारों का निरूपण करेंगे।

**प्रथम रूप**

पतंजलि ने ईश्वर की व्याख्या शुद्ध पुरुष या आत्मा के रूप में की है। वह ऐसा व्यक्तित्व है जिसमें कोई दोष नहीं है। जो नित्य मुक्त तथा नीचे लिखी चार बातों से सर्वथा अस्पृष्ट है।

( १ ) क्लेश—आत्मा को मलिन करने वाले दोष। ये पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता अर्थात् अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् मिथ्या आग्रह।

( २ ) कर्म—क्लेशों के कारण आत्मा में उत्पन्न होने वाले कुसंस्कार, जो समय आने पर भले-बुरे रूप में परिणत होते रहते हैं।

( ३ ) विपाक—कर्मों का भले-बुरे रूप में फल देना।

( ४ ) आशय—संचित कर्मों का सुप्त संस्कार के रूप में रहना।

परमात्मा इन चारों से मुक्त और सदा शुद्ध है।

वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। ज्ञान, शक्ति और सुख की पराकाष्ठा हैं। वह चिरन्तन पुरुष है, समस्त विश्व उससे प्रकट हुआ है। उसी में स्थिर है और उसी में लीन हो जायगा।

इस प्रकार ध्यान करने से मन में शक्ति और ज्ञान का संचार होता है। सुख की वृद्धि होती है, आत्मा को दुर्बल बनाने वाले संस्कार दूर होते हैं।

**द्वितीय रूप**

हम जिस शब्द का उच्चारण करते हैं वह कंठ, तालु आदि स्थानों का स्पर्श करके निकलता है। अंदर से ध्वनि उठती है और मुख के

अंतर्गत विभिन्न स्थानों का स्पर्श करके विभिन्न रूप ले लेती है। इसे वैखरी वाक् कहा जाता है। उसका कारण मध्यमा वाक् होता है जो हृदय में रहती है। यह प्राण वायु का प्रथम स्पंदन है, इसका कारण पश्यंती वाक् है, जो विचारात्मक होता है और उसका कारण परा वाक्, जो शब्द-ब्रह्म के रूप में सारे विश्व को व्याप्त किए हुए है। वह शांत समुद्र के समान है, पश्यंती उसकी पहली तरंग है, जो उत्तरोत्तर छोटी लहरों में परिणत होकर वैखरी का रूप ले लेती है। ऊँ की ध्वनि हमारे हृदय में सतत चलती रहती है और कान बंद करने पर सुनाई पड़ती है।वह परा वाक् की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। उसके द्वारा हमें परब्रह्म परमात्मा का सकेत मिलता है। यह ऊँ का आंतरिक ध्यान है। कानों में अंगुली लगाकर हमें उस अंतर्ध्वनि का श्रवण और परमात्मा के संकेत के रूप में ध्यान करना चाहिए।

विज्ञान का यह सिद्धांत है कि जहाँ क्रिया या हलचल है, वहाँ एक प्रकार का कंपन होता है और वह कंपन शब्द को उत्पन्न करता है। ॐ इसी कंपन की अभिव्यक्ति है। पुरुष का प्रकृति के साथ संबंध होने पर जो सर्वप्रथम क्रिया होती है, वही कम्पन है। ओ३म् के द्वारा उसका ध्यान किया जाता है। प्रकृति का संबंध होने पर पुरुष जब सृष्टि रचना की ओर उन्मुख होता है तो उसे ईश्वर कहा जाता है। प्रणव या ओ३म् उसी का वाचक है।

### तृतीय रूप

ओ३म् में तीन मात्राएँ हैं। अ; उ और म् उनके ऊपर चंद्रबिंदु है जो मात्राओं से परे है। तीन मात्राएँ प्रकृति के तीन गुणों को प्रकट करती हैं। सबसे नीचे तमोगुण है, उसके ऊपर रजोगुण और उसके ऊपर सत्व। तमोगुण अज्ञान तथा जड़ता का प्रतीक है। वह स्थूल तथा अचेतन सृष्टि में प्रकट होता है। रजोगुण इच्छा तथा क्रिया शक्ति का कारण है। वही राग द्वेष अहंकार आदि के रूप में परिणत होता है और विविध प्रकार के

कार्यों के लिए प्रेरित करता है। सत्त्वगुण आरोग्य, सुख और ऐश्वर्य का कारण है। तीनों के ऊपर चंद्रबिंदु शुद्ध पुरुष या परमात्मा को प्रकट करता है। ध्यान करते समय तमोगुण से प्रारंभ करना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि हम पर किस गुण का प्रभाव है। धीरे-धीरे ऊपर उठकर शुद्ध परमात्मा की स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

**चतुर्थ रूप**

हमारे व्यक्तित्व में चार बातें मिली हुई हैं। सबसे ऊपर स्थूल शरीर है जो हाड़मांस, त्वचा आदि का बना है। उसके अंदर सूक्ष्म शरीर है जिसके सत्रह अवयव हैं —

(त) पाँच ज्ञानेंद्रियाँ: श्रोत्र, चक्षु, नासिका, रसना, तथा त्वचा। ये क्रमशः शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श को ग्रहण करती हैं।

(ख) पाँच कर्मेंद्रियाँ — वाक् अर्थात जिह्वा, पाणि अर्थात हाथ, पाद अर्थात पैर, पायु अर्थात गुदा और उपस्थ अर्थात कामेंद्रिय। इनके द्वारा क्रमशः बोलने, पकड़ने, चलने, मलत्याग और आनंदोपभोग के कार्य होते हैं।

(ग) पाँच प्राणवायु — (१) प्राण, यह हृदय में रहता है और श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत होता है। (२) अपान, यह गुदा में रहता है और मलत्याग में सहायक होता है। (३) समान, नाभि मंडल में रहता है और अन्न और जल का शरीर में समुचित वितरण करता है। (४) व्यान, यह सारे शरीर में रहता है और रक्त का संचार करता है। (५) उदान, यह कंठ में रहता है और शब्दों के रूप में परिणत होता है।

(घ) मन —चित्त की संकल्प विकल्पात्मक अवस्था। मन ही समस्त इच्छाओं और रागद्वेष का कारण होता।

(ङ) अहंकार—मैं और मेरे की भावना। यही मनुष्य को बंधन में डालती है।

LIBRARY

इन सत्रह अवयवों का सूक्ष्म शरीर बनता है।

सूक्ष्मशरीर का कारण कारण-शरीर है। इसका अर्थ है प्रकृति और पुरुष अथवा जड़ और चेतन का प्रथम संबंध। इसी को बुद्धि या महत्तत्व कहा जाता है। उससे परे शुद्ध पुरुष है। ओ३म्‌कार में इन्हीं चारों तत्त्वों का ध्यान किया जाता है। सबसे नीचे स्थूल शरीर है, उसके ऊपर सूक्ष्म शरीर, उसके ऊपर कारण शरीर और उसके ऊपर चंद्रबिंदु के रूप में शुद्ध पुरुष। साथ ही यह भी सोचना चाहिए कि हमारे व्यक्तित्व पर कौन सा तत्त्व छाया हुआ है। जो मनुष्य स्थूल शरीर की आवश्यकताओं से दबा हुआ है, जिसको खाने-पीने आदि के अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता, वह पशु की भूमिका पर है। उससे उत्कृष्ट वह है जो क्रियाशील है, जिसकी ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, प्राण तथा मन काम करते हैं। उसका प्रेरक अहंकार होता है। वह समाज में प्रतिष्ठा तथा यश चाहता है।

उससे ऊपर वह है जिसमें कोई इच्छा नहीं होती, फिर भी संसार के साथ सम्बन्ध जोड़े हुए है। इसी सम्बन्ध में उसे आनन्द की अनुभूति होती है। साथ ही भले-बुरे परिणामों से अलिप्त रहता है। उससे भी ऊपर वह शुद्ध पुरुष है जो इन बन्धनों को पार कर चुका हैं। साधक को उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाओं पर उठने का अभ्यास करना चाहिए। उपनिषदों में स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है। सूक्ष्म शरीर तीन कोषों में विभक्त है—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय। कारण शरीर आनन्दमय कोष है। उसके ऊपर शुद्ध पुरुष या आत्मा है।

**पंचम रूप-चार अवस्थाएँ**

व्यक्तित्व के समान विश्व की भी चार अवस्थाएँ हैं। सबसे नीचे स्थूल जगत् है जो आँखों से दिखाई देता है। इसकी प्रतीति जाग्रत् अवस्था में होती है। यहाँ मन और इन्द्रियाँ दोनों काम करते हैं। उसके ऊपर सूक्ष्म जगत् है जिसकी प्रतीति स्वप्न में होती है। जहाँ केवल मन काम करता है, इन्द्रियाँ नही। उससे ऊपर कारण जगत् है। इसकी प्रतीति

सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा में होतीं है। वहाँ मन भी काम नहीं करता। केवल अस्तित्त्व का भान रह जाता है। उससे ऊपर तुरीयावस्था है, जहाँ जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है, तृतीय अवस्था में निद्रा या अज्ञान बना रहता है। और जागने पर पुनः संसार में प्रवेश हो जाता है। किन्तु तुरीयावस्था प्राप्त होने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। वह आत्मा का शुद्ध रूप है, जो चन्द्रबिन्दु के द्वारा प्रकट किया जाता है। विश्व की इन चार अवस्थाओं के साथ जीवन और परमात्मा के भी चार रूप हैं— प्रत्येक रूप अपनी-अपनी अवस्था का अभिमानी होता है अर्थात् उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े हुए है।

स्थूल जगत् तथा स्थूल शरीर के साथ सम्बद्ध आत्मा को 'विश्व' कहा जाता है। यह उसकी जाग्रत् अवस्था है। सूक्ष्म जगत् तथा सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बद्ध आत्मा को तेजस् कहा जाता है। यह उसकी स्वप्न अवस्था है। संप्रज्ञात समाधि में भी यही अवस्था रहती है। कारण जगत् तथा कारण शरीर के साथ सम्बद्ध आत्मा को प्राज्ञ कहा जाता है। यह उसकी सुषुप्ति अवस्था है। उस समय मन तथा इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता। असंप्रज्ञात समाधि में भी यही अवस्था होती है। ये तीनों आत्मा की अशुद्ध अवस्थाएँ हैं, जिन्हें शबल भी कहा जाता है। उनसे परे शुद्ध या तुरीय अवस्था है। प्रस्तुत चार अवस्थाएँ जीव और जगत् के सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर बताई गई हैं।

जीव के समान परमात्मा की भी चार अवस्थाएँ हैं—

(१) विराट्: स्थूल जगत् के साथ सम्बद्ध परमात्मा।

(२) हिरण्यगर्भ : सूक्ष्म जगत् के साथ सम्बद्ध परमात्मा।

(३) ईश्वर : कारण जगत् के साथ सम्बद्ध परमात्मा।

(४) परब्रह्म : परमात्मा का शुद्ध रूप।

प्रथम तीन रूपों में जड़ या प्रकृति का सम्मिश्रण रहता है। चतुर्थ रूप उससे परे है।

ॐ की प्रथम मात्रा 'अ' परमात्मा के विराट रूप को प्रकट करती है। वह उपास्य है और विश्व के रूप में जीव उसका उपासक। दूसरी मात्रा 'उ' है। यह परमात्मा की हिरण्यगर्भ अवस्था को प्रकट करती है। वह उपास्य है और उसका उपासक है, तैजस। तीसरी मात्रा 'म्' है। वह परमात्मा की ईश्वर अवस्था को प्रकट करती है। वह उपास्य है और उसका उपासक है, प्राज्ञ। चौथी अवस्था शुद्ध स्वरूप की है। वहाँ परमात्मा और जीवात्मा एक हो जाते हैं। उपास्य और उपासक का भेद मिट जाता है। साधक अपने आप को ब्रह्म समझने लगता है। उस अवस्था का वर्णन नीचे लिखे शब्दों में किया गया हैं—

अद्रेष्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिंत्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपंचोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यंते स आत्मा इति विज्ञेयः।

अर्थात् वह आँखों से दिखाई नहीं देता, शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, शरीर इंद्रिय तथा मन किसी के द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता, उसका कोई लक्षण अर्थात चिन्ह नहीं है। चिंतन से भी परे है, उसका कोई नाम नहीं है, एक मात्र आत्मा की अनुभूति रह जाती है। सारा प्रपंच मिट जाता है। वह शांत, शिव तथा अद्वैत स्वरूप है। वह चौथी अवस्था है, वही आत्मा है, उसी को जानना चाहिये।

## मात्राओं के रूप में ओ३म् की उपमा

**प्रथम पाद**—ॐ की प्रथम मात्रा अ है। यहां इसी का ध्यान किया जाता है। इसका सम्बन्ध स्थूल शरीर तथा बाह्य जगत् के साथ है। जिसे जाग्रत अवस्था कहा जाता है। विभिन्न शरीरों और समस्त विश्व में एक ही आत्मा अनुस्यूत है। फिर भी समष्टि और व्यष्टि की दृष्टि से उसके दो नाम हो जाते हैं। शरीरों के अभिमानी आत्मा को जीव अथवा विश्व कहा जाता है और जगत् के अभिमानी आत्मा को विराट् या परमात्मा। विश्व विराट् का ध्यान करता है। उसका संकुचित अस्तित्व विराट् के

महान् अस्तित्व में विलीन हो जाता है। फलस्वरूप महाभूतों का घेरा टूट जाता है। वे आत्म विकास के प्रतिबन्धक नहीं रहते। इस अवस्था को वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। वहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय की भेदबुद्धि बनी रहती है। यह समाधि की प्रथम अवस्था है।

**द्वितीय पाद**—इसमें ॐ की द्वितीय मात्रा उ का ध्यान किया जाता है। इसका सम्बन्ध स्वप्न अथवा सूक्ष्म जगत् के साथ है। व्यष्टि के रूप में उसके अभिमानी आत्मा को तैजस् कहा जाता है। और समष्टि के रूप में उसके अभिमानी आत्मा को हिरण्यगर्भ। इस उपासना द्वारा सूक्ष्म भूतों का आवरण समाप्त हो जाता है। इससे प्राप्त होने वाली समाधि को विचारानुगत और आनंदानुगत संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

**तृतीय पाद**—ॐ की तृतीय मात्रा 'म्' का सम्बन्ध कारण जगत् के साथ है। व्यष्टि के रूप में उसके अभिमानी आत्मा को प्राज्ञ और समष्टि के अभिमानी को ईश्वर कहा जाता है। प्राज्ञ ईश्वर में तादात्म्य का ध्यान करता है। इससे अस्मितानुगत समाधि प्राप्त होती है। जो विवेक ख्याति का पूर्वरूप है। फलस्वरूप अविद्या का बंधन टूट जाता है। और क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं। इसके पश्चात् साधक निर्बीज समाधि में पहुँच जाता है।

**चतुर्थ पाद**—यह मात्रातीत अवस्था है। जहाँ साधक परमात्मा के शुद्धरूप में अवस्थित हो जाता है। यहाँ पहुँचने पर उपास्य और उपासक का भेद नहीं रहता। जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है। अविद्या तथा समस्त उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसी को स्वरूपावस्थिति, परमात्मप्राप्ति साक्षात्कार अथवा आत्मस्थिति कहा जाता है। यही साधना का चरम लक्ष्य है।

"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव स विशत्यात्मना ऽऽत्यांन य एवं वेद।"

अमात्र—मात्रा रहित, जो व्यवहार में नहीं आता, जहाँ प्रपंच का

झगड़ा नही जो शिव अद्वैत है, इस प्रकार ओ३म् आत्मा ही है। जो इसको जानता है, वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश करता है।

## ॐकार का भावनामय चित्र

(१) विराम = शुद्धनिर्गुण, उपाधिरहित चेतन अर्थात् परमात्मतत्व (चेतना का शुद्ध स्वरूप)।

(२) मकार—चेतनतत्त्व + समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण शरीर। समष्टि कारण-जगत् का अधिष्ठाता 'ईश्वर', उपास्य; व्यष्टि कारण शरीर का अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन तत्त्व शबल स्वरूप)

(३) उकार = चेतन तत्त्व + समष्टि सूक्ष्म जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर। समष्टि सूक्ष्म जगत् का अधिष्ठाता 'हिरण्यगर्भ उपास्य तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी 'तैजस्' उपासक (शबल स्वरूप)।

(४) अकार = चेतन तत्त्व + समष्टि स्थूल जगत् तथा व्यष्टि स्थूल शरीर। समष्टि स्थूल जगत् का अधिष्ठाता 'विराट्' उपास्य; तथा व्यष्टि स्थूल शरीर का अभिमानी 'विश्व' उपासक (शबल स्वरूप)।

## गायत्री मन्त्र का ध्यान

साधारणतया गायत्री शब्द से 'तत्सवितुर्वरेण्यं' आदि मन्त्र को लिया जाता है। किन्तु वह इसका शब्दार्थ नहीं है। गायत्री एक प्रकार के छन्द का नाम है जिसमें २४ अक्षर तथा ३ पाद होते हैं। प्रचलित मन्त्र में सविता अर्थात् सूर्य की स्तुति की गई है: उसका असली नाम सावित्री है। गायत्री छन्द में होने के कारण गायत्री कहा जाने लगा।

गायत्री शब्द की व्युत्पत्ति नीचे लिखे अनुसार की जाती है। गायनात् त्रायते इति गायत्री। अर्थात् वह छन्द जो गाया जाने पर रक्षा करता है। उपर्युक्त मन्त्र का प्रारम्भ तत्सवितुर्वरेण्यं से होता है। उसके पहले 'भू भुवः स्वः' और 'ओ३म्' को अनुश्रुति के रूप में लगाया जाता है। अगले पृष्ठों में इन सबकी व्याख्या की जायगी।

गायत्री के जप का प्रतिदिन चार संध्याकालों में विधान है—(१) रात्रि का मध्य भाग, (२) प्रातः सूर्योदय से पहले, (३) दोपहर, (४) सायं अथवा दिन और रात्रि का मध्य। मध्यरात्रि का जप प्रायः योगी ही करते हैं। गृहस्थों के लिए त्रिकाल जप का विधान है। इस अनुष्ठान को संध्या भी कहा जाता है।

ऋषि याज्ञवल्क्य का कथन है

**"दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।**
**त्रिकालसंध्याकरणात् सर्वं तद्विप्रणश्यति॥"**

**(याज्ञवल्क्य)**

दिन अथवा रात में अज्ञान के कारण जो भी पापाचरण होता है त्रिकाल संध्या से नष्ट हो जाता है।

मनुस्मृति में आया है—

**पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति।**
**पश्चिमां तु समासीनो मलं हंति दिवाकृतम्॥**

प्रातः संध्या खड़े होकर करनी चाहिए। उससे रात्रि का पाप दूर होता है। सायंकालीन संध्या बैठकर करनी चाहिए। उससे दिन का पाप दूर होता है।

## गायत्री या सावित्री

मन्त्र इस प्रकार है—

**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।**

अर्थात् हम विश्व की सृष्टि करने वाले देवता के वरण करने योग्य उस तेज का ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे।

इस मन्त्र से पहले ओ३म् और तीन व्याहृतियाँ भी बोली जाती हैं। वे हैं—**'भूर्भुवः स्वः।"** इस प्रकार पूरा मन्त्र नीचे लिखे अनुसार हो जाता है—

**ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।**

ओ३म् का निरूपण किया जा चुका है। परमात्मा की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है—शब्द और अर्थ। इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। शाब्दिक सृष्टि का प्रारम्भ ओ३म् से होता है। इसीलिए इसे शब्दब्रह्म भी कहा जाता है। यह अन्तर्नाद है जो निरन्तर चलता रहता है, वही बाह्य रूप लेकर वाणी बन जाता है।

शास्त्रों में कहा गया है कि—**शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।** अर्थात् जो व्यक्ति शब्दब्रह्म को जान जाता है उसे परब्रह्म प्राप्त हो जाता है। ओ३म् की ध्वनि शब्दब्रह्म का संकेत है।

तीन व्याहृतियों का अर्थ अनेक प्रकार से किया जाता है। इनका शाब्दिक अर्थ तीन लोक हैं पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग। इन्हीं को अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक भी कहा जाता है। सूर्य अपनी प्रभा द्वारा तीनों को व्याप्त कर लेता है।

उन्हें नया जीवन प्रदान करता है। साधक उस जीवनदाता के तेज का ध्यान करता है, साथ ही प्रार्थना करता है कि वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा एवं स्फूर्ति दे। सूर्योदय होते ही चारों ओर प्रकाश की किरणें फैल जाती हैं, अन्धकार का पर्दा हट जाता है। सारी सृष्टि जाग जाती है और प्रवृत्तियों में लग जाती है। सूर्य परमात्मा की उस चेतना का उज्ज्वलतम प्रतीक है जो समस्त जगत को नया जीवन तथा नई शक्ति प्रदान करती है। अतः उसका ध्यान करने के लिए सूर्य का सहारा लिया गया है। साधक उसके दर्शन करता है और उस महान शक्ति का स्मरण करता है। साथ ही उससे नई प्रेरणा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है। इस प्रकार जीवात्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। साधक संकुचित अस्तित्त्व को भूल कर अपने मन में उस विराट सत्ता की

अनुभूति करने लगता है। यह अनुभूति उसमें शक्ति का संचार करती है। उसकी चेतना को उद्बुद्ध करती है।

हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं विश्व में ऐसी असंख्य पृथ्वियाँ हैं। बहुत सी ग्रह नक्षत्र तथा तारों के रूप में चमकती है, बहुत-सी आँखों से परे हैं। वे सब सूर्य की प्रदक्षिणा कर रही हैं। सूर्य उनके मध्य में है। वही उनको प्रकाश तथा जीवन प्रदान करता है। उसी से उष्णता प्राप्त करके जड़ी-बूटियाँ बाहर निकलती हैं। पर्वत शिखरों पर जमी हुई बरफ पिघल कर नदियों का रूप ले लेती है जो पृथ्वी को हरा भरा बनाती हैं। वह जब अपनी किरणों द्वारा पानी को ऊपर खींचता है तो बादल बन जाते हैं और बर्षा द्वारा जीवन प्रदान करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्य वह विराट सत्ता है जो सर्वत्र जीवन का संचार करती है।

व्याहृतियों का दूसरा अर्थ सत्, चित् और आनन्द किया जाता है। ये तीनों परमात्मा के तीन गुणों को प्रकट करते हैं। सत् का अर्थ शक्ति है, चित् का ज्ञान और आनन्द का सुख। परमात्मा इन्हीं तीन गुणों के द्वारा समस्त जगत का संचालन करता है। सूर्य उसका प्रतीक है। साधक गायत्री मन्त्र द्वारा उसके साथ सम्वन्ध जोड़ता है। दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। किसी ने जीवात्मा और परमात्मा में अभेद माना है, किसी ने जीवात्मा को परमात्मा का अंश बताया किसी ने उसका अनुचर और किसी ने दरबारी। भक्त अपनी अपनी धारणा के अनुसार किसी भी सम्बन्ध को लेकर ध्यान कर सकता है।

सत्य को दो रूपों में प्रकट किया जाता है—निर्गुण और सगुण। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह निर्गुण सत्य है। इसी बात को जब दो और दो वस्तुओं को मिलाकर प्रकट किया जाता है तो वह सगुण सत्य कहा जाता है। इन्हीं का दूसरा नाम निराकार और साकार हैं। अद्वैत

वेदांत निराकार पर बल देता है। वहाँ ब्रह्म सुख, ज्ञान और शक्तिस्वरूप शाश्वत तत्त्व है। अन्य परम्पराएँ उस तत्त्व की साकार रूप में उपासना करती हैं। ज्ञान का साकार रूप शिव हैं, सुख का विष्णु और शक्ति का दुर्गा। इन्हीं के और भी अनेक रूप हो गए हैं। जो देवी देवताओं के रूप में पूजे जाते हैं। गायत्री की व्याख्या भी निराकार और साकर दोनों रूपों में की जाती है। तदनुसार ध्यान भी दोनों रूपों में होता है।

जो परम्पराएँ ईश्वर की उपासना साकार रूप में करती हैं वे सूर्य-मण्डल में अपने-अपने आराध्य देवता अथवा भगवान् के ध्यान पर बल देती हैं। वैष्णव परम्परा में नीचे लिखे अनुसार नारायण का चिन्तन बताया गया है—

**ध्येयः सदा सवितृमंडलमध्यवर्ती**
**नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।**
**केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी**
**हारी हिरण्मयवपु र्धृतशंखचक्रः॥**

अर्थात् सूर्यमंडल के मध्य में नारायण का ध्यान करना चाहिए। वे कमल पर विराजमान हैं। भुजाओं में केयूर (भुजबन्ध) हैं, कानों में कुण्डल और सिर पर मुकुट। सुन्दर सुवर्णमय शरीर है। हाथों में शंख और चक्र हैं।

जर्मन के महान् दार्शनिक कांट का कथन है कि दो वस्तुएँ देख कर मुझे विस्मय और आश्चर्य होता है। पहली वस्तु ग्रहमंडल है। जब आकाश में चमकते हुए सूरज, चाँद तथा तारों को देखता हूँ तो मन ही मन विस्मय होता हैं कि ये कहाँ से आए? वह कौनसी शक्ति है जो इन्हें उत्पन्न करती है और इन्हें चला रही है। दूसरी वस्तु हृदय की धड़कन है। जब उसे सुनता हूँ तो आश्चर्य में पड़ जाता हूँ कि वह कहाँ से आयी, उसका संचालन कौन कर रहा है। ऐसी कौनसी शक्ति है जो इस शरीर यन्त्र का निर्माण करती हैं। नाड़ियों में रक्त और धमनियों में प्राण का

संचार करती है। कौन सी शक्ति विविध प्रकार की इच्छाएँ और ज्ञान उत्पन्न करती हैं।

कांट के प्रश्नों का उत्तर भारतीय संस्कृति, परमात्मा और जीवात्मा के रूप में देती है। ग्रहमंडल का संचालन परमात्मा करता है और शरीर यन्त्र का जीवात्मा। ईसाई परम्परा में जीवात्मा ईश्वर के पास भयभीत होकर काँपता हुआ पहुँचता है और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगता है; किन्तु भारतीय संस्कृति में यह सम्बन्ध दूसरे प्रकार का है। यहाँ जीवात्मा परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त करता है। उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति से आह्लादित होता। हिमालय के उच्च शिखरों, कल-कल करती नदियों, फल और फूलों से भरे वृक्षों, सुगंधित पुष्पों तथा बादलों में सर्वत्र उसी की अनुभूति करता है। सूर्य तथा ग्रहमंडल उसी की परछांई हैं। साथ ही वह उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए व्याकुल। अपनी प्रत्येक हलचल में उसका संकेत चाहता है। हृदय की धड़कन को उसकी धड़कन के साथ मिला देना चाहता है। गायत्री मंत्र इसी की अभिव्यक्ति है।

गायत्री मन्त्र में तीन बातें हैं। पहली—'तत्सवितुर्वेरेण्यं भर्गो देवस्य' में बताई गई है। इसका अर्थ है परम् पिता परमात्मा या परब्रह्म की दिव्य ज्योति। दूसरी बात 'धियो नः' के द्वारा प्रकट होती है। इसका अर्थ है जीवात्मा की बुद्धि। तीसरी बात है—'प्रचोदयात्'। इसके द्वारा जीवात्मा परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। उससे प्रेरणा प्राप्त करना चाहता है। एक अनन्त ब्रह्मांड का केन्द्र है, दूसरा व्यष्टि जीव का जीवन केन्द्र है और तीसरा इन दोनों के बीच प्रणोदन अर्थात प्रेरणामूलक आंतर सम्बन्ध। इन तीन तत्त्वों के ऊपर ही विश्व के समस्त दर्शन और विज्ञान प्रतिष्ठित हैं।

तन्त्र शास्त्र के अनुसार गायत्री का अर्थ है मन्त्र शक्ति। मूलाधार से लेकर सहस्रार तक उसका संगीत चल रहा है। उसमें पचास अक्षर हैं,

जो भिन्न-भिन्न चक्रों में स्थित पद्मों पर संनिहित हैं। उनका ध्यान तथा जप करने पर साधक समस्त पापों से छूट जाता है, मनोरथ पूर्ण होते हैं।

प्रातः काल में गायत्री का ध्यान कन्या के रूप में किया जाता है। उस समय उसे ब्राह्मणी कहा जाता है। वर्ण उदीयमान सूर्य के समान लाल होता है। दो भुजाएँ, वाहन हंस, हाथ में रुद्राक्ष-माला, सूत्र तथा भिक्षा पात्र। सूर्य मण्डल में निवास करती है। वह ऋग्वेद की अधिष्ठात्री देवी हैं।

मध्याह्न के ससय उसे सावित्री कहा जाता हैं। रूप युवती के समान होता है। वर्ण नीलकमल के समान श्याम। यह उसका वैष्णवी रूप है। वाहन गरुड है। चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म लिए रहती है, सूर्य के प्रभा मण्डल में निवास करती है। वह यजुर्वेद की अधिष्ठात्री देवी है।

संध्या के समय उसे सरस्वतो कहा जाता है। अवस्था प्रौढ़ होती है और वर्ण श्वेत। रुद्राणी का रूप लिए रहती है—तीन आँखें, ललाट पर अर्ध चन्द्र, वृषभ पर सवार, हाथ में त्रिशूल तथा डमरू। सूर्य मण्डल में निवास करती है, वह सामवेद की अधिष्ठात्री देवी है।

वही प्रातः गायत्री है, मध्याह्न के समय सावित्री और संध्या के समय सरस्वती। तदनुसार तीन कालों की संध्या को भी क्रमशः गायत्री, सावित्री और सरस्वती कहा जाता है।

गायत्री का वर्ण रक्त है, सावित्री का श्याम और सरस्वती का श्वेत। रक्त, श्याम और श्वेत वर्णों का विधान क्रमशः तीन संध्याओं की दृष्टि से है। अन्य समय में गायत्री का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ किया जाता है।

## विभिन्न देवता और मन्त्र

ऊपर ओ३म् और गायत्री मंत्र के ध्यान का निरूपण किया गया। इसी प्रकार अन्य देवताओं के मंत्रों का भी ध्यान किया जाता है। विस्तार

में न जाकर हम यहाँ कुछ देवताओं के मंत्रों का उल्लेख करेंगे। उनका जप तथा ध्यान विभिन्न मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। ध्यान के लिए यदि सामने चित्र या मूर्ति को रख लिया जाय तो और भी अधिक लाभ होगा। उन पर मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया रूपस्थ ध्यान के अध्याय में बताई गई है।

दक्षिणामूर्ति—मंत्रः ओ३म् ह्रीं दक्षिणामूर्तये तुभ्यं वटमूल-निवासिने। ध्यानैकनिरतांगाय नमो रुद्राय शंभवे ओ३म् ह्रीं। जपसंख्याः ३,२०,०००। फल-सर्वकामनापूर्ति।

पंचमुख महादेव—मंत्रः ओ३म् ह्रौं। जपसंख्याः ५ लाख। फल-सर्वकामनापूर्ति।

महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती—मन्त्रः ओ३म् ऐं ह्रीं क्लीं चामुंडायै विच्चे। जपसंख्याः ९ लाख। फल सर्वकामनापूर्ति।

लक्ष्मी—मन्त्रः ओ३म् ऐं श्रीं ह्रीं क्लीं। जपसंख्याः १२ लाख। फल धन प्राप्ति।

सरस्वती—मन्त्रः ओ३म् ह्रीं ह्सौं सरस्वत्यै नमः। जपसंख्याः १२ लाख् फल विद्याप्राप्ति।

काली—मन्त्रः ओ३म् क्लीं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके स्वाहा। जपसंख्याः २ लाख। फल बल प्राप्ति।

महागणेश—मन्त्रः ओ३म् ह्रीं गं ह्री महागणपतये स्वाहा। जपसंख्याः १ लाख। फल-विघ्न नाश तथा कामनापूर्ति।

सूर्य—मन्त्रः ओ३म् नमो नारायणाय। जपसंख्या १६ लाख। फल-स्वास्थ्य प्राप्ति।

विष्णु (लक्ष्मी भूमि सहित)—मन्त्रः ओ३म् नमो नारायणाय। जपसंख्याः १५ लाख। फल-धन प्राप्ति।

राम—मन्त्रः ओ३म् रां रामायनमः। जपः ६ लाख। फल-ज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति।

कृष्ण—मन्त्रः ओ३म् क्लीं कृष्णाय गोविंदाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा। जप १० लाख। फल-भक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्य प्राप्ति।

बालगोपाल—मन्त्रः ओ३म् क्लीं कृष्णाय नमः। जपः १ लाख। फल—भक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्य प्राप्ति।

राधा—मन्त्रः ओ३म् ह्रीं श्रीं राधिकायै नमः। जप—१६ लाख। फल-प्रेम प्राप्ति।

राधाकृष्ण—मन्त्रः ओ३म् नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्। जपः १० लाख। फल-अभिलाषा पूर्ति।

नृसिंह—मन्त्रः ओ३म् आं ह्रीं क्षौं क्रों हुँ फट्। जपः ६ लाख। फल-शत्रु तथा विघ्नों का नाश।

## सांप्रदायिक मंत्र

विभिन्न संप्रदायों में अपने-अपने इष्टदेवता के मन्त्र प्रसिद्ध हैं। कुछ नीचे लिखे अनुसार हैं—

**शैव परम्परा**—'नमः शिवाय'। इसे पंचाक्षर मन्त्र कहा जाता है। इसी के पहले ओ३म् लगाने पर षडक्षर हो जाता है। इसका जप श्वास प्रश्वास के साथ करने से बहुत लाभ होता है। अर्थात श्वास को लेते समय और छोड़ते समय मन्त्र का पाठ किया जाता है। प्रश्वास के साथ एकबार और निश्वास के साथ एकबार।

दूसरा जप नीचे लिखे अनुसार हैं।

'चिदानंद रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्'

इसमें साँस लेते समय 'चिदानन्द रूपः' कहना चाहिए और छोड़ते समय 'शिवोऽहम् शिवोऽहम्'। इसका जप मन ही मन संगीत के रूप में

भी किया जाता है। 'चिदानन्द रूप:' को छोड़कर केवल शिवोऽहम् का जप भी किया जाता है। उसमें दो बार श्वास लेते समय और दो बार श्वास छोड़ते समय उच्चारण करना चाहिए।

तीसरा प्रकार 'जय शिवशंकर' का है। रात्री में जब समस्त कोलाहल शांत हो जाता है और नुपुरध्वनि के समान अव्यक्त शब्द सुनाई पड़ता है। उस समय भगवान् शंकर के नृत्य का ध्यान करना चाहिए। उस ध्वनि को उनके नुपुरों की ध्वनि समझना चाहिए। उसके साथ ताल के रूप में 'जय शिवशंकर' का जप जोड़ देना चाहिए। इससे मन उसी में लीन हो जायगा और नव शक्ति प्राप्ति होगी।

मन्त्र इस प्रकार हैं :—

(१) एकाक्षर—ओ३म्

(२) द्व्यक्षर—'सोऽहम्' या 'हंस:'

(३) ओ३म् नम: शिवाय

(४) ओ३म् ह्लां ह्लीं नम: शिवाय

## वैष्णव परंपरा

ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय। इसमें शेषशायी भगवान् विष्णु का ध्यान किया जाता है। विष्णु का ध्यान मुरली मनोहर कृष्ण, बालकृष्ण, राम आदि अनेक रूपों में किया जाता है और उन सबके अलग-अलग मन्त्र हैं। किसी में उनके सोंदर्य का वर्णन है, किसी में भक्तवत्सलता का, किसी में दुष्टदमन का और किसी में परब्रह्म रूप का। साधक अपनी-अपनी कामना के अनुसार मन्त्र तथा रूप को चुन सकता है।

चतुर्थ अध्याय

# पिंडस्थध्यान

पिंड का अर्थ है शरीर। विभिन्न अङ्गों अथवा समस्त शरीर पर मन एकाग्र करने को पिंडस्थध्यान कहते हैं। पदस्थ ध्यानों में साधक किसी पद या मन्त्र को लेकर ईश्वरीय शक्तियों का चिंतन करता है। पिंडस्थ ध्यान में वह अपने ही शरीर में देवता का आरोप करता है। यह अनुभव करता है कि उपास्य की शक्ति उसके शरीर में उतर रही है। हाथों में उसके हाथों का बल आ रहा है, पैरों में पैरों का और मस्तिष्क में मस्तिष्क का। यह अनुभूति साधक के मन में एक दिव्य स्फूर्ति का संचार करती है। वह अपने को साधारण व्यक्ति न मानकर देवता मानने लगता है। कल्पित होने पर भी यह अनुभूति धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व को बदल देती है। दुर्बलताओं को समाप्त कर देती है और नए बल का संचार करती है। प्रस्तुत अध्याय में हम इसी प्रकार के कुछ ध्यानों का वर्णन करेंगे।

## हमारा व्यक्तित्व और उसके ध्यान

### पंचकोष

उपनिषदों में पंचकोष का ध्यान बताया गया है। कोष का अर्थ है—आवरण या घेरे। हमारी आत्मा पांच कोषों में बन्द है। सबके ऊपर स्थूल शरीर है, जिसे अन्नमय कोष कहा जाता है। उसके नीचे पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण वायु इन १५ तत्वों का बना प्राणमय कोष है। उसके अन्दर मनोमय कोष है जिसमें संकल्प-विकल्प तथा इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। उसके अन्दर विज्ञानमय कोष अर्थात् बुद्धि है जिसके द्वारा हम स्वार्थ तथा भले बुरे की बात सोचते हैं।

उसके अन्दर आनन्दमय कोष है जो सुख की अनुभूति करता है। जब हम सो जाते हैं, सब स्वार्थ विस्मृत हो जाते हैं। फिर भी जगने पर कहते हैं,—हम सुख से सोए, इससे ज्ञात होता है कि निद्रा में भी सुख की अनुभूति शेष रहती है। उस समय जो चेतना काम करती है, वही आनन्दमय कोष है। वह समस्त स्वार्थों से ऊपर है। आत्मा उससे भी परे है। मनुष्य ज्यों-ज्यों ऊपर के कोष पर पहुँचता है, उसका विकास होता जाता है और अन्त में शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

**द्वितीय रूप**

कठोपनिषद् और भगवद्गीता में हमारे व्यक्तित्त्व की उपमा एक रथ से दी गई है। आत्मा रथ का स्वामी है जो उसके अन्दर बैठा है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जो सांसारिक भोगों की ओर दौड़ लगाते रहते हैं। यदि लगाम अर्थात् मन बुद्धि रूपी सारथी के हाथ में रहती है तो रथ ठीक रास्ते पर चलेगा। इसके विपरीत यदि लगाम सारथी के हाथ से छूट जाती है, इच्छा पर ज्ञान का नियन्त्रण नहीं रहता तो इन्द्रिय रूपी घोड़े मनमानी दौड़ लगाएँगे और रथ को तोड़ डालेंगे। हमें यह ध्यान करना चाहिए कि इच्छा पर बुद्धि का कितना नियन्त्रण है। हमारे सामने मिठाई रखी हो और यह मालूम पड़ जाए कि उसमें विष मिला हुआ है तो खाने की इच्छा नहीं होगी। इसका अर्थ है, बुद्धि ने इच्छा को रोक दिया। किन्तु अनेक बार इच्छा बुद्धि की आवाज को नहीं सुनती। यह जानने पर भी कि अमुक कार्य में हानि है, हम उसे करते चले जाते हैं। अजीर्ण होने पर भी स्वादिष्ट भोजन सामने आने पर खाने लगते हैं—इसी प्रकार काम वासना तथा अहङ्कार से अन्धे होकर ऐसी प्रवृत्तियाँ करने लगते हैं जिनमें हानि स्पष्ट दिखाई देती हैं। ध्यान द्वारा यह चिंतन करना चाहिए कि इच्छा शक्ति पर ज्ञान शक्ति का कितना नियन्त्रण है और उसे उत्तरोत्तर बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिए।

**आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।**
**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ।।**
**इन्द्रियाणिहयानाहु, विषयांस्तेषुगोचरान् ।**
**आत्मेंद्रियमनोयुक्तं, भोक्तेत्याहुर्मनिषिणः ।।**

**विज्ञानसारथिर्यस्तु**
**मनः प्रग्रहवान्नरः ।**
**सोऽध्वनः पारमाप्नोति**
**तद्विष्णोः परमं पदम् ।।**

अर्थात् आत्मा को रथ का स्वामी समझो और शरीर को रथ । इन्द्रियाँ घोड़े हैं और सांसारिक विषय उनके दौड़ने का क्षेत्र । बुद्धि सारथि है और मन लगाम, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहा जाता है जो व्यक्ति मन रूपी लगाम को बुद्धि रूपी सारथी के हाथ में दे देता है वही मोक्ष रूप को प्राप्त करता है, जहाँ भगवान का निवास है ।

**दहरविद्या**

छांदोग्य उपनिषद् (अष्टम अध्याय, प्रथम अनुवाक, प्रथम ब्राह्मण) में दहर विद्या का स्वरूप आया है वह मन को एकाग्र करने का उत्तम उपाय है । शंकर, रामानुज, भास्कर आदि सभी आचार्यों ने इसकी व्याख्या की है । यहाँ साधना की दृष्टि से उसका स्वरूप बताया जाएगा ।

मूल पाठ निम्नलिखित है—

**'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं वेश्म**
**दहरोऽस्मिन्नंतराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं**
**तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ।'**

यह शरीर ब्रह्म अर्थात ईश्वर का निवास स्थान है । उसमें हृदय

स्थान पर एक कमल है, उसके भीतर जो आकाश है उसे खोजना एवं जानना चाहिए।

यहाँ आकाश का अर्थ परमात्मा या ईश्वर है। यद्यपि वह सर्वव्यापी है, किन्तु उसका ध्यान स्थान विशेष पर किया जाता है। इसके लिए ऐसे स्थानों को चुना जाता है, जहाँ अनुभूति अधिक होती हो। हृदय इच्छा शक्ति का प्रधान केन्द्र है। वहाँ ईश्वर का ध्यान करके साधक अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा से मिला देता है। वह अनुभव करता है कि हृदयाकाश में समस्त ब्रह्मांड के दर्शन करता है। वहीं पर सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि समस्त वस्तुओं को चमकते हुए देखता है, इस प्रकार अपने संकुचित अस्तित्त्व को व्यापक बनाता जाता है।

ध्यान करता है कि "यह अन्तराकाश ही परमात्मा है जो समस्त पापों से परे है, बुढ़ापा तथा मृत्यु उसका स्पर्श नहीं करते, शोक उसे व्याप्त नहीं करता न भूख लगती है, न प्यास। वह सत्य स्वरूप है सत्य ही उसकी इच्छा है और सत्य ही संकल्प है।"

साधक परमात्मा के समस्त गुणों का हृदय स्थान में चिंतन करता है। ध्यान करता है कि हृदय में विराजमान वह परम ज्योति सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान है, अन्धकार उसका स्पर्श नहीं करता, उसके संकेत पर सारे विश्व का संचालन होता है, वही सूर्य को प्रकाश देता है, बादलों को पानी, और औषधियों में रस का संचार करता है, समस्त नक्षत्र उसी की चमक हैं, हवा में उसी का वेग है, पानी में उसी की शीतलता, पृथ्वी में उसी की स्थिरता। इस प्रकार साधक अपने ही हृदय में विराट का दर्शन करता है।

उपनिषदों में बताया गया है कि इस प्रकार ध्यान करने से साधक के मन में जो इच्छा होती है, वह तत्काल पूर्ण हो जाती है।

### श्वास प्रश्वास का ध्यान

बौद्ध साधना में श्वास-प्रश्वास पर ध्यान करने की प्रक्रिया बताई

गई है। इसे आनापान स्मृति कहते हैं। प्राचीन समय में इस ध्यान का व्यापक प्रचार था। आजकल भी लाखों बौद्ध इसका अभ्यास करते हैं। बौद्धेतर जनता में भी व्यापक प्रचार है। जब शरीर तथा मन थके हुए हों उस समय ताजगी प्राप्त करने के लिए यह ध्यान बहुत उपयोगी है। इससे शरीर और मन नवीन हो जाते है, थकावट एवं चिन्ताएँ भाग जाती हैं। नया बल प्राप्त होता है।

इस अभ्यास में शरीरिक क्रिया की आवश्यकता नहीं है। प्राण का विरोध भी नहीं किया जाता। केवल उसकी गति पर मन को स्थिर किया जाता है। यह एक मानसिक क्रिया है, ज्यों-ज्यों अभ्यास किया जाता है, सूक्ष्मता बढ़ती चली जाता है। इस अभ्यास के लिए स्मृति और प्रज्ञा का निर्मल तथा प्रबल होना आवश्यक है। स्मृति जितनी निर्मल होगी, निरीक्षण उतना ही स्पष्ट होगा और वह जितनी दृढ़ होगी निरीक्षण उतना ही स्थायी होगा। अस्पष्टता और चंचलता इसमें बाधक हैं। समाधि की भावना के लिए ऐसे स्थान में बैठना चाहिए जहाँ कोलाहल न सुनाई दें। शब्द से ध्यान टूट जाता है। ऐसा स्थान भी उपयोगी नहीं होता जो लोगों के आवागमन या भीड़भड़क्के वाला हो। समाधि के लिए पर्य्यंकासन अधिक उपयोगी माना गया है। इसी को पद्मासन कहते हैं। इसमें रीढ़ और स्नायु सीधे रहते, किसी पर दबाव नहीं पड़ता, न तनाव होता है।

इसके पश्चात् श्वास पर ध्यान जमाया जाता है। विश्वास की गति अपने स्वाभाविक रूप में चलती रहती है। साधक केवल उसका निरीक्षण करता है। उसमें किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आने देता। साँस कैसे उठा, कहाँ से उठा, किस प्रकार धीरे-धीरे बाहर निकला और फिर किस प्रकार उसने प्रवेश किया, इन सब बातों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। मन में अन्य भावना नहीं आने देता। इस ध्यान की नीचे लिखी १६ अवस्थाएँ हैं :—

(१) जब साधक दीर्घश्वास छोड़ता है तो अनुभव करता है कि मैं दीर्घश्वास छोड़ रहा हूँ, जब वह दीर्घश्वास लेता है तो अनुभव करता है कि मैं दीर्घश्वास ले रहा हूँ।

(२) जब वह ह्रस्व श्वास छोड़ता है या लेता है तो अनुभव करता है कि मैं ह्रस्व श्वास छोड़ या ले रहा हूँ।

आश्वास-प्रश्वास की दीर्घता तथा ह्रस्वता उनमें लगने वाले काल के द्वारा जानी जाती है। कुछ लोग धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हैं, उनका आश्वास-प्रश्वास दीर्घकालिक होता है। कुछ लोग जल्दी-जल्दी श्वास लेते और छोड़ते हैं। उनका आश्वास-प्रश्वास अल्पकालिक होता है। इस क्रिया का निरीक्षण नौ प्रकार से किया जाता है। जब वह धीरे-धीरे श्वास छोड़ता है तो जानता है कि मैं दीर्घश्वास छोड़ रहा हूँ। जब वह धीरे-धीरे श्वास लेता है तो जानता है कि मैं दीर्घश्वास ले रहा हूँ। जब वह दोनों क्रियाओं को धीरे-धीरे करता है तो जानता है कि मैं आश्वास-प्रश्वास दोनों क्रियाओं को दीर्घकाल में कर रहा हूँ। ये तीन प्रकार कालनिमित्तक है।

भावना के बल से भय और परिताप दूर होते हैं और आश्वास-प्रश्वास सूक्ष्मतर हो जाते हैं। फलस्वरूप साधक पहले से अधिक सूक्ष्म आश्वास, प्रश्वास और आश्वास-प्रश्वास की क्रियाओं को दीर्घकाल में करता है। प्रमोदवश श्वास प्रश्वास और सूक्ष्म हो जाता है। इस प्रकार ध्यान के निष्पन्न होने पर श्वास का व्यापार रुक जाता है और उपेक्षा भाव आ जाता है।

(३) इसमें आश्वास और प्रश्वास की क्रिया प्रयत्नपूर्वक की जाती है। सांस लेते समय यह ध्यान रखा जाता है कि वह कहाँ से प्रारम्भ हुआ, उसका मध्य कहाँ है और अन्त कहाँ हुआ? इसी प्रकार छोड़ते समय भी ध्यान रखा जाता है आश्वास और प्रश्वास दोनों क्रियाएँ ध्यान पूर्वक होती हैं। उसे प्रत्येक हलचल की अनुभूति होती है। साधारणतया

किसी को आदिस्थान, किसी को मध्यस्थान और किसी को अन्तिमस्थान की प्रतीति होती है। किसी किसी को तीनों का ज्ञान भी होता है। साधक स्मृति और प्रज्ञा के द्वारा तीनों स्थानों का स्पष्ट अवलोकन करने का प्रयत्न करे।

(४) साधक स्थूलकाय संस्कार का उपशम करते हुए श्वास छोड़ने और ग्रहण करने का अभ्यास करता है। जब योगी मेरुदंड को सीधा करके पर्यङ्क-आसन से बैठता है और स्मृति को सम्मुख उपस्थित करता है तब शरीर और चित्त स्थिर हो जाते हैं। इससे विक्षेप रुक जाते हैं, चित्त में एकाग्रता आती है। आश्वास-प्रश्वास का भी स्वभाव शान्त हो जाता है और वह धीरे-धीरे इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि यह जानना भी कठिन हो जाता है कि उनका अस्तित्त्व है या नही।

यह कायसंस्कार क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वकाय संस्कार उत्तरोत्तर कायसंस्कार द्वारा शान्त होते चले जाते हैं। कायसंस्कार के शान्त होने पर शरीर का कम्पन, चलन, स्पन्दन और नमन भी शान्त हो जाता है।

## योगनिद्रा

साधारणतया हम नियमानुसार श्वास नहीं लेते। मानसिक उद्वेगों के कारण उसकी स्वाभाविक गति नहीं हो पाती। कभी वह तीव्र हो जाता है, कभी शरीर के किसी भाग में रुक जाता है। जब स्वाभाविक गति से श्वास चलता है तो अपने आप ही प्राण की गति नियमित हो जाती है और प्राणायाम होने लगता है।

श्वास को स्वाभाविक रूप से चलाने का उपाय है मन को उसके साथ कर देना। उसकी गति में किसी प्रकार का विक्षेप न आने देना। साधक केवल देखता रहे कि वह किस रास्ते से भीतर जा रहा है और कहाँ तक जाता है तथा फिर कैसे लौटकर किस रास्ते से बाहर निकलता

है और कहाँ तक बाहर जाता है। एवं फिर कैसे खिंचकर भीतर जाता है। इस प्रकार साक्षी होकर प्राण वायु का खेल देखे।

देखने के लिए भी श्वास-प्रश्वास की गति को न घटावे, न बढ़ावे। यदि वह अपने ही आप घटे या बड़े तो उसे रोके भी नहीं। बराबर इस बात का प्रयत्न रखे कि मन श्वास-प्रश्वास की गति से न हटे। यदि कोई बात मन में उठे या काल्पनिक दृश्य सामने आये तो उसे हटाने की चेष्टा न करे। ध्यान श्वास की गति पर बनाये रखे। यदि मन वहां से हट जाये तो फिर वहीं लगा दे।

गति देखने का प्रयत्न ही इस साधन का मूल है। पहले तो रास्ते का पता नहीं चलता कि वह किधर से होकर भीतर जाता है, और किस रास्ते से बाहर निकलता है। फिर भी घबड़ा कर क्रिया न छोड़े। देखने का प्रयत्न बराबर करता रहे।

कुछ दिनों में वह ऐसे रास्ते से आता जाता मालूम होगा जो सर्वथा असम्भव है; इसमें भी घबड़ाने की बात नहीं है। कभी श्वास का वेग बढ़ जायेगा तो उसे रोकने का प्रयत्न न करे। धीरे-धीरे वह ठीक रास्ते से चलता जान पड़ेगा। शवासन से लेटकर अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए।

## षट्चक्र
(Kundalini Yog)

साधना की दृष्टि से हमारा शरीर मुख्यतया दो भागों में विभक्त है—ऊपर के भाग में कमर से ऊपर का भाग आता है जिसमें मेरु दण्ड तथा सिर है। अधो भाग में टांगे हैं। शरीर का केन्द्र इन दोनों के मध्य में है, जहाँ मेरु दण्ड का मूल है और टांगे प्रारम्भ होती हैं। ऊपरी भाग मेरु दण्ड पर अवलम्बित है और उसका समस्त शरीर के साथ सम्बन्ध है। जिस प्रकार मेरू पर्वत पृथ्वी की धुरी है इसी प्रकार मेरू दण्ड

समस्त शरीर की धुरी है। टांगे और पैर स्थूल अंग हैं। इनमें उतनी चेतना नहीं होती जितनी ऊपरी भाग में है। यहीं पर सफेद तथा लाल तत्त्वों से युक्त रीढ़ है। ऊपरी भाग में भी धड़ अर्थात् ग्रीवा से नीचे का भाग मस्तिष्क पर अवलम्बित है जिसमें मूर्धा तथा उससे सम्बन्धित श्वेत तथा रक्त शिराएँ हैं। मस्तक तथा मेरुदण्ड में श्वेत एवं रक्त स्नायुजाल की रचना परस्पर विपरीत है। अधोभाग में सात लोक हैं जो विश्व की शक्तियों पर टिके हुए हैं। ऊपरी भाग में मेरूदण्ड तथा मस्तिष्क के द्वारा चेतना की अभिव्यक्ति एवं संचालन अधिक स्पष्ट रूप से होते हैं। इस भाग में भी सात लोक हैं। इन के नाम हैं—(१) भुः (२) भुवः (३) स्वः (४) तपः (५) जना (६) महः (७) सत्य। ये सात लोक सात चक्र हैं इनमें से पांच मेरूदण्ड में हैं, छटा मस्तिष्क के अधो भाग में और सातवां उसके ऊपर। वहीं पर शिव और शक्ति का निवास है।

छः चक्रों के नाम निम्नलिखित है :—

(१) **मूलाधार** :—यह मेरू दण्ड के मूल में स्थित है। इसका स्थान है, गुदा और लिंग के बीच का भाग जिसे साधारणतया सीवन कहा जाता है।

(२) **स्वाधिष्ठान** :—इसका स्थान लिंग अथवा जननेन्द्रिय के ऊपर है।

(३) **मणिपुर** :—इसका स्थान नाभि है।

(४) **अनाहत** :—इसका स्थान हृदय है।

(५) **विशुद्धि** :—इसका स्थान कण्ठ के मूल में है।

(६) **आज्ञा** :—इसका स्थान नाक के ऊपर, भौहों के बीच है। ये चक्र पद्म या कमल के रूप में हैं। इनके अतिरिक्त ललना, मानस तथा सोम चक्रों का वर्णन भी मिलता है, किन्तु मुख्य चक्र उपर्युक्त छः ही हैं।

सातवाँ लोक इन चक्रों से ऊपर मस्तिष्क के उपरी भाग में है। यह चेतना की अभिव्यक्ति का सर्वोच्च केन्द्र है। यहीं पर परमशिव और

शक्ति का निवास है। इसका आशय यह नहीं है कि शिव और शक्ति उसी स्थान में सीमित है और अन्यत्र उनका अभाव है। परम तत्त्व कहीं सीमित नहीं होता किन्तु उसकी अभिव्यक्ति स्थान विशेष पर ही होती है।

परम चेतना स्थूल अथवा निम्न चेतनाओं को पार करने पर ही अभिव्यक्त होती है, जब बुद्धि पूर्णतया निर्मल और सत्वमयी बन जाती है। तभी शुद्ध चित्त तथा चिद्रूपिणी शक्ति प्रतिबिम्बित होते हैं। शिव शक्ति के रूप में उसी शुद्ध चित्त से बुद्धि, अहकार, मन तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। उनका केन्द्र आज्ञा चक्र के ऊपर तथा सहस्रार के नीचे है। अहंकार से तन्मात्राओं का जन्म होता है। पांच तन्मात्राएं ही पांच इन्द्रियों के मूल तत्त्व हैं। उनसे पांच महाभूतों की सृष्टि होती है। ये पांच महाभूत उत्तरोत्तर स्थूलता को प्रकट करते हैं। आकाश की अपेक्षा वायु स्थूल है, वायु की अपेक्षा अग्नि, अग्नि की अपेक्षा जल और जल की अपेक्षा पृथ्वी। इसी प्रकार प्रत्येक महाभूत में अन्य महाभूतों का सम्मिश्रण है। उदाहरण स्वरूप, पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वी का और शेष आकाश, वायु, अग्नि तथा जल का है। इसी प्रकार अन्य महाभूतों में भी समझ लेना चाहिए। पृथ्वी महाभूत का अर्थ है वह मिश्रित जड़ तत्त्व जिसका बोध घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। किन्तु भिन्न-भिन्न केन्द्रों में उनकी प्रधानता है। आज्ञा चक्र बुद्धि का केन्द्र है और शेष पांच चक्र पांच महाभूतों के हैं। विशुद्धि आकाश का, अनाहत वायु का, मणीपूर अग्नि का, स्वाधिष्ठान जल का, और मूलाधार पृथ्वी का।

संक्षेप में मानव सर्वव्यापी चेतना का लघु रूप है। उसकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति सहस्रार में होती है। शक्ति उस चेतना का वाहन है और वह जड़ तथा चेतन दोनों रूपों में आज्ञा तथा पांच अन्य तत्त्वों में प्रतिष्ठित है।

आधुनिक शरीर विज्ञान ने हमारे शरीर में छः मर्मस्थान (Plexuses)

माने हैं। वे ही तन्त्र शास्त्र के छः चक्र हैं। अंग्रेजी में उन मर्मस्थानों के निम्न लिखित नाम हैं।

(१) **सैकोकोक्सीजियल प्लैक्सस** (Tee Sacrococcygcal Plexus) =मूलाधार चक्र।

(२) **सैक्रल प्लैक्सस** (The Sacral Plexus) स्वाधिष्ठान चक्र।

(३) **सोलर प्लैक्सस** (Tne Solar Plexus) :—मणीपूर चक्र। (वाम भाग)

(४) **सैरेब्रो स्पाईनल प्लैक्सस** (The Cerebro-Sqinal Plexus)=मणीपूर चक्र दक्षिण भाग।

ये दोनों क्रमशः इडा और पिंगला नामक नाड़ियों के संचालक हैं, इडा केन्द्रीय सुषुम्ना के बांई ओर है और पिंगला दाँई ओर।

(५) **लम्बर प्लैक्सस** (The Lumbar Plexus)=अनाहत चक्र।

(६) **लैरिन्जियल प्लैक्सस** (The Laryngeal Plexus)=विशुद्धि चक्र।

(७) **सैरेबलम प्लैक्सस** ( The Cerabellum Plexus )=आज्ञा चक्र।

**आज्ञा चक्र** :—इसकी दो पंखुड़ियाँ हैं।

(८) **सैंसोरियम** (Sensorium)—मानस चक्र।

इसकी छः पंखुड़ियाँ हैं।

(९) **मिडिल सैरेब्रम** (Middle Cerebrum)=सोम चक्र।

(१०) **अप्पर सैरेब्रम** (Upper Cerebrum)=सहस्रार।

उपर्युक्त दस मर्म स्थानों की चक्रों के साथ तुलना करने पर प्रतीत होता है कि मणीपूर चक्र वाम तथा दक्षिण दो भागों में विभक्त होकर तृतीय तथा चतुर्थ मर्म स्थान बन गया। मस्तिष्क के विश्लेषण में दो मर्म स्थान नये हैं जिन्हें क्रमशः मानस चक्र तथा सोम चक्र कहा गया है।

साधना के लिए चक्रों पर नीचे लिखे अक्षरों का ध्यान किया जाता

है। इनका विन्यास अकार आदि क्रम से किया गया है सर्व प्रथम स्वर आते हैं, जिन्हें व्यञ्जनों या वर्णों की मातृ का माना जाता है।

१. सबसे ऊपर आज्ञा-चक्र है, इस पर दो अक्षर हैं—ह और क्ष, जिन्हें ब्रह्म बीज माना जाता है। यह चक्र प्राणशक्ति रूप है।

२. उससे नीचे कण्ठ में विशुद्धि चक्र है, जो आकाशतत्त्व का बना है, इस पर सभी स्वरों का निवास है।

३. हृदय में अनाहत-चक्र है जो वायु-तत्त्व से बना है, इस पर क से लेकर ठ तक १२ व्यञ्जन है। इस चक्र की पंखुड़िया वाले कमल से उपमा दी जाती है। प्रत्येक पंखुड़ी पर एक-एक अक्षर है, इसी रूप में इसका ध्यान किया जाता है।

४. नाभि स्थान में मणीपूर चक्र है यह अग्नि-तत्त्व का बना है, इस पर ड से लेकर फ तक १० अक्षर हैं।

५. शिश्न के ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र है, यह जल-तत्त्व का बना है, इस पर ब से ल तक ६ अक्षर हैं।

६. सबसे नीचे मूलाधार-चक्र है, यह पृथ्वी तत्त्व का बना हैं, इस पर व, श, ष, स ४ अक्षर हैं।

चक्रों और अक्षरों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कहा जाता है कि तत्तत् अक्षर का उच्चारण करने के लिए सम्बद्ध चक्र में व्यापार होता है। वहीं से उस प्रकार की प्रथम स्फूर्ति होती है। संस्कृत में वर्णों का विभाजन कण्ठय तालव्य आदि के रूप में किया गया है। इस विभाजन का आधार वे स्थान हैं जो ध्वनि को विभिन्न रूपों में परिणत करते हैं, इस परिणति से पहले ध्वनि अपने आधार भूत चक्र को स्पर्श करती है और उसके संकेत पर बाह्य रूप लेती है। प्रत्येक अक्षर का उच्चारण करते समय चक्र में हल चल होती है, ध्यान पूर्वक देखनें पर इसे अनुभव किया जा सकता है। ह का उच्चारण करते समय भ्रू मध्यस्थ आज्ञा-चक्र में हलचल होती हैं, व का उच्चारण करते समय मूलाधार-चक्र में। ह के

उच्चारण में ललाट पर प्रभाव पड़ता है और व के उच्चारण में गुह्य भाग पर। चक्रों पर अक्षर-विन्यास के लिए यही सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है।

मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है, जो सगुण ब्रह्म रूप है। कुण्डलिनी योग के द्वारा उसे जागृत किया जाता है। जिससे वह ऊपर की ओर उठती है, उस समय प्रत्येक चक्र से सम्बद्ध महाभूत, सूक्ष्म-भूत अर्थात् तन्मात्रा और उससे बनी हुई इन्द्रिय उत्तरोत्तर अपने से ऊपर वाले केन्द्र में विलीन होती जाती है, उदाहरण के रूप में मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्त्व का बना है, वहाँ से जागृत होकर कुण्डलिनी स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती है, जो जल-तत्त्व का बना है इसके साथ ही पृथ्वी महाभूत, उसकी तन्मात्रा तथा उससे बनी हुई घ्राणेन्द्रिय जल तत्त्व से बनी रूपेन्द्रिय में विलीन हो जाती है। उसके ऊपर नाभि स्थान में मणीपूर चक्र है, यह अग्नि-तत्त्व का बना है, कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचने पर जल-तत्त्व अग्नि में विलीन हो जाता है और रसनेन्द्रिय चक्षु इन्द्रिय में। चोथा अनाहत चक्र हृदय में है, यह वायु तत्त्व का बना है। कुण्डलिनी के जागृत होने पर अग्नि तत्त्व वायु में विलीन हो जाता है ओर पांचवा विशुद्धि-चक्र कण्ठ में है। यह आकाश तत्त्व का बना है। कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचने पर वायु तत्त्व आकाश में विलीन हो जाता है। छठा आज्ञा-चक्र भोंहों के बीच में है, कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचने पर सभी तत्त्व प्राण में विलीन हो जाते हैं। मस्तिष्क के तालु स्थान में सहस्रार दल कमल है, कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचने पर प्राण तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है और ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। यही साधना का चरम लक्ष्य है। वहाँ पहुँचने पर शक्ति और शिव का संगम हो जाता है।

## ब्रह्मांड और हमारा व्यक्तित्व

ब्रह्मांड के मध्य में मेरुदंड है। जो ऊपर से लेकर नीचे तक फैला हुआ है। सबसे ऊपर सत्य लोक है और नीचे आवीचि नामक नरक।

दोनों के बीच छः ऊर्ध्व लोक और छः अधोलोक हैं, कुल मिलाकर चौदह लोक या भुवन हैं। मेरु में देवताओं अर्थात् विश्व का संचालन करने वाली महाशक्तियों का निवास हैं। उनके मुख्य केंद्र इस प्रकार हैं :—

(१) **आधार चक्र**—इसे ब्रह्मपद्म भी कहा जाता है। यह ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के मध्य में है। इसमें पृथ्वी तत्त्व है। काम स्वयं भू लिंग और कुलकुंडलिनी का निवास है। स्वयं भू लिंग पुरुष है और कुलकुंडलिनी स्त्री। पृथ्वी तत्व में विश्व की सृष्टि करने वाले ब्रह्म का निवास है। उनकी सहचरी सावित्री है। इसे कारण भूलोक कहा जाता है। यहाँ आध्यात्मिक सूर्य का निवास है।

(२) **स्वाधिष्ठान चक्र**—अथवा भीम पद्म। इसमें जलतत्व है। इस पर लक्ष्मी के साथ भगवान विष्णु का निवास है। यह सूक्ष्म भुवर्लोक है, जहाँ वैकुंठ नामक स्वर्ग है, जिसके अधिष्ठाता विष्णु हैं। वैकुंठ के दक्षिण में गोलोक है, जहाँ भगवान् विष्णु द्विभुज का रूप ले लेते हैं। उनके हाथ में बांसुरी है। यहाँ उनकी शक्ति राधा का रूप ले लेती है।

(३) **मणिपूर पद्म**—यह अग्नितत्त्व का बना है। यहाँ भद्रकाली के साथ रूद्र का निवास है। यह कारण स्वर्लोक है।

(४) **अनाहत पद्म**—इसमें वायुतत्त्व है। यहाँ भुवनेश्वरी के साथ ईश्वर का निवास है। वह नीचे के तीन लोकों का स्वामी हैं। तीनों के लोकपाल ब्रह्म, विष्णु और शिव भी उसके अधीन हैं। इसे कारण-महर्लोक कहा जाता है।

(५) **विशुद्धि पद्म**—इसमें आकाश तत्व है। इसके देवता अर्धनारीश्वर हैं। उन्हें महागौरी और सदाशिव भी कहा जाता है। उनका वाहन आधासिंह और आधावृषभ है। इसे कारण-जनलोक कहा जाता है।

(६) **आज्ञाचक्र अथवा आज्ञापद्म**—यहाँ कोई भूत नहीं है, इसका बीज समष्टिमन है। इसके देवता हैं परशिव और सिद्धकाली। इसे कारण-तपोलोक कहा जाता है। यहाँ आध्यात्मिक चन्द्र का निवास है।

(७) **सहस्रार पद्म**—यहाँ मूल प्रकृति का निवास है जो अन्य छः कारणों का भी कारण है। यहाँ शिव और शक्ति का निवास है। इसे सत्यलोक कहा जाता है।

ये सातों मेरुदंड में हैं। यह मेरु अन्दर से खोखला है। इसी में पृथ्वी आदि लोक तथा देवताओं का निवास है। सर्वप्रथम इसका ध्यान अपने शरीर में करना चाहिए। तत्पश्चात् ब्रह्मांड के मध्यस्तंभ के रूप में।

ब्रह्मांड-कुंडलिनी त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति का वाहन है। जिसका निवास सत्यलोक में है। वहां उसे महाकुंडलिनी कहा जाता है। इसी प्रकार भूलोक में कुल कुंडलिनी का निवास है जो प्रकृति का वाहन है। यही प्रकृति निम्न आठ रूपों में विभक्त है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि और अहंकार। कुंडलिनी अपने दो रूपों द्वारा नीचे से लेकर ऊपर तक समस्त केन्द्रों का संचालन करती है। मूलाधार तथा सहस्रार दोनों स्थानों पर उसने अपने फण द्वारा पुरुषशक्ति को स्तंभित कर रखा है। वह विश्व को लपेटे हुए है और पूंछ मुँह में ले रखी है। उसके घेरे में अधोमुख त्रिकोण है। (नोट—थियोसोफिकल सोसायटी ने इसे अपनी साधना में प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है।) त्रिकोण अर्ध नारीश्वर का प्रतीक है।

वर्तमान विज्ञान मानता है कि पृथ्वी के मध्य में एक धुरी है, जो उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक फैली हुई है। पृथ्वी की गति उसी धुरी के आधार पर होती है। इसी को तांत्रिक परिभाषा में मेरुदंड कहा जाता है।

पृथ्वी के समान हमारे शरीर में भी मेरुदंड है। जो नीचे से लेकर ऊपर तक फैला हुआ है। नीचे इसका स्थान गुदा और लिंग का मध्य भाग है। यहीं पर मूलाधार चक्र माना गया है। ऊपर सहस्रार चक्र है। इन दोनों के बीच समस्त नाड़ी चक्र है जो शरीर का संचालन करता

है। कुछ नाड़ियाँ मूत्र पुरीष आदि अनावश्यक तत्त्वों को बाहर फेंकने का काम करती है और कुछ भोजन के रूप में बाहर से ग्रहण की गई वस्तुओं का रस बनाकर समस्त शरीर में संचार करती है। इन सबके मध्य में मेरुदंड है, इसके दोनों ओर रक्त तथा श्वेत शिरा है। जो इन नाड़ियों को अनुप्राणित करती हैं। उसी में विभिन्न पद्मों या लोकों का निवास है। ये लोक चेतना के विभिन्न रूपों को प्रकट करते हैं। सबसे नीचे मूलाधार पृथ्वी तत्त्व को उपस्थित करता है, जहाँ समस्त वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। वह मातृ शक्ति है। स्वाधिष्ठान काम शक्ति का केन्द्र है, जहाँ से हलचल प्रारम्भ होती है। मणीपूर पाचन शक्ति का। ये तीन भौतिक अस्तित्त्व के लिए आवश्यक हैं। ऊपर के लोक चेतना शक्ति के साथ सम्बद्ध है।

योग साधना के साथ चौदह नाड़ियो का सम्बन्ध है। उनमें भी तीन मुख्य हैं—ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इनका भी मूल योनिस्थान है। जिसे मूलाधार पद्म कहा जाता है। मेरुदंड के बीच सुषुम्ना नाड़ी है जो मूलाधार से लेकर सहस्रार तक फैली हुई है। यही चेतना या ज्ञान शक्ति का केन्द्र है। ईड़ा और पिंगला सुषुम्ना के दोनों ओर है। इड़ा वाम अंडकोष से प्रारम्भ होती है और पिंगला दक्षिण अंडकोष से। वे सुषुम्ना नाड़ी को घेरे हुए है। उनका पाँच स्थानों पर संगम होता है। योनि, लिंगमूल, नाभि, हृदय तया कंठ। पिंगला कंठ से ऊपर उठकर भ्रूमध्य को घेरती हुई दक्षिण नासिका तक पहुँचती है। इड़ा भी इसी प्रकार घेरा बनाती हुई वाम नासिका में प्रवेश करती है। नाक के ऊपर आज्ञा चक्र है। दोनों नाड़ियाँ उसी का घेरा डालती हैं। इस प्रकार इड़ा और पिंगला का संगम छः स्थानों में होता हैं। आज्ञा के ऊपर और सहस्रार के नीचे दो पद्म हैं। इस प्रकार कुल संख्या नौ हो जाती है। सभी का स्थान मेरुदंड है।

नौ पद्म इस प्रकार है—

(१) सहस्रार पद्म, (२) नाद पद्म, (३) बिंदु पद्म, (४) आज्ञा पद्म, (५) विशुद्ध पद्म, (६) अनाहत पद्म, (७) मणीपूर पद्म, (८) स्वाधिष्ठान पद्म, (९) मूलाधार पद्म ।

इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम तीन पद्म प्रथम वर्ग में आते है, जो ज्ञान शक्ति का केन्द्र है । इस वर्ग में बाह्य प्रपंच का केवल विचारों के रूप में अस्तित्त्व रहता है ।

द्वितीय वर्ग का सम्बन्ध क्रिया शक्ति के साथ है । इसमें तीन क्रिया शक्तियों का निवास है । इस वर्ग में चित्त साकार हो जाता हैं । इसके घटक हैं, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ।

तृतीय वर्ग में इच्छा क्रिया और ज्ञान तीनों शक्तियाँ रहती हैं । यह वर्ग प्रथम दो वर्गों के अधीन है । इच्छा शक्ति का सम्बन्ध विश्व की रचना के साथ है । क्रिया शक्ति का संरक्षण के साथ और ज्ञान शक्ति का विनाश के साथ ।

इन सबके ऊपर सहस्रार और नीचे मूलाधार है । कुंडलिनी दोनों जगह है । सहस्रार को महासूर्य कहा जाता है । उसी के दिव्य प्रकाश में आद्याशक्ति महाकाली और परम शिव सदा के लिए परस्पर सन्नद्ध होकर निवास करते हैं । साधना के लिए इसे वाचक शक्ति कहा जाता है ।

सप्त-लोक—

| लोक | पुरुष शक्ति | नारी शक्ति |
|---|---|---|
| सत्य | परशिव अथवा महाविष्णू | आद्या शक्ति महाकाली |
| तप | शंभु | सिद्धकाली |
| ज्ञान | सदाशिव (अर्धनारीश्वर) | महागौरी |
| महा | ईश | भुवनेश्वरी |

| | | |
|---|---|---|
| स्वः | रुद्र | भद्रकाली |
| भुवः | विष्णु | राधा |
| भू | ब्रह्मा | सावित्री |

इन सात लोकों का वर्णन ज्ञान या चेतना के सात केन्द्रों के रूप में भी किया जाता है। दर्शनशास्त्र इन्हें तीन अवस्थाओं में विभक्त करता है—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत चेतना को विराट्, स्वप्न चेतना को हिरण्य गर्भ और सुषुप्ति चेतना को ईश्वर कहा जाता है। विराट में अन्तिम तीन केन्द्र हैं जिनके नाम हैं—भू, भुवः और स्वः। हिरण्य गर्भ में मह, जन और तप। ईश्वर में सत्य। ब्रह्म चेतना से विष्णु चेतना, उससे रुद्र चेतना और उससे ईश्वर चेतना श्रेष्ठ है। उनके ऊपर सदाशिव हैं, उसके ऊपर शंभु तथा उसके ऊपर परमशिव। उसकी चेतना सर्व श्रेष्ठ है।

द्वितीय विभाजन महत् से लेकर पाँच भूतों तक है। कुलकुंडलिनी विश्व की महाशक्ति है। उसका वाहन हंस है। जिसका प्रतिपादन दर्शन तथा धर्म दोनों में मिलता है। हंस का अर्थ है विश्व की प्राण शक्ति जो द्वंध को लिए हुए हैं। उस पर सवार होकर महा शक्ति विश्व की रचना करती है।

कुल कुंडलिनी मूलाधार में सोई हुई है। उसने स्वयंभू के रूप में शब्द ब्रह्म को घेर कर अपने फन से उसके मुख को ढक रखा हैं। निरंतर शब्द करने पर भी उसे सुप्त कहा जाता है।

प्राण शक्ति से जो ध्वनि निरन्तर होती रहती हैं उसी का नाम हंस है। हंस अर्थात् शब्द से अर्थ या रूप की सृष्टि होती है और वह विविध विश्वों का रूप लेता है। प्राण शक्ति में पुरुष और शक्ति दोनों तत्त्व मिले हुए हैं। पुरुष तत्त्व का कार्य प्रसार है और स्त्री तत्त्व का संकोच। प्रत्येक शरीर में प्राण शक्ति प्रश्वास तथा निश्वास के रूप में प्रकट होती रहती है। यही जीवन का आधार है। स्वाभाविक निश्वास से ऐसी

ध्वनि निकलती हैं जो सुनाई नहीं देती—इसे अजपा मन्त्र कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति भान न होने पर भी उसका पाठ करता रहता है। विश्व की प्राण शक्ति में भी इसी प्रकार का अजपाजप चलता रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि से शक्ति के दो रूपों को प्रवृत्ति और निवृत्ति कहा जा सकता है। कहा है—

**सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी**
**संसार बन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी।**

वही शक्ति विद्या के रूप में मोक्ष का कारण है और अविद्या के रूप में बन्धन का।

## महाभूतों की धारणा अथवा भूत शुद्धि

महाभूत पाँच हैं— पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। धारणा का अर्थ है चित्त को इनमें बाँधना।

**१—पृथ्वी-धारणा** :—पैर से लेकर जानु पर्यन्त पृथ्वी मण्डल है। उसका वर्ण हरताल के समान पीला है। आकार चतुष्कोण, अधिष्ठाता ब्रह्मा और बीज ल। प्राणों को स्थिर करके पाँच घड़ी पर्यन्त उपर्युक्त धारणा करनी चाहिए। इसके अभ्यास से ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं शरीर या शरीर में आबद्ध नहीं हूँ। मैं विशाल पृथ्वी हूँ। उस पर बहने वाले नद और नदियाँ मेरे शरीर की नस-नाड़ियाँ हैं। समस्त कीटाणु रोग है। समस्त पार्थिव शरीर मेरे अपने ही अङ्ग हैं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि पृथ्वी धारण सिद्ध होने पर अन्य किसी प्रकार का रोग नहीं होता।

**२. जल-धारणा**—जानु से लेकर पायु अर्थात् गुदातक जल का स्थान है। जल-मंडल शख, चन्द्रमा और कुन्द के समान श्वेत वर्ण है, उसका बीज अमृतमय 'वं' है। अधिष्ठाता भगवान नारायण हैं जो चतुर्भुज पीताम्बर तथा स्फटिक के समान श्वेत हैं। जल-मंडल का चिंतन

करते हुए उसे प्राणों के साथ हृदय तक ले आना चाहिए और ५ घड़ी तक चिंतन करना चाहिए। इस चिंतन से अनुभव होने लगता है कि मैं जल तत्त्व हूँ। पृथ्वी का कण-कण मेरे अमृत रस से स्निग्ध है। अमृत और विष दोनों मेरे स्वरूप हैं। कुसुम की सुकुमारता और पाषाण की कठोरता मेरा ही स्वभाव है। पृथ्वी मेरा ही परिणाम है। मैं ही जल के रूप में प्रगट हुआ हूँ। मैं ही नारायण का अवास स्थान हूँ। जल-धारणा सिद्ध हो ज.ने पर समस्त ताप मिट जाते हैं, अन्तः करण के विकार धुल जाते हैं। आगध जल में भी मृत्यु नहीं होती।

३. **अग्नि-धारणा**—गुदा से लेकर हृदय पर्यन्त अग्नि मंडल है। वर्ण रक्त है, आकार त्रिकोण। मुख्य केन्द्र नाभि और बीज 'रं' है। अधिष्ठाता रुद्र है। इसका चिंतन करते हुए प्राणों को स्थिर करे। यह धारणा सिद्ध होने पर ऐसा अनुभव होता है कि मैं अग्नि हूँ। आँखों से दिखाई देने वाला मैं ही हूँ। मणियों की चमक, पुष्पों का सौंदर्य और नक्षत्रों का प्रकाश मेरे ही कारण है। सूर्य, चन्द्रमा और विद्यु त रूप में मैं ही प्रकाशित होता हूँ। जल और पृथ्वी मेरी ही लीलायें हैं। सबके उदर में रह कर मैं ही शरीर का धारण और पोषण करता हूँ। नेत्र ज्योति के रूप में मैं ही सब कुछ देखता हूँ। समस्त देवताओं का शरीर मेरे द्वारा बना है। पाँच घड़ी पर्यन्त अग्नि धारणा सिद्ध होने पर कालका भय नहीं रहता। साधक का शरीर यदि धधकती हुई आग में डाल दिया जाय तो भी नहीं जलता। इस धारणा में रुद्र का चिंतन इस प्रकार किया जाता हैं—रुद्र भगवान मध्याह्न सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी हैं, आँखें तीन हैं। सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगाये हुए हैं और प्रसन्न होकर वर देने को उत्सुक हैं।

४. **वायु-धारणा**—हृदय से लेकर भौंहों के बीच तक वायु मंडल है, वर्ण अञ्जन के समान काला, वह अमूर्त तथा शक्ति रूप है, बीज 'यं' और अधिष्ठाता ईश्वर। प्राणों को स्थिर करके हृदय में इसका चिंतन करना

चाहिए। पाँच घड़ी की भावना से ऐसा अनुभव होता है कि मैं वायु हूँ। अग्नि मेरा ही विकास है। इस अनन्त आकाश में सूर्य चन्द्रमा पृथ्वी आदि को मैंने ही धारण कर रखा है। मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तु में जो आकर्षण विकर्षण शक्ति है वह में ही हूँ। ब्रह्मांड मंडल मेरे क्रीड़ा कंदुक हैं, मैं गति स्वरूप हूँ। सबकी गतियाँ मेरी कला है, समुद्र में मैं ही तरंगे उठाता हूँ। वृक्षों को हिलाकर पुष्पवर्षा करता हूँ। श्वासोछ्वास बन कर सबको जीवन दान कर रहा हूँ। मेरी गति अबाध है। वायु धारणा सिद्ध होने पर साधक आकाश में विचरण कर सकता है। वायु रहित स्थान में भी जीवित रह सकता है। न जल में डूबता हैं, न आग में जलता है और न सूखता है। बुढ़ापा और मौत स्पर्श नहीं करते।

५. **आकाश-धारणा**—भ्रूमध्य से लेकर मूर्धापर्यन्त आकाश मंडल है। वर्ण समुद्र के निर्मल जल के समान। बीज 'हं'। अधिष्ठाता भगवान सदाशिव जिनका वर्ण स्फटिक के समान श्वेत है। जटा पर चन्द्रमा, पांच मुख, दस हाथ और तीन आँखें। हाथों में अस्त्र-शस्त्र हैं। दिव्य आभूषणों से आभूषित हैं। समस्त कारणों के कारण हैं, पार्वती द्वारा आलिङ्गित हैं, प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं। प्राणों को स्थिर करके पांच घड़ी पर्यंत अभ्यास करने से ऐसा अनुभव होता है कि "मैं आकाश हूँ। अनन्त हूँ, देशकाल मुझ में कल्पित हैं। अनंश हूँ। मेरा जिन विशेषणों द्वारा वर्णन किया जाता है, वे केवल आरोपित हैं। मन ही मुझ में हृदयाकाश और बाह्याकाश की कल्पना करता है। में एक-रस चिद्घन हूँ। न मेरे भीतर कुछ है और न बाहर। मैं सन्मात्र हूँ।" आकाश धारणा के सिद्ध होने पर मोक्ष का द्वार खुल जाता है। सारा विश्व मनोमय प्रतीत होता है। सृष्टि और प्रलय का अस्तित्त्व अथवा महत्त्व नहीं रहता मृत्यु के वाच्यार्थ का अभाव हो जाता है। केवल लक्ष्यार्थ शेष रहता है इसका अर्थ है **स्वरूप मात्र में स्थिति।**

**धारणाओं का क्रम**—सर्व प्रथम पृथ्वी मंडल का चिंतन करके उसे जल मंडल में विलीन करना चाहिए। जल मंडल को अग्नि मंडल में, अग्नि मंडल को वायुमंडल में और वायु मंडल को आकाश में। इस प्रकार क्रमशः कार्य को कारण में विलीन करते हुए सबको परम कारण सदाशिव में स्थापित करे। अन्त में सदाशिव को आत्मस्वरूप जानकर उन्हीं में लीन हो जाय। इस विषय में अनुभवी योगियों का उपदेश है कि प्रत्येक मंडल का चिंतन करते समय प्रणव के द्वारा तीन-तीन प्राणयाम करके कार्य मंडल को कारण मंडल में हवन करदे। 'ओ३म् अमुक मंडलं अमुक मंडले जुहोमि स्वाहा।' इसी प्रकार संपूर्ण मंडलों का लय करके अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाए।

सब शरीर पांच भौतिक हैं। इनमें तीन तत्त्व हैं—वात, पित्त और कफ। पंचभूतों की धारणा से तीनों तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। अग्नि धारणा से वातज, पृथ्वी और जल धारणा से श्लेष्मज, वायु धारणा से पित्तज और श्लेष्मज दोनों, तथा आकाश धारणा से त्रिदोष जनित सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

पंचभूतों की धारणा से कैसे अनुभव होते हैं, इसका वर्णन योग-वाशिष्टान्तर्गत निर्वाण प्रकरण में आया है। (प्रकरण ८८-९२) शीघ्र ही यह अनुभूति होने लगती है कि स्थूल प्रपञ्च मनोमय है। आगे चलकर मन की चिन्मयता का अनुभव होता है और यही जड़ स्फूर्ति और जड़ तत्त्व वासना से शून्य अन्तःकरण की शुद्धि है। जब शुद्ध अन्तःकरण में तत्त्व को स्वीकार करने की योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एक रस तत्त्व का बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनाओं का चरम फल है।

## वायवीय धारणा के अन्य प्रकार

**प्रथम प्रकार वायवीय धारणा**—सिद्धासन या पद्मासन से बैठकर सर्वप्रथम रेचक अर्थात् श्वास को दक्षिण नासिका से बाहर निकाल देना चाहिए। इसके पश्चात् वाम नासिका से धीरे-धीरे पूरक करना चाहिए और यह ध्यान करना चाहिए कि प्राणवायु दायें पैर के अँगूठे तक पहुँच

गई है। इसके पश्चात् क्रमशः ऊपर के अंगों का ध्यान किया जाता है। अँगूठे के बाद पैर के तलवे पर मन स्थिर करना चाहिये। इसके पश्चात मध्य भाग पर, फिर एड़ी पर, तत्पश्चात् टखने पर। इस प्रकार गुल्फ, जंघा, जानु (घुटना), जघन, गुदा, लिङ्ग, नाभि, उदर, हृदय, (दक्षिण पार्श्व) कंठ, जिह्वा, तालु, नासिकाग्र, दक्षिण नेत्र, दक्षिण भ्रकुटि, कपाल और मस्तक का ध्यान करते हुये ब्रह्मरंध्र अर्थात चोटी के नीचे वाले स्थान में पहुँच जाना चाहिए। इसके पश्चात उल्टे क्रम से नीचे उतरना चाहिए इसमें दक्षिणपार्श्व के स्थान पर वाम पार्श्व का ध्यान किया जाता है। इस प्रकार सारे शरीर का आलोड़न करना चाहिए। अन्त में मन को नाभि-चक्र में ले जाकर वायु का रेचन किया जाता है।

इस धारणा से शरीर शुद्ध हो जाता है। रोग मिट जाते हैं। हलका-पन तथा स्फूर्ति आती है। जिस अंग पर मन को स्थिर किया जाता है, उसी में रक्त का तीव्र गति से संचार होने लगता है। परिणामस्वरूप समस्त विकार दूर हो जाते हैं। हृदय में मन स्थिर होने पर चित्त प्रफुल्ल हो जाता है। ललाट तथा मस्तक में की गई धारणा बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों को तीव्र करती है।

### द्वितीय विधिप्रकार

ऊपर जिस प्रकार धारण का निरूपण किया गया। इसमें प्राण वायु के साथ मन को शरीर के समस्त अंगों पर स्थित किया जाता है। दूसरा प्रकार मन को एक ही अंग पर देर तक स्थिर करने का है। विभिन्न अंगों की धारणा विभिन्न शक्तियों का विकास करती है। इसके लिए नीचे लिखे अंगों का विधान है :—

(१) नाभि—इस पर धारणा करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, कोष्ठद्धता दूर होती है और उदर संबंधी विकार मिट जाते हैं।

(२) हृदय—इसमें ऊपर पंखुड़ी वाले कमल की धारणा की जाती है, इस से अविद्या का नाश होता है। इंद्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण

घटता है, संकल्प विकल्प दूर होते हैं, ज्ञान का प्रकाश फैलता है। इसमें वायु की सूक्ष्मगति का भी ध्यान होने लगता है। साधक को ज्ञान होने लगता है कि वह किस नाडी में वह रही है तथा कहाँ तक शुद्ध है ?

इसी प्रकार नासिकाग्र, भृकुटी, ललाट, तालु, नेत्र, मुख, कर्ण, ब्रह्मरंध्र आदि की धारणा की जाती है।

इससे साधक को अनेक प्रकार की अनुभूतियां होती है, विभिन्न प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं, किंतु विचलित न होकर अभ्यास बढ़ाते जाना चाहिए। प्रारम्भ करते समय मन चंचल रहता है। एक स्थान पर नहीं ठहरता। किंतु दीर्घकाल तक निरंतर अभ्यास करने से वह स्थिर होने लगता है। उसके पश्चात् धीरे-धीरे समय की वृद्धि करते जाना चाहिए। अंत में परिपूर्ण धारणा की सिद्धि हो जाती हैं। पंचभूतों की धारणा को भूतसिद्धि भी कहते हैं।

**धारणा का अभ्यास**—अभ्यास का प्रारम्भ किसी वाह्य स्थान से करना चाहिए। वाह्य धारणा सिद्ध होने पर अभ्यंतर अजंपन पर अभ्यास किया जा सकता है। अन्त में आत्मा पर धारणा की जाती है। इसके लिये आत्मा के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है, उसके बिना धारणा नहीं हो सकती। आत्म-धारणा का समय ज्यों-ज्यों बढ़ता है, शुद्ध चेतना प्रकट होती जाती है। हृदय में निर्मलता ज्ञान तथा सुख का विकास होता है। संकल्प विकल्प दूर होते हैं।

## न्यास-विद्या

न्यास-विद्या शरीर को प्राणवान शक्तिशाली बनाने का उत्तम साधन है। इससे प्रत्येक अंग को नवीन स्फूर्ति प्राप्त होती है। रक्त-हीनता तथा दुर्बलता मिट जाती है। निर्जीव अंग नवजीवन प्राप्त करता है।

न्यास का अर्थ है स्थापना। समस्त शरीर अथवा विभिन्न अंगों पर ईश्वरीय शक्ति की स्थापना को न्यास विद्या कहते हैं। साधक यह अनुभव

करता है कि मेरे अंग में ईश्वरीय शक्ति का संचार हो रहा है। यह अनुभूति ही न्यास विद्या का रहस्य है।

इनमें सर्वप्रथम परमात्मा या देवता का आह्वान किया जाता है, तत्पश्चात् साधक उसे अपने शरीर में प्रतिष्ठित करता है। यह ध्यान करता है कि मेरे प्रत्येक अंग में परमात्मा का अग व्याप्त हो गया। हाथों में उसके हाथ, पैरों में उसके पैर, हृदय में उसके हृदय और मस्तक में उसके मस्तक की कल्पना करता है। इस प्रकार भौतिक अस्तित्त्व दिव्य अस्तित्त्व में परिणत होता जाता है। प्रत्येक अंग के साथ परमात्मा का तादात्म्य स्थापित होने पर साधक को अपने व्यक्तित्व में परमात्मा के व्यक्तित्त्व की अनुभूति होने लगती है। वास्तव में परमात्मा का अस्तित्त्व पहले से ही होता है, न्यास द्वारा उसकी अनुभूति कराई जाती है।

हमारा शरीर और मन परमात्मा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। उससे भिन्न नहीं है, जब तक साधक को इस तथ्य का भान नहीं होता वह बहिर्मुख रहता है। साधना द्वारा वह अपने में उस दिव्य अस्तित्त्व को उस दिव्यशक्ति की अभिव्यक्ति समझे, जो वस्तुतः उससे भिन्न नहीं है।

न्यास का शारीरिक या बाह्य प्रभाव भी होता है। क्योंकि शारीरिक चेष्टओं का संचालन मन के द्वारा होता है। जब साधक शुद्ध एवं शांत होकर समाधि में लीन हो जाता है तो उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। न्यास में की जाने वाली हस्तसंचालन आदि क्रियाएँ शरीर में विभिन्न नाड़ी केन्द्रों को प्रभावित करती हैं। जिससे सारे शरीर में शक्ति का समुचित वितरण होने लगता है। प्रत्येक केन्द्र अपनी-अपनी रचना के अनुसार उस शक्ति का ग्रहण एवं प्रसार करने लगता हैं। न्यास के द्वारा जिस भाव को लाया जाता है मन उसी पर स्थिर हो जाता है। अब न्यास के विविध रूपों का दिग्दर्शन कराएंगे।

## जीवन्यास

इस अनुष्ठान का रहस्य समझने से पहले उसकी प्रक्रिया जान

लेना चाहिए। साधक भूतशुद्धि के द्वारा अपवित्र शरीर को भस्म करके नया दिव्य शरीर प्राप्त कर लेता है। उसके पश्चात जीवन्यास किया जाता है। इसका अर्थ है परमात्मा को अपने शरीर में प्रतिष्ठित करना। हृदय पर हाथ रखकर कहता है —'सोऽहम्' अर्थात् में वही हूँ। इस प्रकार परमात्मा के साथ अपनी एकता स्थापित करता है। इसके पश्चात विभिन्न अंगों का स्पर्श करते हुये उस एकता को उत्तरोत्तर दृढ़ बनाता है। प्रत्येक अंग का स्पर्श करके 'ओ३म्' का उच्चारण करता है और परमात्मा के साथ संबंध जोड़ता है। ध्यान करता है "परमात्मा के प्राण ही मेरे प्राण हैं। परमात्मा का जीवन ही मेरा जीवन है। परमात्मा का अस्तित्व ही मेरा अस्तित्व है। परमात्मा का ज्ञान ही मेरा ज्ञान है। परमात्मा का सुख ही मेरा सुख है। मेरी इन्द्रियाँ परमात्मा की ही विविधि शक्तियां हैं। मेरे प्राण, मन, तथा वाणी में परमात्मा की शक्ति का संचार हो रहा है। वह मेरे कानों को सुनने की शक्ति प्रदान कर रहा है। आँखों को देखने की, नासिका को सूँघने की, जिह्वा को रसज्ञान की तथा समस्त शरीर को स्पर्श की। वही वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। भुजाओं को बल देता है, पैरों में चलने की शक्ति भरता है और जननेन्द्रिय में आनन्दोपभोग की। वह मेरे कण-कण में व्याप्त है।"

## मातृका-न्यास

मातृका का अर्थ है संस्कृत वर्णमाला के पचास अक्षर। शब्दब्रह्म से समस्त जगत की उत्पत्ति होती है और वह वर्णों के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः उन्हें मातृका या माता कहा जाता है। मंत्र देवता का शरीर है। जो अक्षरों से बनता है। साधक सर्वप्रथम अक्षरों को अपने शरीर के अन्दर चक्रों पर प्रतिष्ठित करता है। इसे अन्तर मातृका-न्यास कहते हैं। इसके पश्चात् शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बाह्य मातृका-न्यास करता है। वर्णमाला के अक्षर देवता के विभिन्न अंग माने जाते

हैं। वे मिलकर संपूर्ण देवता को साधक के शरीर में प्रतिष्ठित कर देते हैं। वह अपने हाथ को शरीर के विभिन्न अंगों पर रखकर संबद्ध अक्षरों का उच्चारण करता है। आभ्यंतर-न्यास का निरूपण षट्चक्रों के साथ किया गया है। प्रत्येक अक्षर की आवृत्ति नीचे लिखे अनुसार की जाती है—

"औ३म् हं नमः, ओ३म् क्षं नमः," इत्यादि।

बहिर्न्यास की विधि निम्नलिखित है—

(क) स्वरों का न्यास शिरोभाग में किया जाता है—

ललाट = अ।

मुख, = आ।

दक्षिण और वाम नेत्र, = इ तथा ई।

दक्षिण और वाम नासिका, = उ तथा ऊ।

दक्षिण और वाम कपोल, = ऋ, लृ।

ऊपर तथा नीचे का ओष्ठ, = ए, ऐ।

ऊपर तथा नीचे के दाँत, = ओ, औ।

सिर, = अं।

मुख-विवर = अः।

(ख) व्यजनों का न्यास ग्रीवा से नीचे किया जाता है—

दक्षिण बाहुमूलः—क

कुहनी = ख

कलाई = ग

अंगुलियाँ—अंगूठे से लेकर कनिष्ठा तक क्रमशः—घ, ङ, च, छ, ज,।

वाम बाहुमूलः—झ

कुहनी = ञ

कलाई—ट

अंगुलियाँ = अंगूठे से लेकर कनिष्ठा तक क्रमशः—ठ,ड,ढ,ण,त।

दक्षिण जंघा (घुटने से नीचे का भाग)—थ
वाम जंघा (घुटने से नीचे का भाग)—द
दक्षिण कटि (घुटने से ऊपर कटि तक)—ध
वाम कटि ( ,, ,, )—न
पीठ————प
गुदा————फ
लिंग————ब
नाभि————भ
हृदय————म
दक्षिण-स्कंध———य
वाम स्कंध———र
दक्षिण ककुद् (कंधों के बीच की जगह)—ल
वाम ककुद् ( ,, ,, )—व
हृदय से लेकर दक्षिण हथेली तक—श
,, ,, वाम ,, ,,—ष
,, ,, दांए पैर ,,—स
,, ,, वांए ,, ,,—ह
,, ,, उदर तक———क्ष
,, ,, मुख ,, ———त्र
,, ,, मस्तक ,, ———ज्ञ

अन्यत्र कहा गया है—

मस्तक पर ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, लिंग पर बीज, चरणों में शक्ति तथा शरीर के सर्वअंगों पर कालिका का न्यास करना चाहिए।

यदि मातृका विलोम क्रम से संपादित की जाय तब इसे संहार मातृका कहा जायेगा। और यदि श्रीकंठ से नीचे पर्यन्त क्रमशः इसका न्यास किया जाय तो इसे श्रीकंठादि मातृका कहेंगे।

## मातृकान्यास के लिए मुद्रा

न्यास मानस में अथवा पुष्पों के साथ या अंगुष्ठ और अनामिका से होना चाहिए। गौतमीय तंत्र के अनुसार चार प्रकार की मातृकाएं हैं—

(१) केवल अर्थात् शून्य मातृका (शुद्ध अक्षरों का विन्यास जैसे क, ख आदि);

(२) बिन्दुमातृका विन्यास (अनुसार के साथ विन्यास जैसे कं, खं आदि)

(३) विसर्ग मातृका (विसर्ग के साथ विन्यास जैसे कः, खः, आदि)

(४) विसर्ग बिन्दु मातृका विन्यास (प्रत्येक अक्षर का विसर्ग व बिंदु दोनों के साथ विन्यास।

केवल मातृका विद्या, बिन्दु मातृका भोग, विसर्ग मातृका पुत्र तथा विसर्ग बिन्दु मातृका मोक्षदायक मानी गई है

## ऋषिन्यास

ऋषि का अर्थ है वह साधक जिसे मन्त्र का साक्षात्कार हो जाता है "पश्यतीति ऋषि"। ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः।

तंत्रों में ऋषि की व्याख्या निम्नलिखित है—

जो साक्षात महेश्वर से मंत्र प्राप्त करता है। उनके आदेशों का यथावत पालन करता है। जो मंत्र का विधि पूर्वक अभ्यास करके देवता विशेष का साक्षात्कार कर लेता है। वह उस देवता के मंत्र का ऋषि है।

इस जप में क्रमशः ऋषि, फिर छंद और अंत में देवता को स्थान दिया जाता है। यह ऋषिन्यास है। ऋषि गुरु के स्थानवर्ती है अतएव उसके न्यास को मस्तक पर धारण करना चाहिए। छंद, छादन अर्थात् मंत्रों के विभिन्न अवयवों को परस्पर नियोजित करता है, यह अक्षरों और पदों में होता है, इसका न्यास मुख में होना चाहिए। देवता हृदय-

कमल में संस्थित है अतः उसका न्यास हृदय में होता है। ऋषि और छंद का ज्ञान न होने पर साधक को मंत्र सिद्धिदायक नहीं होगा।

इस की एक विधि निम्नलिखित है—मस्तक में ब्रह्मा तथा ब्रह्मर्षियों को स्थापित किया जाता है। मुख में गायत्री तथा अन्य छंदों को, हृदय में विश्वजननी काली को, गुह्य अंगों में बीजाक्षर 'क्रीं' को, पैरों में 'ह्रीं' को। समस्त शरीर में 'श्रीं' और कालिका को।

**४ षडंगन्यास—**

इस में भी शरीर पर अक्षरों का न्यास किया जाता है और उनके साथ नमः लगाया जाता है। साथ में मंत्र का उच्चारण और हृदय में स्वाहा, नेत्रों में ह्रीं। मस्तक में वशट्, करतल और करपृष्ठ में फट् का उच्चारण किया जाता है।

**५ करन्यास**

करन्यास में अंगुष्ठ तथा अंगुलियों पर मंत्रों का न्यास किया जाता है।

**६ बीज-न्यास—**

बीज का अर्थ है मंत्र। उसे कागज पर लिखकर ताबीज के रूप में अंग विशेष पर धारण करना, जिसे रत्न भी कहते हैं।

**७ अंग-न्यास—**

अग विशेष पर देवता का न्यास करना।

**८ व्यापकन्यास—**

सारे शरीर में देवता के अस्तित्व की अनुभूति करना।

**सूक्ष्मध्यान—**

इसमें शांभवी मुद्रा द्वारा भ्रूमध्य में ज्योति का दर्शन किया जाता है। जब हम आँखें बंद करके नाक के ऊपर भौंहों के बीच ज्योति का चिंतन

करते हैं तो कुछ दिनों बाद वहाँ प्रकाश दिखाई देने लगता है। एकाग्रता पूर्वक निरीक्षण करने पर यह प्रकाश उत्तरोत्तर स्पष्ट होता चला जाता है। इसी को सूक्ष्म ध्यान कहा जाता है।

## अभेद का ध्यान

वेदांत की यह मान्यता है कि सारा विश्व एक ही सत्ता का बाह्य रूप है। परब्रह्म परमात्मा ही नाना रूपों में प्रतीत होता है। साधक इस भेद से अभेद की ओर पहुँचने का प्रयत्न करता है। उसी का ध्यान करता है। उसमें चिंतन की कुछ विधियाँ निम्नलिखित हैं।

ध्यान करते समय आँखें बन्द कर लेनी चाहिए या दृष्टि को नासिकाग्र पर जमा देना चाहिए। तत्पश्चात् निम्नलिखित चिन्तन करना चाहिए।

(१) **प्रथम विधि**—मन को चित्त अर्थात् आभ्यन्तर चेतना पर जमा देना चाहिए। उसमें जो अनुभूतियाँ या कल्पनाएँ उठें उन सबमें यह भावना करनी चाहिए कि वे मिथ्या हैं। इस प्रकार उनका निराकरण करते जाना चाहिए। उपनिषदों में इसके लिए पंचकोष विवेक की प्रक्रिया बताई है। हमारी आत्मा को पाँच कोष अर्थात् आवरणों ने घेर रखा है। सबके ऊपर स्थूल शरीर हैं। इसे अन्नमय कोष कहा जाता है। यह पांच महाभूतों का बना है। इसके अन्दर प्राणमय कोष है जो नीचे लिखे पन्द्रह तत्त्वों का बना है—(क) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ: श्रोत्र, चक्षु, नासिका, रसना और त्वचा, (ख) पाँच कर्मेन्द्रियाँ: जिह्वा, हाथ, पैर, गुदा और जननेन्द्रिय, (ग) पाँच प्राण:—

(१) प्राण—हृदयस्थ वायु
(२) अपान—अधोवायु
(३) समान—नाभिस्थ वायु
(४) व्यान—सारे शरीर में व्याप्त रहने वाला वायु
(५) उदान—कंठस्थ वायु

ये सब वायु शरीर के संचालन में भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। तीसरा कोष मनोमय हैं। यह संकल्प-विकल्प और इच्छाओं का काम करता है। चौथा कोष विज्ञानमय है। इसी को बुद्धि कहा जाता है जो भले बुरे का विचार करती है। पाँचवा आनन्दमय कोष है, इसके द्वारा सुख की अनुभूति होती है। आत्मा इन सबसे परे है।

क्रमशः यह चिन्तन करना चाहिए कि मैं शरीर, प्राण; मन, आदि से परे हूँ। इस प्रकार विवेक करने पर उन सबका अपलाप होता जाएगा। मन के संकल्प-विकल्प मिटते जाएँगे। केवल भेद-बुद्धि रह जाएगी। अंत में वह भी अपने आप शांत हो जाती है। उसके पश्चात् ज्ञाता, ज्ञान, तथा ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता। एक अखंड, शुद्ध परमात्मा की अनुभूति होती है। अनुभूति करने वाला भी अपने आपको भूलकर उसमें लीन हो जाता है।

(२) **द्वितीय विधि**—पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने व्यापार से रोक दिया जाय। हमारा मन इन्द्रियों के रास्ते बाहर निकलता है। इनके रुक जाने पर उसका भी बाहर जाना रुक जाएगा तत्पश्चात् मन में अनुभूत विषयों के संकल्प-विकल्प उठने लगेंगे। उन्हें रोक कर उनके स्थान पर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। परमात्मा के गुणों का ध्यान करना चाहिए। प्रयत्न करना चाहिए कि अन्य कोइ विचार उत्पन्न न हो। अभ्यास करने पर परमात्मा की अनुभूति प्रवल होती जाएगी और दूसरी अनुभूतियाँ मन्द होतीं जाएँगी। एक दिन परमात्मा के गुणों की निरन्तर धारा बहने लगेगी। साधक अपने आप को भी भूल जायगा। उसे यह भान भी नहीं रहेगा कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। आगे बढ़ने पर गुणों की अनेकता का भान भी मिटता चला जाएगा। वे सब एक ही परमसत्ता में विलीन हो जाएँगे। भेद की अनुभूति समाप्त हो जाएगी और एक अखंड अनुभूति होने लगेगी।

(३) **तृतीय विधि**—इस ध्यान में कार्य से कारण और व्यष्टि से समष्टि पर पहुँचा जाता है। हम घड़ा, सकोरा, सुराही, दिया आदि अनेक रूपों को देखते हैं। वास्तव में देखा जाय तो वे सब मिट्टी हैं। जब हम उन्हें मिट्टी के रूप में देखते हैं तो अनेकता के स्थान पर एकता आ जाती है। इसी प्रकार मिट्टी-पानी आदि महाभूत भी किसी एक महाभूत से उत्पन्न हुए हैं। वह महाभूत आकाश है। आकाश भी आत्मा से उत्पन्न हुआ है। आत्मा किसी से उत्पन्न नही हुआ। वह अनादि और अनन्त है, शाश्वत है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं की पृथक्-पृथक् सत्ताएँ किसी एक सत्ता में विलीन होती चली जाती है और हम अन्त में परमात्मा पर पहुँच जाते हैं।

दूसरा रूप व्यष्टि से समष्टि की ओर है। मान लीजिए कमरे में खाली मटका रखा है। उसके अन्दर आकाश है, कमरे में भी आकाश है, वास्तव में देखा जाय तो घड़े का आकाश कमरे के आकाश से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार कमरे का आकाश समस्त विश्व को व्याप्त करने वाले महाकाश से भिन्न नहीं है। घड़ा और कमरा घेरे या उपाधियां हैं। वे असीम को सीमित बना देते हैं, व्यापक को संकुचित कर देते हैं। उन घेरों के समाप्त होते ही संकुचित सत्ता महासत्ता में मिल जाती है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। सारा विश्व उसमें समाया हुआ है और वह उससे भी परे है। किन्तु अन्तःकरण का घेरा उसे संकुचित बना देता है। इसी को अविद्या, अज्ञान, क्लेष, मोह, तृष्णा, कंचुक आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। साधक यह ध्यान करता है कि वह घेरा मिथ्या कल्पना है। इस प्रकार अपने संकुचित अस्तित्त्व को विराट् अस्तित्त्व में मिला देना चाहता हैं। इसी का अर्थ है जीव का ब्रह्म में लीन होना।

(४) **चतुर्थ विधि**—पृथ्वी और आकाश, स्वर्ग और नरक, जड़ और चेतन, मनुष्य और पशु चर और अचर समस्त जगत् में एक ही परमात्मा

व्याप्त है। पृथ्वी में उसी की धारण शक्ति है, पानी में उसी की निर्मलता और शीतलता है. अग्नि में उसी का तेज है, वायु में उसी का वेग और आकाश में उसी की विशालता। समस्त जगत् उसी से उत्पन्न हुआ है, उसी में स्थिर है और उसी में लीन हो जायगा। यह हलचल उसका खेल है। प्राणी उसके खिलौने है। वह जिसे चाहता है, बनाता है और जिसे चाहता है, बिगाड़ डालता है। उसकी इच्छा पर किसी का नियंत्रण नहीं है। वही विश्व का निमित्त कारण है और वही उपादान कारण। वही कुम्हार और वही मिट्टी। वही सुनार और वही सोना। वही लुहार और वही लोहा। वही रंगमंच है, वही सूत्रधार। वही अभिनेता और वही दर्शक। साधक यह ध्यान करता है कि मैं उसके हाथ का खिलौना हूँ। वह मुझे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कभी दर्शक बना देता हे और कभी अभिनेता। प्रत्येक अवस्था उसका वरदान है। इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करता हुआ वह भेद से अभेद की ओर बढता है। अनेकता से एकता की ओर अग्रसर होता है। धीरे-धीरे भेद बुद्धि मिटती चली जाती है और अखंड परमात्मा का भान शेष रहता। यह भान भी नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। ध्याता ध्येय में लीन हो जाता है।

(५) **पंचम विधि**—इसमें परमात्मा का ध्यान एक महासमुद्र के रूप में किया जाता है। साधक यह ध्यान करता है कि परमात्मा शांत समुद्र के समान है जो शक्ति, ज्ञान और सुख का अनन्त भंडार है। जिस प्रकार नमक का ढेला पानी में पड़कर गल जाता है, उसी प्रकार साधक यह अनुभव करता है कि मैं उस महासागर में विलीन हो रहा हूँ। मेरा संकुचित अस्तित्त्व समाप्त हो रहा है। बूँद समुद्र में मिल रही है। अन्त में वह अपने आपको भूल जाता है। केवल समुद्र की अनुभूति शेष रहती है।

(६) **षष्ठ विधि**—साधक यह ध्यान करता है कि प्रतीयमान समस्त जगत् स्वप्न मात्र है। आकाश में चमकते हुए सूर्य, चंद्र, नक्षत्र और

तारे केवल स्वप्न हैं। कल-कल करते झरने, नदियाँ और समुद्र सभी स्वप्न हैं। इनका अस्तित्त्व तभी तक है जब तक मेरी चेतना पर अविद्या का पर्दा पड़ा है। उसके उठते ही यह पता नहीं, कहाँ लीन हो जाएंगे। स्वप्न में दिखाई देने वाले हाथी-घोड़े आँख खुलते ही नष्ट हो जाते है। समस्त बाह्य विश्व इसी प्रकार आत्मा का साक्षात्कार होते ही लुप्त हो जाएगा। किन्तु यह स्वप्न किसका है ? देखने वाला कौन है ? यह मेरा ही स्वप्न है, मैं ही इसे देख रहा हूँ। परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं है। मेरी ही रचना मुझे भ्रम में डाल रही है। अब मैं जाग गया हूँ। दृष्टि खुल रही है, स्वप्न समाप्त होता जा रहा है। मैं उस शाश्वत सत्ता में विलीन हो रहा हूँ, जो अनन्त ज्ञान और सुख का केन्द्र है। मैं वही हूँ। मैं वही हूँ।

(७) **सप्तम विधि**—इसमें परमात्मा का ध्यान आनन्दघन के रूप में किया जाता है। एक मात्र परमात्मा ही आनन्दघन ब्रह्म है। उसके अतिरिक्त न कोई वस्तु है और न कोई स्थान। वही परिपूर्ण है। स्वयं ही वेद्य है और स्वयं ही वेत्ता। वह ज्ञान स्वरूप है। सनातन, निर्विकार असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवेद्य है। सभी कुछ उसी में कल्पित है, वही सब कुछ है। वही सत् है, वही असत् और दोनों से परे भी। वह अवर्णनीय है और अचित्य है। वह पूर्ण, नित्य, सनातन, अज, अविनाशी, परम, चरम, सत्, चेतन, ज्ञानमय, कूटस्थ, अचल, अमल, अकल, अनामय, अनन्त, शांत और आनन्दमय है।

(८) **अष्टम विधि**—शरीर के मर्मस्थानों की भिन्न-भिन्न नाड़ियों के पृथक्-पृथक् स्थान और कौन-सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है—इस शरीर विज्ञान को क्रिया रूप में भली-भाँति जानकर सब आँखें मूंद कर ध्यान के लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अचल, नित्य, आदि, मध्य और अन्त रहित, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म, स्पर्श रहित, चक्षु से अगोचर, रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनंद

रूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य प्रत्यक्ष, आन्तर एवं बाह्य, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्श वाले सर्वव्यापी ब्रह्म का ध्यान करे, और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

## स्थूल ध्यान

घेरंड सहिता में ध्यान के तीन प्रकार बताए गए हैं।

(१) स्थूल

(२) ज्योति, और

(३) सूक्ष्म

स्थूलध्यान में देवता की आकृति का चिंतन किया जाता है। एक रूप निम्नलिखित है—

साधक अपने हृदय में अमृत के समुद्र का चिंतन करता है। मध्य में रत्नद्वीप है जिसके तट रत्ननिर्मित हैं। द्वीप में पीत कुसुमों से आच्छादित कदंब-वन है। चारों ओर मालती, चंपक, पारिजात आदि सुगंधित पुष्पों से सुशोभित वृक्ष एवं लताएँ हैं, कदंब-वन के मध्य में सुगंधित पुष्प तथा मधुर फलों से आच्छादित कल्प वृक्ष है। पत्तों पर भ्रमर गुंजन कर रहे हैं। शाखाओं पर कोयल कलरव कर रही है। वृक्ष के नीचे बहुमूल्य रत्नों से सुशोभित एक मंडप है। उसमें सुंदर सिंहासन पर इष्टदेवता विराजमान हैं। ध्यान में देवता के आकार वेशभूषा, वाहन तथा नाम का चिंतन करना चाहिए।

## प्रकारांतर

ब्रह्मरन्ध्र में प्रभामय सहस्रदल वाला सहस्रार नामक महापद्म है, उसके मध्य में द्वादशदल श्वेत कमल पुष्प है। बारह पत्रों में क्रमशः ह, स, क्ष, म, ल, य, र, युं ह, स, ख, फ्रें बारह बीजाक्षर लिखे हैं। कर्णिका में अ,

क, थ, इन तीन वर्णों के तीन कोण हैं, उनके मध्य में ह, ल, क्ष, त्रिकोणाकार अक्षरों के मण्डल में 'ओ३म्' है। ततपश्चात् चिंतन करे–इस स्थान पर सुमनोहर नादबिन्दुमय एक पीठ है, उस पर दो हंस और पादुका हैं। उसी स्थल पर गुरुदेव विराजमान हैं, उनके दो भुजाएं तीन नेत्र और वस्त्र शुक्ल हैं। शरीर पर शुभ्र चंदन का लेप है, कंठ में श्वेतवर्ण पुष्पों की माला, वाम पार्श्व में रक्तवर्ण भगवती शक्ति सुशोभित है इस प्रकार गुरु के रूप में शिव का ध्यान करने पर स्थूल ध्यान सिद्ध होता है। विश्वसार तंत्र में लिखा है—

**प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे, त्रिनेत्रं द्विभुज गुरुम्।**
**वराभयकर शाँतं स्मरेत्तन्नाम पूर्वकम् ॥**

अर्थात् मस्तक में जो शुभ्रवर्ण का कमल है, योगी प्रभात काल में उस पद्म में गुरु का ध्यान करे कि वह शांत, त्रिनेत्र, द्विभुज है। एक हाथ वर-मुद्रा में तथा दूसरा अभय मुद्रा में है।

कङ्कालमालिनी तंत्र में लिखा है—

**सहस्रदलपद्मस्थमन्तरात्मान मुज्ज्वलम्।**
**तस्योपरि नादविन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वले ॥**
**तत्रनिजगुरुं नित्य रजताचलसन्निभम्।**
**वीरासनसमासीनं सर्वाभरणभूषितम् ॥**
**शुक्लमाल्याम्बरधरं वरदाभयपाणिकम्।**
**वामोरुशक्तिसहितं कारुण्येनावलोकितम् ॥**
**प्रियया सव्यहस्तेन धृतचारुकलेवरम्।**
**वामेनोत्पलधारिण्या रक्ताभरणभूषया ॥**
**ज्ञानानंद समायुक्तं स्मरेत्तन्नाम पूर्वकम्।**

अर्थात योगी ऐसा ध्यान करे कि सहस्रदल कमल पर अंतरआत्मा अधिष्ठित है। उसके ऊपर नादबिन्दु के मध्य में उज्वल सिंहासन है, जिस पर इष्टदेव वीरासन में विराजमान हैं। शरीर रजत-गिरि के समान शुभ्र, नाना प्रकार के आभूषणों से विभूषित, शुभ्रमाया, पुष्प और

वस्त्रों से शुशोभित, हाथ क्रमशः वर और अभयमुद्रा, में वाम पार्श्व में पार्वती, करुणा दृष्टि से चारों ओर देख रहे हैं। पार्वती के बांए हाथ में रक्त कमल है और रक्त-वर्ण के आभूषण पहन रखे हैं।

## ज्योतिर्ध्यान (तेजोध्यान)

**प्रथम रूपः**—मूलाधार अर्थात् गुह्य प्रदेश और लिंगमूल के मध्य में सर्पाकार कुंडलिनी सोई है। वहां जीवात्मा दीपशिखा के समान चमक रहा है। यहाँ पर ज्योति-रूप ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। इसको तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहते हैं।

**द्वितीयरूप**—भृकुटी के मध्य और नासिका के उर्ध्व भाग में 'ॐ' की आकृति वाली ज्योति का ध्यान करे।

पंचम अयाय

# रूपस्थध्यान

## मूर्तिपूजा

मनुष्यों में असंख्य इच्छायें उत्पन्न होती हैं, कोई धन चाहता है, कोई विद्या, कोई शारीरिक बल, कोई यश, कोई प्रेम में सफलता, कोई सन्तान, कोई रोग से मुक्ति। भारतीय साधना का दावा है कि दृढ़मनोबल द्वारा प्रत्येक कामना पूरी हो सकती है। इसके लिए साधक को अपना लक्ष्य निश्चित करना होता है। वह जितना स्पष्ट होगा सफलता उतनी ही शीघ्र प्राप्त होगी। मूर्तिपूजा उसी को स्पष्ट एवं दृढ़ करने की प्रक्रिया है।

मूर्ति का ध्यान करने से पहिले उसमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। इसका अर्थ है उसमें देवता का आरोप करना। विशेष प्रकार के अनुष्ठान द्वारा यह भावना उत्पन्न की जाती हैं कि वह पत्थर या धातु नहीं, स्वयं भगवान है। प्राणप्रतिष्ठा से पहले उसके प्रति आदर बुद्धि नहीं होती। किंतु प्रतिष्ठा के पश्चात् साधक उसे साक्षात् देवता मानने लगता है। तंत्रशास्त्र में देवता का साक्षात्कार करने के लिए नीचे लिखी बातें बताई गई हैं।

**आभिरूप्याच्च बिम्बस्य, पूजायाश्च निषेवणात्।**
**साधकस्य च विश्वासात्, देवता संनिधिर्भवेत्॥**

अर्थात् बिम्ब के आभिरूप्य, पूजा और साधक में जमे हुये विश्वास के कारण देवता प्रकट हो जाता है।

यहाँ बिम्ब शब्द का रहस्य समझ लेना चाहिए। साधारणतया यह माना जाता है कि राम, कृष्ण आदि महापुरुषों की जैसी आकृति होती है वैसी ही मूर्ति बनती है और उसी को बिम्ब कहा जाता है। किन्तु

वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। कुछ देवी देवताओं का सम्बन्ध ऐतिहासिक महापुरुषों के साथ जुड़ जाने पर भी उन्हें ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार करना ठीक नहीं है। देवी—देवता विभिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मनुष्य में जितनी कामनाऐं हैं उतने ही देवी-देवता हैं। भारतीय साधना की मान्यता है कि जब हमारी इच्छा साकार बनकर आँखों के सामने घूमने लगती है तो वह अवश्य पूर्ण होती है। इच्छा के इस साकार रूप को बिम्ब कहा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपासक होता है। सर्वप्रथम उसके मस्तिष्क में सौन्दर्य नायिका का बिम्ब बनकर आता है और वह उसे लेखनी द्वारा चित्रित करता है। चित्रकार उसी बिम्ब को रंगों द्वारा प्रकट करता है। गायक संगीत द्वारा। इसी आधार पर राग-रागनियों के चित्र बनाए जाते हैं। इन बिम्बों का ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ संबंध नहीं होता।

श्लोक में बताया गया है कि बिम्ब का अभिरूप होना आवश्यक है। अर्थात् उसमें मनोभावों को केन्द्रित करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि अधूरा है अथवा उसमें परस्पर विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण है तो उससे अभीष्ट मनोबल की प्राप्ति नहीं होती। फलस्वरूप इच्छा-पूर्ति में विलम्ब हो जाता है। अभिरूप शब्द का दूसरा अर्थ है बिम्ब का आखों के सामने रहना। वह जितना अधिक और स्पष्ट रूप में दिखाई देगा, उतनी ही मानसिक शक्ति प्रबल होती जायगी। पत्थर आदि की बनी हुई मूर्तियाँ एवं चित्र बिम्ब के निर्माण में सहायता करते हैं। हम मूर्ति के रूप मैं अपनी मनोकामना को वेदी पर देखते हैं। इसके पश्चात आँखें बन्द कर लेते हैं, वही बिम्ब के रूप में झलकने लगते हैं। फलस्वरूप इच्छा देवता का रूप ले लेती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह अवश्य पूर्ण होगी। कोई विघ्न बाधा उसके मार्ग में खड़ी नहीं रह सकती।

विभिन्न क्षेत्रों की दृष्टि से शक्ति के अनेक रूप बताए गए हैं। और उन्हें जागृत करने के लिए आकारों की कल्पना की गई। जिन्हें लेकर

भारतीय कला का विकास हुआ। उदाहरण के रूप में सरस्वती विद्या की देवी है। वह श्वेतवर्ण है। एक हाथ में पुस्तक है दूसरे में वीणा। और हंस पर सवार है। ये बातें प्रतीक के रूप में विद्या को प्रकट करती है। शुभ्र-वर्ण इस बात का सूचक है कि विद्या पक्षपात से रहित होती है। पुस्तक और वीणा उसके दो गुणों को प्रकट करती है। प्रथम पक्ष है विज्ञान, जहाँ वस्तु के शुद्ध रूप को जानने का प्रयत्न किया जाता है। वीणा उसके कला पक्ष को प्रकट करती है, जहाँ वस्तु विशेष को सुन्दर एवं उपयोगी बनाने का ध्यान रखा जाता है। इन्हीं दो पक्षों को विज्ञान और ज्ञान भी कहा गया है। हंस विवेक-शक्ति का प्रतीक है। वह दूध और पानी को अलग करने का सामर्थ्य रखता है।

शिवलिंग विश्व की सृजन करने वाली शक्ति को प्रकट करता है। दुर्गा का वाहन सिंह उसकी संहारक शक्ति को प्रकट करता है। इन सब को प्रतीक कहा जाता है। मूर्तियों तथा चित्रों पर ध्यान करते समय इन सब बातों का विचार आवश्यक है।

## यन्त्र

यन्त्र एक प्रकार के रेखाचित्र होते हैं। उनके बिंदुओं और रेखाओं पर विभिन्न शक्तियों की कल्पना और तदनुसार ध्यान किया जाता है। मूर्ति में देवता का आकार स्पष्ट दिखाई देता है। किन्तु यहाँ उसकी कल्पना करनी होती है, अतः मूर्ति की तुलना में इसे प्रबल माना गया है।

यन्त्र शब्द संस्कृत की यं धातु से बना है, जिसका अर्थ है नियंत्रित करना। यंत्र मन को एकाग्र करने का वैज्ञानिक उपाय है।

## प्रतीक

प्रतीक में वह कल्पना वस्तु विशेष में की जाती है। उदाहरण के रूप में ध्वज राष्ट्रीय सम्मान का प्रतीक है। उसके प्रति निष्ठा एवं सन्मान का अर्थ है राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं सन्मान। अग्निशिखा तेज का

प्रतीक है। कमल निर्लिप्तता कोमलता एवं शीतलता का। चन्द्र शान्ततेज का। सूर्य उग्रतेज का। दीप आलोक का। त्रिशूल शत्रुदमन का।

मूर्ति की पूजा और ध्यान को लेकर अनेक प्रकार के प्रश्न उठाए जाते हैं। कहा जाता है ईश्वर का कोई रूप नहीं है तो उसे रूप क्यों दिया जाता है। राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर आदि महापुरुष थे। उन्हें जिन गुणों के कारण पूजा जाता है क्या वे मूर्ति में होते हैं ?

इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन करना होगा। मूर्ति अपने आप में देवता नहीं होती। किंतु साधक जब उसे देवता मान लेता है तो उसकी उपस्थिति जादू सा असर करने लगती है। श्रद्धाहीन व्यक्ति के लिए वह निरा पत्थर है। किंतु श्रद्धालु के लिए सब कुछ। जब कोई राष्ट्रीय ध्वज का अपमान करता है तो उस पर क्रोध आता है। वास्तव में देखा जाय तो वह कोरा कपड़ा है, किंतु ध्वज का रूप ले लेने पर हमारे मान और अपमान का प्रतीक बन जाता है। उसी प्रकार मूर्ति भी प्राणप्रतिष्ठा हो जाने पर साधक के लिए देवता का रूप ले लेती है। वास्तव में साधक की भावना ही काम करती है। वह जितनी उग्र होगी, मानसिक शक्ति उतनी ही प्रबल होती जायगी।

यह कहना भी अनुचित है कि मूर्ति मैं देवता का आरोप साधक को भ्रम में डालता है। हमारे जीवन का बहुत बड़ा अंश इस प्रकार के आरोपों द्वारा संचालित होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। एक कन्या रास्ते चलते युवक को देखती है। उसके मन में कोई उत्सुकता जागृत नहीं होती, किंतु जब उसे पता चलता है कि वही युवक उसका पति होने वाला है तो सारी भावनाएं तथा चेष्टाएं बदल जाती हैं। माता चिरकाल से बिछुड़े हुए पुत्र को जब तक नहीं पहचानती, उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं होता, किंतु पता चलते ही आंसुओं की धारा बहने लगती है। इसी प्रकार प्राणप्रतिष्ठा के पश्चात् साधक को मूर्ति में देवता की अनुभूति होने लगती है। वह समझता है कि स्वयं भगवान्

उसके सामने बैठे हैं। इस उपस्थिति का अनुभव करते ही उसका सारा व्यवहार बदल जाता है । वह देवता को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के अनुष्ठान तथा चेष्टाएं करने लगता है । अनेक स्थानों पर देखा गया है कि यह अनुभूति होने पर साधक का व्यवहार बदल जाता है । विरहा-कुल भक्त की आँखों से आसुओं की धारा बहने लगती है । यदि वह स्त्री है और पति के रूप में उपासना करती है तो लज्जा संकोच आदि सात्विक भाव आने लगते हैं । पिता के रूप में उपासना करने वाला यह अनुभूति करता है, जैसे चिरकाल से बिछुड़े हुये पिता मिल गये हो। वात्सल्य-भाव से उपासना करने वाली माता पुत्र-मिलन की अनुभूति करती है । शांत भाव से उपासना करने वाले ज्ञान वैराग्यादि का अनुभव करते है ।

महानिर्वाण तन्त्र में आया है :—

**चिन्मयस्याप्रमेयस्य, निष्कलस्याशरीरिणः ।**
**साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणोरूपकल्पना ।**

अर्थात् परमात्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप, अप्रमेय, निरंश तथा शरीर रहित है, फिर भी भक्तों के हितार्थ उसमें रूपों की कल्पना की गयी । हमारे मन में अपार शक्तियाँ छिपी हुई है, देवता के रूप में साकार होकर सामने आयी हुई शक्ति मन में छिपी हुई शक्ति को जाग्रत कर देती है । वास्तव में देखा जाय तो साधक की शक्ति और देवता की शक्ति परस्पर भिन्न नहीं है, दोनों हो परमात्मा की शक्तियाँ हैं । साधक में वही साध्य के रूप में उपस्थित होती है । मूर्ति या देवता में साधन के रूप में ।

दूसरी बात यह है कि साधारणतया हमारा मन विशृंखलित रहता है । कभी कुछ सोचता है और कभो कुछ । ये विशृंखलायें उसे दुर्बल बनाये रखती है । जब वही एकाग्र होकर किसी एक धारा में बहने लगता है तो शक्तिशाली बन जाता है । बिखरी हुई आग जब केन्द्रित होकर बाहर निकलती है तो गैस बन जाती है । आग की यह केन्द्रित शक्ति ही

रेलगाड़ियों को खींचती है और हवाई जहाजों को उड़ा ले जाती है। इसी प्रकार मन जितना केन्द्रित होगा, शक्ति उतनी ही बढ़ती जायेगी। विश्व में हलचल मचा देने वाले महापुरुषों के उदाहरण हमारे सामने है। उनकी सफलता का एक मात्र कारण दृढ़मनोबल था।

जब साधक देवता का चिन्तन और उसका अपने व्यक्तित्व में आरोप करता है तो उसमें भी देवता के गुण प्रकट होने लगते हैं। मूर्ति, प्रतीक आदि साधन उस अभिव्यक्ति के सफल उपाय हैं।

**सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः, सर्वशक्तिसमन्वितः।**
**योगिदेहे तथा ध्यानाद्, जायते गुण संक्रमः॥**

ध्यान के द्वारा योगी के व्यक्तित्व में देवता के गुणों का संक्रमण होने लगता है और वह परमात्मा के समान सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, सर्व शक्तिमान् बन जाता है। सत्य-संकल्प का अर्थ है जो बात मन में उठती है, वह पूरी हो जाती है।

**रुद्रस्य चिंतनाद् रूद्रो, विष्णुः स्याद् विष्णु चिंतनात्।**
**दुर्गायाश्चिन्तनाद् दुर्गा, भवत्येव न संशयः॥**

अर्थात् भक्त रुद्र का ध्यान करते समय रुद्र हो जाता है। विष्णु का ध्यान करते समय विष्णु और दुर्गा का ध्यान करते समय दुर्गा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

कुछ मूर्तियाँ अपने आप में विभिन्न शक्तियों एवं गुणों को प्रकट करती हैं। शिव, पार्वती, विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती आदि की मूर्तियाँ इसी प्रकार की है। महापुरुषों की मूर्तियां उनकी अपनी विशेषता लिए रहती हैं। उदाहरण के रूप में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां वीतरागता को प्रकट करती हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ ज्ञान को; कृष्ण की दुष्टों का दमन करने वाले चक्रधारी वीर को, राम की प्रजावत्सल शासक को। ध्यान करने के लिए उनके जीवन तथा गुणों का ज्ञान आवश्यक है।

देवता के साक्षात्कार और स्वरूप कल्पना के लिए लम्बी चौड़ी प्रक्रियाएँ हैं। 'गुह्य समाज' नामक तंत्र (३०० ई०) में उनका विस्तृत वर्णन है। ध्यान में जीवात्मा परमात्मा से मिल जाता है। उस समय चित्ताकाश असंख्य चमत्कारों तथा दृश्यों से परिपूर्ण हो जाता है। बीज मन्त्रों के वर्ण अग्नि की चिनगारियों के समान दिखाई देने लगते हैं और धीरे-धीरे देवताओं का रूप धारण कर लेते हैं। पहले वे अस्फुट रूप में दिखाई देते हैं, फिर साङ्गोपाङ्ग तेजस्वी चैतन्य मूर्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं जो उस अनंत की ही मूर्तियाँ होती हैं। इन्हीं स्वरूपों का नाम देवता है। एक बार साक्षात्कार हो जाने पर ये साधक का साथ नहीं छोड़ते और उसे अधिकाधिक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कराने में सहायक बन जाते है। देवताओं के साक्षात्कार की प्रक्रिया का कई प्रसिद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

गुह्यसमाज में मूर्तिपूजा को उपाय कहा गया है। इसके सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन—चारप्रकार हैं। सेवा के भी 'सामान्य' और 'उत्तम'—दो भेद हैं। सामान्य सेवा के अन्तर्गत निम्न चार वज्र हैं:-

(१) शून्यता की भावना
(२) बीज मन्त्र के रूप में प्रकट होना
(३) बीजमन्त्र का देवता के रूप में प्रस्फुटित होना
(४) देवता का बाह्य रूप में प्रकट होना—

भागवत में आठ प्रकार की मूर्तियों का वर्णन है—

**शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।**
**मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥**

१. **शैली**—पत्थर की बनी हुई।
२. **दारुमयी**—लकड़ी की बनी हुई।
३. **लौही**—लौहे की बनी हुई।

४. **लेप्या**—केसर, कस्तूरी, चन्दन, रंग, मिट्टी, गोबर आदि के लेप द्वारा बनाई गयी। रंगीन चित्र इसी में गिने जाते हैं।

५. **लेख्या**—लिखकर रेखाचित्र के रूप में बनाई गई।

६. **सैकती**—बालू से बनाई गई।

७. **मनोमयी**—मानसिक कल्पना द्वारा बनाई गई।

८. **मणिमयी**—मणि द्वारा बनायी गई।

मूर्ति का ध्यान करने के लिए सर्वप्रथम साधक को अपने ध्येय के अनुसार देवता का चुनाव करना चाहिए। उदाहरण के रूप में जो साधक ज्ञान या विद्या प्राप्त करना चाहता है, उसे शिव या सरस्वती की मूर्ति का ध्यान करना होगा। जो शक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे दुर्गा का। जो संपत्ति चाहता है उसे विष्णु या लक्ष्मी का। जो रागद्वेष से ऊपर उठकर आत्मा का कल्याण करना चाहता है उसे वीतराग अरिहंत का।

ध्यान प्रक्रिया नीचे लिखे अनुसार है। सर्वप्रथम देवता के पैरों पर दृष्टि जमानी चाहिए। धीरे-धीरे उसे ऊपर उठाते हुए मस्तक तक ले जाना चाहिए। पुनः मस्तक से नीचे की ओर। इसमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक अंग का स्थिरता के साथ सूक्ष्म-निरीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे दृष्टि ले जाते हुए बीच-बीच में आँखें बन्द कर लेनी चाहिए। और मन ही मन उस रूप का चिंतन करना चाहिए। सर्वप्रथम धुंधला सा रूप दिखाई देगा, परन्तु निरंतर अभ्यास करने से स्पष्ट होता जायगा। जब आँखें बन्द करने पर भीं देवता का पूरा रूप स्पष्ट दिखाई दे तो समझना चाहिए कि ध्यान सिद्ध हो गया। इसका अर्थ है लक्ष्य का साकार बनकर आँखों के सामने घूमना।

सभी ध्यानों में मुख्य बात यह है कि ध्यान करने वाला उस शक्ति की उपस्थिति का अनुभव करे। यह अनुभूति जितनी तीव्र होगी

सफलता उतनी ही मिलेगी। मूर्ति आदि बाह्य आलंबन इसी अनुभूति को जागृत करने में सहायक होते हैं।

इन अनुष्ठानों में दो बातें रहती हैं। पहली साधक की भावना है। एक ही देवता को एक ही साधक शुद्ध परमात्मा के रूप में देखता है और पूजा द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहता है। दूसरा पिता के रूप में देखता है। उसकी कृपा प्राप्त करके, दु:ख एवं कष्टों से छूटना चाहता है। तीसरा उसको प्रेमी के रूप में देखना है और साथी बनाना चाहता है। माता उसको पुत्र के रूप में देखती है। इन भावों के अनुसार चेष्टाएँ और अनुष्ठान भी बदल जाते हैं।

परमात्मा के रूप में ध्यान करने वाला उसमें ज्ञान, सुख, आनन्द आदि इश्वरीय गुणों का आरोप और उपास्य के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। हाथ-पैर आदि की बाह्य चेष्टाओं के स्थान पर स्व-रूपचिंतन पर अधिक ध्यान देता है। पूजा सामग्री के रूप में पुष्प, धूप, दीप आदि उपस्थित करता है। पुष्प अर्पित करते समय ईश्वरीय सुगंध का ध्यान करता है। जो सारे विश्व में फैली हुइ है। दीप अर्पित करते समय उसकी परमज्योति का ध्यान करता है। देखता है कि मूर्ति से प्रकाश की किरणें निकल कर विश्व को आलोकित कर रही है। ओठों की मधुर मुस्कान आनन्द की वर्षा कर रही है। प्रत्येक अंग दृढ़ता और शक्ति लिए है। पिता का ध्यान करने वाला अनुभव करता है जैसे उसके पिता वहाँ बैठे हों, वह प्रमाण तथा नम्रता का प्रदर्शन करता है। उसके मानस पर श्रद्धा, भय, संकोच तथा कृतज्ञता के भाव छाये रहते हैं। वह स्तुति करता है और अभीष्ट वस्तु मांगता है। पति या प्रेमी के रूप में उपासना करने वाली स्त्री शृंगार चेष्टाएँ करती है। उसे रिझाने के लिये मुख तथा हाथों से संकेत करती हैं, जिन्हें मुद्राएँ कहा जाता है। कभी रूठती है, कभी मनाती है।

पुत्र के रूप में उपासमा करने वाली तरह-तरह से वात्सल्य को प्रकट करती है। पुष्प, फल, मिष्टान्न आदि का अर्पण इन्ही भावों से सम्बन्ध रखता है।

## मूर्ति-पूजा के पाँच अंग

(१) **अभिगमन**—मन्दिर में दशर्नों के लिए जाना।

(२) **उपादान**—पूजा के लिए पुष्प, चन्दन, माला आदि सामग्री एकत्रित करना।

(३) **योग**—चित्त को ईष्टदेवता के ध्यान में केन्द्रित करना।

(४) **स्वाध्याय**—विधि पूर्वक ईष्टदेवता का जप।

(५) **ईज्या**—भूतशुद्धि, प्राणायाम, न्यास, जप आदि आचारों के पश्चात् विधि पूर्वक मन्त्र बोलते हुए पाद्य, आसन आदि का समर्पण।

## पंचशुद्धि

पूजा के लिए निम्नलिखित पाँच शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं।

(१) **आत्मशुद्धि**—स्नान एवं शुद्ध वस्त्र धारण, भूतशुद्धि, प्राणायाम तथा षड़ंगन्यास (इनका निरूपण पिण्डस्थ ध्यान के अध्याय में किया जा चुका हैं।

(२) **स्थानशुद्धि**—देवमन्दिर स्वच्छ रखना। उसे विविध अलंकारों से संजाना। रोली आदि पँचरंगे चूर्ण, आसन, दीप, पुष्पमाला तथा अन्य द्रव्य उपस्थित करना।

(३) **मंत्रशुद्धि**—यह एक प्रकार का जप है। इसमें मातृका मंत्र के वर्णों को मूल मंत्र के साथ संयुक्त करके एक बार अनुलोम और तत्पश्चात् विलोम पढ़ा जाता है। इसकी विस्तृत चर्चा पदस्थ ध्यानों में की गई हैं।

(४) **द्रव्य शुद्धि**—पूजा की वस्तुओं को शुद्ध एवं पवित्र रखना।

(५) **देवशुद्धि**—अंतर्मंत्र, प्राणमत्र आदि के द्वारा देवता में संन्निहित शक्ति को जगाना। इसके पश्चात् मूल-मंत्र का उच्चारण करते हुए तीन

बार मूर्ति को स्नान कराना। कुसुम तथा आभूषणों से सुशोभित करना। धूप, दीप, नैवेद्य आदि चढ़ाना।

## द्वादश शुद्धि—

यह शरीर के १२ अंगों की शुद्धि है। दो पैर, दो हाथ, जिह्वा, दो कान, दो चक्षु, सिर और दो नथुने (नासिका)। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(१) **चरणशुद्धि**—भगवान् की यात्राओं, पर्वों तथा परिक्रमा में भक्तिभाव से सम्मिलित होना।

(२) **करशुद्धि**—भगवान् को अपने हाथों से भक्तिपूर्वक 'पुष्पं, पत्रं, फल, तोयं' अर्पण करना।

(३) **वाणीशुद्धि**—भगवान के नाम, गुण तथा सौंदर्य का भक्तिपूर्वक संकीर्त्तन।

(४) **श्रवणशुद्धि**—भगवान् की लीला तथा माहात्म्य को सुनना।

(५) **नयनशुद्धि**—भगवान् की महिमामंडित यात्राओं, झांकियों या उत्सवों को देखना।

(६) **मस्तकशुद्धि**—भगवान् को अर्पित पुष्प व माला, चरणामृत, नैवेद्य आदि को शीश पर चढ़ाना तथा भगवान् के पादपद्मों में अपने शीश को झुकाना।

(७) **घ्राणशुद्धि**—भगवान् को चढ़ाए हुए फूलों, तथा अन्य वस्तुओं की सुगंध लेना।

पुष्प, पत्र, फल, तोय जो भी भगवान् के चरणकमलों में अर्पित हुआ है, वह त्रिलोक पावन है, यह जानकर उन वस्तुओं का स्पर्श करना तथा उन्हें मस्तक पर चढ़ाना, इससे सर्वांग शुद्धि होती है।

## प्रतीक का रहस्य

उपनिषदों में परमात्मा के पांच रूप बताये गये हैं।

**अस्तिभातिप्रियंरूपं, नामचेत्यंशपञ्चकम् ।**
**आद्यत्रयं ब्रह्म रूपं, विश्वरूपं ततोद्वयम् ।।**

अस्ति अर्थात् सत्ता, भाति अर्थात् ज्ञान, प्रिय अर्थात् सुख, नाम और रूप परमात्मा के ये पांच अंश हैं। इनमें से प्रथम तीन ब्रह्म रूप हैं और अंतिम दो विश्वरूप।

इन पांच में बाह्य इन्द्रियों से केवल दो दिखाई देते हैं—नाम और रूप। कानों से शब्द सुनाई पड़ते हैं और आँखे विविध रूप देखती हैं। इन्द्रियाँ इससे आगे नहीं जा सकती।

**'आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत् पश्यति कश्चन।'**

यहाँ आराम का अर्थ है क्रीड़ा या खेल। नाम रूपात्मक विश्वपरमात्मा का खेल है। हम उसी को देखते हैं, खिलाड़ी को नहीं देखते। साधना द्वारा इस खेल में ही खिलाड़ी का दर्शन किया जाता है।

उसके दो रूप हैं निर्गुण और सगुण। ईशोपनिषद् में सूर्य के रूप में भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहा गया है हे पूषन्, तुम्हारा असली रूप किरणों के जाल से ढका हुआ है इसे हटावो, जिससे हम तुम्हारा वास्तविक रूप देख सकें। किरणों के इस जाल को माया, अविद्या, अज्ञान, कञ्चुक, मोह आदि अनेक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। यह निर्गुण उपासना का प्रकार है। किन्तु यह पद्धति अत्यन्त कठिन है। भगवद् गीता में आया है।

**क्लेशो ऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।**
**अव्यक्ता हि गति र्दुःखं देहवद्भि रवाप्यते ।।**

जो लोग अव्यक्त की उपासना करते हैं उन्हें अधिक कठिनाई पड़ती है, क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त पर मन को एकाग्र करना अत्यंत कठिन है। सगुण उपासना में इस बाह्य प्रपंच को आवरण या मिथ्या नहीं माना जाता। यहाँ इसे विभूति अथवा ऐश्वर्य कहा गया है।

विभूतियों द्वारा विभूतिमान् अथवा ऐश्वर्य द्वारा ऐश्वर्यवान् का दर्शन किया जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जायेगा, कि नाम और रूप के द्वारा सच्चिदानन्द का प्रत्यक्ष किया जाता है।

जब परमात्मा को माया से पृथक रूप में देखा जाता है तो वह निर्गुण कहा जाता है और माया या विश्व से युक्त परमात्मा को सगुण। उपनिषदों में माया को त्रिगुणमयी कहा है।

**वस्तुमात्रं तु यद्दृश्यं, संसारे त्रिगुणं हितत्।**
**दृश्यं च निर्गुणं लोके, न भूतं न भविष्यति॥**
**निर्गुणः परमात्मासौ न तु दृश्यः कदाचनः।**

संसार में जितनी वस्तुएं दिखाई देती हैं सब त्रिगुण हैं, निर्गुण को देखा नहीं जा सकता, ऐसा न हुआ है और न होगा। परमात्मा निर्गुण हैं। अतः वह दृश्य नहीं हो सकता।

इन रूपों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि में नीचे लिखे अनुसार उपस्थित किया जायेगा।

निराकार चेतना अपने अन्दर सब कुछ समेट कर सोई रहती है। उसमें अपना-पराया, प्रमाता-प्रमेय, भोक्ता-भोग्य आदि भान नहीं होते। जब वह चेतना सृष्टि की ओर उन्मुख होती है तो सर्वप्रथम उसे अपने अस्तित्व का भान होता है। मैं हूँ की प्रतीति, मैं क्या हूँ की और प्रवृति होती है इसके साथ ही ज्ञान का प्रारम्भ हो जाता है। वह अपने स्वरूप तथा उसमें रही हुई अनन्तशक्तियों को ज्यों-ज्यों जानती है, आनन्द का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार तीसरे तत्व आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु आनन्द का अकेले उपभोग नहीं होता उसके लिए दूसरे की सत्ता आवश्यक है। उपनिषदों में आया हैं परमात्मा का अकेले मन नहीं लगा तब वह स्वयं दो रूपों में विभक्त हो गया, जिन्हें स्त्री और पुरुष, जड़ और चेतन, रात्रि ओर प्राण आदि अनेक रूपों में प्रकट किया गया है।

जब हम अपने विचारों को साकार बनाना चाहते हैं अथवा उन्हें किसी बाह्यरूप में प्रकट करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम मन में कल्पना करते है। चेतना के इस प्रथमस्फुरण को पश्यंतीवाक् कहा जाता है। इसमें उस पदार्थ को एक नाम दे दिया जाता है। बाह्य अभिव्यक्ति होने पर वही विशेष आकार ले लेता है जिसे रूप कहा गया है। इस प्रकार विश्व के समस्त पदार्थ परमात्मा के रूप हैं, कण-कण में उसकी सत्ता हैं। प्रत्येक शब्द उसी का नाम हैं।

ज्ञानी और योगी परमात्मा का दर्शन सर्वत्र कर सकते हैं। उनके लिए प्रत्येक शब्द परमात्मा का मन्त्र है और प्रत्येक पदार्थ परमात्मा का रूप है। किन्तु साधारण साधक में वह योग्यता नहीं होती, उसे इन अभिव्यक्तियों के लिए विशेष नाम तथा विशेष रूप की आवश्यकता होती है।

उदाहरण के रूप में माता पिता अपने बालक का नाम कृष्णचन्द्र रखते और कन्हू कह कर पुकारते हैं। धीरे-धीरे वह जवान होता जाता है और समाज में प्रोफेसर कृष्णचन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है। माता-पिता के सामने उसके दोनों रूप होते ; फिर भी कन्हू शब्द का उच्चारण करने पर उसका बचपन सामने आता है और प्रोफेसर कृष्णचन्द्र कहने पर उसका यौवन। पत्नी तथा जिन मित्रों ने उसका शैशव नहीं देखा है उनके सामने कन्हू शब्द साकार नहीं बन सकता। यह तभी सम्भव है जब उन्हें उसके बचपन का चित्र दिखाया जावे। इसी प्रकार मन्त्र उन अक्षरों का नाम है जिनका परमात्मा की किसी शक्ति अथवा आकार के साथ हजारों वर्षों से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार प्रतीक वे आकृतियाँ हैं जिनका परमात्मा के विभिन्न गुणों के साथ सम्बन्ध जुड़ गया है, मन्त्र का जप और आकृति का ध्यान करने पर चेतना में उस शक्ति का स्फुरण होने लगता है। इस स्फूर्ति को ही एक ओर मन्त्र चैतन्य और दूसरी ओर ध्यान सिद्धि कहा जाता है।

वास्तव में देखा जाय तो जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है।

किन्तु अज्ञान के कारण वह अपने स्वरूप को भूल गया है । उपर्युक्त अभिव्यक्तियाँ माया के इस पर्दे में छेद कर देती है जिनसे वह परमात्मरूप को देखने लगता है । इसके साथ ही शक्ति ज्ञान तथा सुख की वृद्धि होने लगती है ।

जब चेतना बहिर्मुख होती है तो सत्ता से ज्ञान, ज्ञान से आनन्द, आनन्द से नाम और नाम से रूप की कल्पना करती हुई वहाँ अटक जाती हैं । साधना द्वारा उसे पुनः अन्तर्मुख बनाया जाता है और जिस क्रम में बहिर्मुख हुई थी विपरीत क्रम से पुनः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित किया जाता है । इसका अर्थ है रूप से नाम, नाम से आनन्द, आनन्द से ज्ञान, ज्ञान से सत्ता । निर्गुण ब्रह्म उससे भी परे है जिसे किसी भी शब्द द्वारा प्रकट नहीं किया जाता ।

रूप के दो प्रकार हैं, प्रतीक और मूर्ति । प्रतीकों के भी दो रूप हैं यन्त्र और चिन्ह विशेष । ध्यान करते समय प्रत्येक के रहस्य को जानना आवश्यक है । मूर्ति ध्यान का स्थूलतम आलम्बन है किन्तु देवता की भावना होने पर उसमें भी चेतना के जागरण का सामर्थ्य आ जाता है ।

हम कुछ प्रतीकों का वर्णन करेंगे ।

**अक्षमाला**

इसका अर्थ है अ से लेकर क्ष तक वर्ण समूह । यह ध्वनि का प्रतीक है । साधना द्वारा वैखरी से मध्यमा और मध्यमा से पश्यंती तक पहुँचा जाता है । जहाँ वाणी केवल विचारों के रूप में रहती है, वहाँ शब्द और अर्थ अर्थात् वाचक और वाच्य का भान होने पर भी दोनों मिले रहते हैं । उससे ऊपर परावाक् है जहाँ दोनों में भेद नहीं रहता । मन शान्त समुद्र के समान निस्तरङ्ग हो जाता है ।

**अकारः प्रथमो देवि, क्षकारोऽन्त्यस्ततः परम् ।**
**अक्षमालेति विख्याता, मातृका वर्णरूपिणी ॥**
**शब्द ब्रह्म स्वरूपेऽयं, शब्दातीतं तु जप्यते ।**

देवि प्रथम अक्षर 'अ' और अंतिम 'क्ष' है। यही अक्षमाला के नाम से प्रसिद्ध है। यह वर्णमातृका पश्यंतीवाक् का रूप है जो शब्द ब्रह्ममयी है। इसके द्वारा शब्दातीत का ध्यान किया जाता है।

—(ज्ञानार्णव तंत्र)

## अग्नि

यह संहार का प्रतीक है। साधना के क्षेत्र में इसका अर्थ है ज्ञान की वह ज्वाला जो विकारों को भस्म कर देती है। भगवान शङ्कर के तृतीय नेत्र की कथा इसी रहस्य को प्रकट करती है। उससे निकली आग ने कामदेव को भस्म कर दिया जो विकारों का प्रतिनिधि है।

आभिचारिक साधना में अग्नि तामसिक शक्ति का प्रतीक है, जिसके द्वारा शत्रु का नाश किया जाता है।

## अंकुश

यह द्वेष का प्रतीक है। **'अंकुशं द्वेष रूपिणम्'—भावनोपनिषद्।** वामकेश्वर तन्त्र में इसे ज्ञान शक्ति का प्रतीक बताया गया है। यहाँ एक बात विचारणीय है। बौद्धसाधना में साधकों का तीन मनोवृत्तियों के रूप में विभाजन किया गया है। उनके नाम हैं रागचित्त, द्वेषचित्त और मोह-चित्त। रागचित्त का परिष्कार श्रद्धा के रूप में होता है। द्वेषचित्त का ज्ञान के रूप में और मोहचित्त का वितर्क के रूप में। वहां यह भी बताया गया है कि द्वेष और ज्ञान एक ही मनोवृत्ति से सम्बद्ध है। जब क्षेत्र संकुचित होता है और मन में प्रतीकार की भावना रहती है उसे द्वेष कहा जाता है। जब लक्ष्य असीम हो जाता है अर्थात् संसार की समस्त वस्तुओं के प्रति घृणा होने लगती है तो उसे ही वैराग्य कहा जाता है। यही ज्ञान का सार है। आसक्ति अज्ञान है और अनासक्ति ज्ञान। इसी-लिए अंकुश को द्वेष और ज्ञान दोनों का प्रतीक माना जाता है।

अंकुश नियंत्रण का भी प्रतीक है। वह मतवाले हाथी को वश में

कर लेता है । इसी प्रकार ज्ञान अथवा योग से मन रूपी हाथी वश में हो जाता है अतः अंङ्कुश को संयम का प्रतीक भी माना गया है ।

### कर्त्री

कर्त्री (कैंची) यह उस शक्ति का प्रतीक है जो अविद्या के तन्तुओं को काटती है ।

साधना क्षेत्र में विघ्न बाधाओं को काटने वाले दो प्रतीक आते हैं । छोटे विघ्नों के लिए कैंची और बड़े विघ्नों के लिए खड्ग ।

### कदम्ब

यह संसार रूपी वृक्ष का प्रतीक है, जो शाखा-प्रशाखाओं में फैलता है और सर्वसाधारण को अपने सुन्दर रूप द्वारा आकृष्ट कर लेता है ।

### कपाल

इसका अर्थ है मनुष्य की खोपड़ी, जो भगवान् शङ्कर का पात्र है । भगवान् उसके द्वारा अमृत पान करते हैं । विनाशक तत्वों को जीवन का साधन बनाना भगवान् शङ्कर की विशेषता है ।

कपाल द्वारा अमृतपान का वर्णन भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्श को प्रकट करता है ।

यहाँ माना गया है कि जो व्यक्ति मृत्यु से डरता है वह अमर नहीं हो सकता । जो अमर बनना चाहता है उसे मृत्यु का स्वागत करना होगा । कठोपनिषद् में नचिकेता की घटना इसी तथ्य को प्रकट करती है । उसने मृत्यु से अमर होने का पाठ सीखा । भगवान् शंकर विष पीकर अमर हो गए । वे विनाशक तत्त्वों को अपना शृंगार बनाते थे । कपाल उनका भोजनपात्र है । वे उसी से जींवनसामग्री प्राप्त करते हैं ।

### कमल

पुराणों में कथा आई है कि भगवान् विष्णु की नाभि से कमल निकला जिस पर भगवान् ब्रह्मा विराजमान थे। उन्होंने समस्त सृष्टि को रचा। विष्णु जल के देवता हैं। प्राणि-शास्त्र की मान्यता है कि सृष्टि का मूल कारण जल है। सूखी पृथ्वी से प्राणि उत्पन्न नहीं होते। जब उस पर पानी गिरता है तो वनस्पतियाँ और जीवजन्तु उत्पन्न होने लगते हैं। जब पानी संचित होने लग जाता है तो वहाँ चलने फिरने वाले जीव उत्पन्न होने लगते हैं। इसी तथ्य को नाभि, कमल और उस पर विराजमान ब्रह्मा द्वारा उपस्थित किया जाता है।

कमल निमर्लता तथा निर्लिप्तता का भी प्रतीक है। पानी में रहते हुए भी उससे ऊपर उठा रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी संसार में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।

हाथ में कमल समस्त सृष्टि पर आधिपत्य प्रकट करता है। इसका अर्थ है विश्व के उत्पादक तत्वों का अपने हाथ में होना।

### कमलासन

कमल कोमलता का भी प्रतीक है। उस पर आसन का अर्थ है जीवन का कोमल भावनाओं से व्याप्त होना। इसी से रचनात्मक कार्य होते हैं, अतः कमल पर आसन सृजन शक्ति का प्रतीक है। ऊपर बताया गया है ब्रह्मा का आसन कमल है। सरस्वती ब्रह्मा की शक्ति मानी जाती है, उसका आसन कहीं कमल और कहीं हंस चित्रित किया जाता है। इनसे ज्ञान के दो रूप प्रकट होते हैं। जो ज्ञान सर्जन या रचनात्मक होता है उसका आसन कमल है। जो ज्ञान विश्लेषणात्मक अर्थात् सत्यासत्य का विवेक करता है उसका आसन हंस है।

### कुचयुगल

ईश्वर का वात्सल्य-रूप माता में चित्रित किया जाता है। मुख से

करुणा एवं प्रेम प्रकट होते हैं। छाती, दूध से भरी हुई। स्तनयुगल इसी वात्सल्य का प्रतीक है।

**खट्वाङ्ग**

खट्वा का अर्थ है चारपाई। उसके पाये को खट्वाङ्ग कहा जाता है। यह गदा के आकार का एक शस्त्र होता था, यह शत्रु-दमन का प्रतीक है। वैष्णव साधना में इसके स्थान पर गदा बताई जाती है।

**खड्ग**

यह ज्ञान शक्ति का प्रतीक है। मनुष्य राग-द्वेष, मोह माया, ममता आदि के बंधनों में फंसा रहता है। बुद्धि कुंठित हो जाती है और वह अपने आप को भूलकर अशांत रहने लगता है। किंतु जब शांत होकर विचार करता है, तो समस्त अभिनिवेश मिथ्या जान पड़ते हैं। सँध्या के बादलों के समान देखते-देखते ही विलीन हो जाते हैं। बौद्धधर्म में आया है— **यथा-यथा विचार्यंते विशीर्यंते तथा-तथा** अर्थात् सांसारिक भावों पर ज्यों-ज्यों विचार किया जाता है वे समाप्त होते चले जाते हैं। मिट्टी के घरोंदों के समान उनका अस्तित्व महत्वहीन जान पड़ता है। इस प्रकार ज्ञानरूपी तलवार समस्त बंधनों को काट डालती है।

भगवान् के हाथ में दिया गया खड्ग विघ्ननाश का प्रतीक है। ऊपर बताया गया है कि कैंची छोटे विघ्नों को काटती है और खड्ग बड़े विघ्नों को।

**गङ्गा**

गङ्गा की धारा निर्मलता और शीतलता का प्रतीक है। भगवान् शंकर के जटाजूट में उसका निवास बताया जाता है। इसका अर्थ है उनका मस्तिष्क सदा निर्मल व शांत रहता है।

गङ्गा की धारा करुणा का भी प्रतीक है। इसका उद्गम भगवान् विष्णु के चरणों से माना जाता है। जो करुणा के सागर हैं, और अपनी कृपा के द्वारा समस्त विश्व को आप्लावित करते रहते हैं।

बराहपुराण में इसका वर्णन धर्मस्रोत के रूप में आया है ।

धर्मस्तु द्रवरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ।
तद्‌ गङ्गेति विख्याता..................॥

अर्थात् ब्रह्मा ने धर्म का द्रव पदार्थ (करुणा) के रूप में निर्माण किया । उसी को गंगा कहा गया ।

## गदा

यह दमनशक्ति का प्रतीक है । दुर्गा के हाथ में खड्ग रहता है जो शत्रु अथवा विघ्नों का नाश करता है । विष्णु के हाथ में गदा रहती है । वे शत्रुओं का नाश नहीं करते । किंतु दमन द्वारा उन्हें अपने अधीन कर लेते हैं । फलस्वरूप वे ही आज्ञाकारी बनकर उनके काम आते हैं । मानसिक वृत्तियों की भी यही बात है । क्रोध, दमन द्वारा उत्साहशक्ति के रूप में परिणत हो जाता है । काम, कला एवं सौंदर्यप्रेम को विकसित करता है । संन्यास में इन सबके विनाश पर बल दिया गया है और कर्मयोग में इनके उदात्तीकरण पर । खड्ग और गदा में यही अंतर है ।

## गरुड़

यह भगवान् विष्णु का वाहन है जो समृद्धि तथा सफलता के देवता माने जाते हैं । गरुड़ में दो विशेषतायें होती हैं, वेग और बल । जो व्यक्ति अपने निश्चय को यथासंभव शीघ्र कार्य रूप में परिणत कर देता है तथा उसे पूर्ण मनोबल के साथ करता है वह अवश्य सफल होता है । लक्ष्मी उसके पैर दबाती है । गरुड़ का भोजन सांप माने जाते हैं जो विघ्नबाधा एवं कष्टों के प्रतीक हैं । गरुड़ उन्हें खाकर पुष्टि प्राप्त करता है । इसी प्रकार विघ्नबाधाएं और विपत्तियां मनस्वी एवं पुरुषार्थी को बल प्रदान करती हैं ।

## घंटा

यह विघ्न एवं शत्रुओं के अपसारण का प्रतीक है । प्राचीन समय में

सैनिक शङ्ख और घंटा बजाते हुए अभियान करते थे। उनके शब्द सुनकर शत्रु भाग खड़े होते थे । यात्रियों का सार्थ भी वन में यात्रा करते समय हिंसक पशुओं को भगाने के लिए घंटा बजाया करता था। इस प्रकार यह एक मङ्गलचिन्ह बन गया जो विघ्न बाधाओं को दूर करता है ।

**हिनस्ति दैत्यतेजांसि, स्वनेनापूर्य या जगत् ।**
**सा घन्टा पातु नो देवि, पापेभ्यो नः सुतानिव ॥**

जो घन्टा अपने शब्द से विश्व को आपूरित करके दैत्यों को निस्तेज बना देता है। जिस प्रकार माता पुत्रों की रक्षा करती है उसी प्रकार वह हमारी रक्षा करे।

**चक्र**

यह संहारशक्ति और आधिपत्य का प्रतीक है। प्राचीन समय में चक्र एक प्रकार का शस्त्र था। भगवान् कृष्ण इसी के द्वारा युद्ध किया करते थे।

प्राचीन भारत में विशाल साम्राज्य के स्वामी को चक्रवर्ती कहा जाता था। इसका अर्थ है उनके रथ का चक्र घूमता था। वही उनका आधिपत्य हो जाता था । किसी में उसे रोकने का सामर्थ्य नहीं होता है।

चक्र योजनात्मक बुद्धि का प्रतीक है । महापुरुषों ने विश्व का मार्ग दर्शन करने के लिए जो आन्दोलन प्रारम्भ किये चक्र उनका भी प्रतीक है। भगवान् बुद्ध की संघरचना को धर्मचक्र प्रवर्तन कहा गया है।

**चन्द्र**

यह शीतलतेज का प्रतीक है। इसके विपरीत सूर्य उष्णतेज का प्रतीक हैं। वह प्रकाश के साथ उष्णता भी देता है, किंतु चन्द्र शीतलता प्रदान करता है। इसका अर्थ है ज्ञान के साथ नम्रता, प्रभुत्व के साथ विनय।

भगवान् शङ्कर के ललाट पर अर्धचन्द्र माना जाता है, वे सबसे बड़े ज्ञानी हैं। फिर भी अहङ्कार को समाप्त कर चुके हैं। इसीलिए अपने शिर पर भगवान् विष्णु के चरणकमलों से निकली गङ्गा की धारा को धारण करते हैं।

## डमरू

यह शब्द ब्रह्म के रजोगुण का प्रतीक है। विश्व का कंपन डमरू की ध्वनि को प्रकट करता है। पाणिनीकृत अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में वर्णमाला को चौदह सूत्रों में गुम्फित किया गया है। कहा जाता है भगवान् शङ्कर ने अपना नृत्य पूरा होने पर चौदह बार डमरू बजाया। उसी से चौदहसूत्र प्रकट हुये। उपनिषदों में आत्मा से आकाश की उत्पति बताई गई है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी की। इस प्रकार हम देखते हैं कि आकाश सृष्टि का प्रथमतत्व है और उसका गुण शब्द है। वैष्णव परंपरा में डमरू के स्थान पर शंख रखा गया है।

## त्रिनेत्र

भगवान् शिव के तीन नेत्र माने जाते हैं। जब उनका ध्यान विराट सत्ता के रूप मे किया जाता है तो त्रिनेत्र का अर्थ होता है : सूर्य, चन्द्र और अग्नि। इनकी व्याख्या इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में भी की जाती है।

## त्रिशल

यह सत्व, रजस्, और तमस् के रूप में तीन गुणों का प्रतीक है जो समस्त सृष्टि के कारण है। इसे सृष्टि, स्थिति और संहार के रूप में तीन कार्यों का संकेत भी माना जाता हैं। बौद्ध धर्म में यह बुद्ध, धर्म और संघ के रूप में त्रिरत्न का प्रतीक है। इसे त्रिशक्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भी प्रतीक माना जाता है।

**पाश**

यह भगवान् की इच्छा शक्ति का प्रतीक है। इसके द्वारा वे समस्त प्राणियों को अपनी माया में फँसाए रखते हैं। इसमें बँधे होने के कारण जीवों को पशु कहा जाता हैं। त्रिक दर्शन में तीन तत्व माने गये हैं। पशुपति, पाश और पशु। भगवान पशुपति हैं, उनकी माया पाश और उसमें बँधे हुये जीव पशु। वैष्णव परम्परा में जो स्थान चक्र का है वही शैव परम्परा में पाश का है।

**पुस्तक**

यह संगृहीत ज्ञान का प्रतीक है। भारतीय दर्शनों में ज्ञान के दो रूप माने गए हैं। पहला अनुभूति रूप है जहां हम प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा स्वयं निर्णय करते हैं। इस ज्ञान का प्रतीक खड्ग है। दूसरा रूप प्राचीन ऋषि मुनियों के अनुभव हैं, जो पुस्तक के रूप में संगृहीत होते हैं।

**भुजा**

भुजा शक्ति का प्रतीक है। विभिन्न देवी देवताओं की शक्ति प्रकट करने के लिए उनके साथ अनेक भुजाएं लगाई जाती हैं। चार भुजाओं का अर्थ है वह व्यक्ति जिसका चारों ओर प्रभाव है। भगवान् विष्णु की चार भुजाएँ मानी गई हैं। दुर्गा के साथ आठ, दस और सोलह भुजाएं लगाई जाती हैं। ये सब उसके बल अथवा साहसपूर्ण कार्यों को प्रकट करती हैं। सहस्र भुजाओं का अर्थ है अनंत शक्ति।

**मुण्डमाल**

यह भगवान् शकर का आभूषण है। वे खोपड़ियों की माला पहनकर नृत्य करते है। मुंड विनाश का प्रतीक है। उसे आभूषण बनाना भगवान् शङ्कर की विशेषता है।

**मूषक**

यह सूक्ष्म-बुद्धि का प्रतीक है। चूहा गणेश का वाहन है, जो विघ्नों

का नाश तथा सफलता प्रदान करते हैं। उनकी प्रथम विशेषता हाथी का मुँह है। प्राचीन समय में कहा जाता था—'यस्य गजास्तस्य जयः' अर्थात् जिसके पास हाथी है उसकी जीत है। वे शत्रु सेना को रोंदते हुए बढ़ते चले जाते हैं। इसी प्रकार गणेश भी विघ्नों की सेना को कुचल डालते हैं। चूहे की विशेषता है वह कड़ी से कड़ी वस्तु में भी छेद करके खाने की चीज निकाल लेता है। यह सूक्ष्मबुद्धि का प्रतीक है। उसका अर्थ है उलझी हुई बात में रास्ता निकालना। इसलिए गणेश को बुद्धिमानों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है।

## मृग

हरिण निर्दोष पशुओं अर्थात् चलते फिरते जीवों का प्रतिनिधि है। भगवान् उनके रक्षक हैं। इसीलिए भगवान् शंकर के हाथों में मृग दिखाया जाता है।

## वीणा

सरस्वती के एक हाथ में वीणा और दूसरे में पुस्तक रहती है। ये दोनों शब्दब्रह्म के दो रूपों को प्रकट करते हैं। पुस्तक उसका वैखरी रूप है, जहां ध्वनि, वर्ण और अक्षरों का रूप लेकर ज्ञान को धारण करती है। वीणा उस संगीत का प्रतीक है जो समस्त विश्व में निरन्तर चलता रहता है। वही अनाहत ध्वनि के रूप में हृदय में भी उठता रहता है। कानों से बाह्य ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं उन्हें बंद कर लेने पर हृदय वीणा का स्वर सुनाई पड़ता है। योगी उसके द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, जिसे सुरत या शब्दयोग कहा जाता है। समस्त विश्व में भी निरन्तर एक ध्वनि चलती रहती है जो परमात्मा की वीणा का स्वर है। इसी संगीत के द्वारा वह विश्व की सृष्टि करता है। सरस्वती परमात्मा का मातृरूप है। वीणा उसके सृष्टृत्व को प्रकट करती है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो हमारा समस्त बाह्य व्यवहार मानसिक स्पन्दन का परिणाम है। मनमें जो विचार आते हैं वे ही वाणी और

क्रिया के रूप में साकार हो जाते हैं। वीणा उस मानसिक स्पन्दन का प्रतीक है। जब उस पर संकुचित स्वार्थों का आधिपत्य होता है तो क्रूर एवं अपवित्र विचार उठते हैं। इसके विपरीत जब उसके साथ ईश्वरीय शक्ति का सम्बन्ध जुड़ जाता है तो वही पवित्रता, शक्ति, परोपकार एवं आनन्द का स्रोत बन जाता है। वीणा इसी ईश्वरीय संगीत का प्रतीक है। जहाँ संकुचित वृत्तियाँ सर्वहित का रूप ले लेती हैं।

वीणा को जीवन संगीत का प्रतीक भी माना जाता है। संगीत का अर्थ है विभिन्न स्वरों का व्यवस्थित एवँ श्रृंखलाबद्ध होकर बाहर निकलना। स्वरों का विन्यास उचित होने पर वे संगीत बन जाते हैं और अनुचित होने पर वे ही अप्रिय मालूम पड़ने लगते हैं। जीवन संगीत का अर्थ है शरीर, मन, वाणी, ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ आदि समस्त तत्वों का व्यवस्थित रूप में एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना। वीणा का संगीत इसी का संकेत है।

हम ऊपर डमरू का वर्णन कर चुके हैं, उसकी ध्वनि को बिम्ब का मूल कारण माना जाता है। भगवान शङ्कर के डमरू से सर्वप्रथम निराकार शब्द आकार लेकर वर्णमाला के रूप में प्रकट हुआ और वर्णों के संयोजन से शब्दों की रचना हुई। जिन्होंने पुस्तक का रूप ले लिया। इसका मुख्य क्षेत्र बुद्धि है। वही शब्द ब्रह्म जब हृदय को भूमिका पर प्रतिध्वनित होता है तो संगीत का रूप ले लेता है। उससे भाव जगत की रचना होती है।

सरस्वती के बीजाक्षर है ऐं और ह्रीं। इनकी अन्तरध्वनि सरस्वती का अव्यक्तरूप है। वीणा के स्वर में ही झंकृत होते हैं।

**वृषभ**

यह धर्म का प्रतीक है। धर्म की व्याख्या 'धारणाद् धर्म मित्याहुः' के रूप में की जाती है अर्थात् जो विश्व को धारणा करता है वही धर्म

है। वृषभ दूसरों का बोझ उठाता है। और दलदल एवं ऊबड़खाबड़ रास्तों से होता हुआ गाड़ी को पार लगा देता हैं। इसी प्रकार धर्म हमारे जीवन की रक्षा करता है।

'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। सङ्कट तथा विपत्तियों के समय धर्म बल प्रदान करता है। उलझनें आने पर रास्ता दिखाता है। गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं। मामनुस्मर युध्यच'। अर्थात हे अर्जुन मुझे स्मरण रखो और संघर्ष करते जाओ 'न मे भक्तः प्रणश्यति' जो मेरा भक्त है वह कभी पथभ्रष्ट नही होता। उलझनें आने पर धर्म प्रदीप के समान प्रकाश देता है।

प्राचीन समय में महापुरुषों की उपमा वृषभ से दी जाती थी। वे स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों के कष्ट दूर करते थे। वृषभ दूसरों के लिए अधिक से अधिक कष्ट उठाता है और स्वयं घास फूस पर संतोष कर लेता है। मध्यकाल में दृष्टि बदल गई और महापुरुष की उपमा सिंह से दी जाने लगी जो कर्त्तव्यहीन अधिकार का प्रतीक है। वह दहाड़ कर निर्दोष प्राणियों को भगा देता है और जङ्गल का राजा बन जाता है।

वृषभ भगवान शंकर का वाहन है, जो सबसे बड़े ज्ञानी तथा सबसे बड़े त्यागी हैं। अपना स्वार्थ न होने पर भी दूसरों के लिए तपस्या करते हैं।

## वेणु

वीणा के समान वेणु भी शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। वीणा में केवल स्पंदन होता है। यहाँ वह मोहन का रूप ले लेती है। भगवान् कृष्ण की बांसुरी गोपियों को विह्वल कर देती थी। इसी प्रकार भक्त समस्त विश्व में व्याप्त भगवान् की वेणु ध्वनि को सुनकर सुधबुध खो देता है। उसकी मोहनशक्ति के वशीभूत होकर अपने को भूल जाता है।

शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे ।

(ब्रह्मसंहिता)

**व्याघ्रचर्म**

व्याघ्रचर्म दिक है ।

भगवान् शङ्कर का वर्णन कहीं दिगम्बर और कहीं व्याघ्रचर्मधारी के रूप में आता है । यहाँ व्याघ्रचर्म दिशाओं का प्रतीक है ।

व्याघ्र हिंसा तथा क्रूरता का प्रतीक है । भगवान् उसकी हिंसक शक्ति को समाप्त करके अपना वस्त्र बना लेते हैं । यह महापुरुष की विशेषता है । वह संहारक तत्वों को उपयोगी बना लेता है । व्याघ्रचर्म इसी का संकेत है ।

**शङ्ख**

यह शब्द ब्रह्म के रजोगुणी रूप को प्रकट करता है । शैव परम्परा में जो स्थान डमरू का है, वही वैष्णव परम्परा में शङ्ख का है ।

युद्ध में शङ्ख ध्वनि विजय का प्रतीक माना है । योद्धाओं में साहस का संचार करती है ।

**शव**

उस अवस्था का प्रतीक है जहाँ समस्त कामनायें समाप्त हो जाती हैं । समस्त द्वन्द्व मिट जाते हैं । जीवन में जिस शरीर का मोह पागल बनाये रखता है उसी से घृणा होने लगती है । शाक्ततन्त्रों में काली की उपासना श्मशान में शव पर बैठ कर करने का विधान है । श्मशान उस वातावरण को प्रकट करता है जहाँ राजा और रङ्क, धनी और दरिद्र, सबल और निर्बल, ज्ञानी और मूर्ख, सुन्दर और कुरूप सभी समान हो जाते हैं । शव इस अंतिम सत्य को प्रकट करता है ।

**श्मशान**

यह वासना शून्य हृदय का प्रतीक है । इसी में भगवान् का नृत्य होता है ।

## सर्प

यह काल अर्थात् विनाश का प्रतीक है। भगवान् शङ्कर इसे अपना आभूषण बना लेते हैं। संहार उनकी क्रीड़ा है।

## स्मित

यह भगवान की कृपा दृष्टि एवं प्रसन्नता का प्रतीक है।

## शृणि

यह अङ्कुश का नामान्तर है, जिसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है।

## हंस

यह सरस्वती का वाहन है। दूध और पानी को अलग करने का सामर्थ्य रखता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी भले बुरे का विवेक कर सकता है।

उपनिषदों में हंस का वर्णन जीव के रूप में भी आया है। यह निर्लिप्त योगी का प्रतीक भी माना जाता है। जिस प्रकार हंस आकाश में विहार करता है, पृथ्वी को नहीं छूता इसी प्रकार योगी के जीवन पर भी सांसारिक बातों का प्रभाव नहीं पड़ता।

## पञ्चदेव

समस्त धार्मिक परम्पराओं में स्वर्ग या देवलोक के नाम से ऐसे स्थान का वर्णन है, जहाँ प्राणी सुख भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं और पुण्य समाप्त होने पर पुनः मनुष्यलोक में आ जाते हैं। वहाँ के निवासियों को देव या देवता कहा जाता है। किंतु इसका प्राचीन अर्थ ईश्वरीय शक्ति रहा है, वह शक्ति जो प्रत्येक कार्य में सफलता प्रदान करती है।

वैदिक काल में प्रकृति की अधिष्ठाता शक्तियों को देव कहा गया। इन्द्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, वरुण नदी तथा समुद्रों का। रुद्र आँधी का, अग्नि आग का, पूषा पृथ्वी का, यम मृत्यु का, सूर्य प्रकाश का। यजुर्वेद में

बताया गया है कि देवता निराकार शक्ति विशेष हैं। यज्ञ करने पर यजमान में विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो उसे स्वर्ग तथा अन्य सुख प्रदान करती हैं।

जिस प्रकार इच्छाएँ और लक्ष्य असंख्य है उसी प्रकार देवी देवता भी असंख्य हैं। भली या बुरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए देवता का वर्णन न मिलता हो। यहाँ केवल पांच देवों के कुछ ध्यानों का वर्णन किया जायेगा। वे हैं गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति और विष्णु। वैदिक एवं तांत्रिक दोनों परंपराओं में इन देवताओं को माना जाता है। गणेश मंगल करता और विघ्न हरता हैं। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में उनका स्मरण किया जाता है। साथ ही वे बुद्धि के अधिष्ठाता हैं। सूर्य प्रकाश और जागृति के देवता हैं। वे समस्त सृष्टि को जीवन प्रदान करते हैं। संध्या के मन्त्रों में उनका स्मरण किया जाता है। शिव ज्ञान देवता हैं। दुर्गा शक्ति और पराक्रम की। विष्णु संपत्ति के। प्रत्येक कार्य में इन पाँच देवताओं की पूजा का विधान है।

**आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।**
**पंचदैवतमित्युक्तं, सर्वकर्मसु पूजयेत्॥**

जो व्यक्ति नित्यप्रति इन देवताओं का पूजन करता है, वह दुःखी नहीं होता।

**एवं यो भजते विष्णुं, रुद्रं दुर्गां गणाधिपम्।**
**भास्कर च धिया नित्यं, स कदाचिन्नसीदति॥**

जो व्यक्ति इस प्रकार बुद्धि पूर्वक विष्णु, रुद्र, दुर्ग, गणपति तथा सूर्य का स्मरण करता हैं वह कभी दुखी नहीं होता।

पाँच देवों को पृथ्वी आदि पाँच तत्वों का अधिष्ठाता माना जाता हैं। शिव पृथ्वी के अधिष्ठाता हैं, गणेश जल के, दुर्गा अग्नि की, सूर्य वायु के और विष्णु आकाश के।

**आकाशस्याधिपो विष्णु रग्नेश्चैव महेश्वरी।**
**वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥**

(कपिलतंत्र)

तन्त्रसार में इन्हीं के आधार पर साधना की पाँच परम्पराएं आई हैं।

**शैवानि गाणपत्यानि, शाक्तानि वैष्णवानि च।**
**साधनानि च सौराणि, चान्यानि यानि कानि च ॥**

## गणेश

शिव-पार्वती के दो पुत्र माने जाते हैं। गणेश और कार्तिकेय। गणेश में रचनात्मक गुणों की प्रधानता है और कार्तिकेय में ध्वंस की। शिव ज्ञान के देवता हैं और पार्वती या दुर्गा शक्ति की। प्रत्येक के दो रूप होते हैं सर्जक और संहारक। ज्ञान सत्य का पोषक और असत्य का नाशक होता है। इसी प्रकार शक्ति भलाई एवं सज्जनता को प्रोत्साहन देती है। बुराई एवं दुर्जनता का नाश करती है। गणेश ज्ञान और शक्ति के प्रथम रूप को प्रकट करते हैं और कार्तिकेय द्वितीय रूप को।

भारतीय प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में गणेश का स्मरण करते हैं, उनकी मूर्ति बनाकर या चित्र रख कर पूजते हैं। प्रत्येक मंदिर व सार्वजनिक स्थान के द्वार पर गणेश की स्थापना मंगल मानी जाती है।

गणेश की आकृति विचित्र है। सिर हाथी का है, और शेष शरीर मनुष्य का। एक दांत, उभरी हुई तोंद और चूहा वाहन।

हाथी भारतीय परंपरा में मंगल, बुद्धि और दृढ़ता का प्रतीक माना गया है। प्राचीन समय में राज द्वारों पर मंगल के रूप में दोंनो ओर हाथी की मूर्तियां बनाई जाती थीं। वह युद्ध के प्राचीन देवता इन्द्र का वाहन है। आजकल युद्ध में टैंकों का जो महत्व है, वही प्राचीन समय में हाथियों का था। कहा जाता था 'यस्य गजास्तस्य जयः।' अर्थात् जिसके पास हाथी है उसी की जीत है।

दूसरी बात बुद्धि की है । हाथी समस्त प्राणियों में अधिक बुद्धिमान् होता है । अवसर को पहचानता है, संकट के समय उपाय ढूंढ लेता है ।

तीसरी विशेषता संगठन है । हाथी मिल कर रहते हैं और नेता की आज्ञा पालन करते हैं । गणेश भी गण के स्वामी माने जाते हैं । हाथी का सिर उनके नेतृत्व और संगठन शक्ति को प्रकट करता है । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि हाथी अपने इन गुणों का रचनात्मक कार्यों में उपयोग करता है, ध्वंस में नहीं ।

तोंद सुख समृद्धि का प्रतीक है । जिस व्यक्ति को भर पेट खाने को मिलता है और सुख की नींद सोता है उसी के तोंद होती है । यही गणेश को सुख सम्पत्ति के देवता के रूप में उपस्थित करती है । अब हम गणेश के कुछ ध्यानों का वर्णन करेंगे । विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए उनके विभिन्न रूप बताए गए हैं । दैनंदिन प्रार्थना के रूप में उन सबका एक साथ भी पाठ एवं ध्यान किया जा सकता है । प्रत्येक ध्यान से पहले आह्वान करना चाहिए और अंत में यथाशक्ति गणेश मंत्र का जप करना चाहिए ।

## गणेश का आह्वान

वेदों में गणेश का आह्वान नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

**मंत्र—गणानां त्वा गणपतिं हवामहे ।**
**प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे ॥**
**निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ।**
**वसो मम आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥**

हे गणपति ! तुम समस्त गणों के स्वामी हो । इस रूप में हम तुम्हारा आह्वान करते हैं । हे प्रियपति ! तुम समस्त प्रिय वस्तुओं के स्वामी हो । इस रूप में हम तुम्हारा आह्वान करते हैं ।

हे निधिपति ! तुम समस्त निधियों के स्वामी हो इस रूप में हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

तुम गृह के समान आश्रयदाता हो। संकटों और विपत्तियों से बचाते हो। उत्ताप तथा वर्षा में छत्र बन जाते हो।

तुम सर्वज्ञ हो। गर्भ में छिपे रहस्यों को प्रकट करो, जिससे हम उन्हें जान सकें।

प्रस्तुत मंत्र में पाँच बातों के लिए गणेश का आह्वान किया गया है। जो सफलता के मुख्य तत्व हैं। सर्वप्रथम उनका आह्वान गणपति के रूप में किया गया है। वे विभिन्न गणों अर्थात् संगठनों के स्वामी हैं। सामाजिक अनुशासन के बिना व्यक्ति विकास नहीं कर सकता। किंतु विकास के लिए उसके मृदु एवं अनुकूल होना आवश्यक है। प्रथम पंक्ति में गणेश के इसी रूप का आह्वान किया गया है।

द्वितीय पंक्ति में उनका आह्वान प्रिय पति अर्थात् सुखदाता के रूप में किया गया है। आरोग्य, संतान, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि वस्तुएँ प्रिय की कोटि में आती हैं। तृतीय पंक्ति में उनका आह्वान निधिपति के रूप में किया गया है। निधि का अर्थ है समस्त संपत्तियाँ।

चौथी पंक्ति में उन्हें गृह के समान आश्रयदाता बताया गया है। गृह धूप और वर्षा से बचाता है। इसी प्रकार भगवान् गणेश संकटों और विपत्तियों से बचाते हैं। विघ्नविनाशक उनका नामांतर है। पंचम पंक्ति में उनकी स्तुती ज्ञान के देवता के रूप में की गई है। वे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ माने जाते हैं। समस्याओं को सुलझाने और विश्व के रहस्यों को प्रकट करने के लिए उनका स्मरण किया जाता है। उनका वाहन चूहा है। जो कठिन वस्तुओं में भी छेद कर लेता है। यह समस्यओं को सुलझाने का प्रतीक है।

अब गणेश के कुछ रूप बताये जायेंगे। ध्यान करने से पहले प्रत्येक प्रतीक का रहस्य जान लेना आवश्यक है।

**प्रथम रूप**

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं,
प्रस्यन्दन्मद गन्धलुब्ध मधुप व्यालोल गण्डस्थलम् ।
दन्ताघात विदारितारि रुधिरैः सिन्दूर शोभाकरं,
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम् ॥

यह ध्यान प्रत्येक कार्य में सफलता एवं कामना पूर्ति के लिए किया जाता है ।

समस्त सिद्धियाँ देने तथा इच्छायें पूर्ण करने वाले पार्वती के पुत्र भगवान गणेश को वंदन । शरीर बौना तथा स्थूल है । हाथी का मुँह, उभरी हुई तोंद फिर भी सुन्दर दिखाई देते हैं । मस्तक से मद झर रहा है और उस पर भौंरे मंडरा रहे हैं । दाँत शत्रुओं के रुधिर से सना है । जैसे सिन्दूर से रंगा हो ।

**द्वितीय रूप**

**श्वेताङ्गं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः,**
**क्षीराब्धौ रत्नपीठः सुरवरतिलकं रत्न सिंहासनस्थम् ।**
**दोर्भिः पाशाङ्कुशाब्जा भयधरमनिशं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रं,**
**ध्यायेच्छान्त्यर्थमीशं गणपतिममलं श्रीसमेतं प्रसन्नम् ॥**

विघ्नों की शाँति के लिए प्रसन्न मुद्रा में लक्ष्मी सहित शुभ वर्ण गणेश का ध्यान करना चाहिए । समस्त अंग तथा वस्त्र श्वेत हैं । पुष्प गन्ध आदि पूजा की सामग्री भी श्वेत है । क्षीर समुद्र में रत्न निर्मित पीठ है, जहां वे रत्न निर्मित सिंहासन पर विराजमान है । चार हाथ हैं । तीन हाथों में क्रमशः पाश, अंकुश, तथा कमल हैं । चौथा हाथ अभयमुद्रा में है, ललाट पर चन्द्र और तीन नेत्र हैं ।

यह ध्यान विघ्न शान्ति एवं वर प्राप्ति के लिए किया जाता है ।

**तृतीय रूप**

**एक दन्तं महाकायं, लम्बोदर गजाननम्,**
**विघ्ननाश कर देव, हेरम्बं प्रणमाम्यहम् ॥**

एकदन्त स्थूलदेहधारी लम्बोदर तथा गजबदन, विघ्न विनायक भगवान् गणेश को प्रणाम ।

यह ध्यान विघ्नों को दूर करता है ।

**चतुर्थ रूप**

**रक्ष रक्ष गणाध्यक्ष, रक्ष त्रैलोक्यरक्षक !**
**भक्तानामभयकर्त्ता, त्राता भव भवार्णवात् ॥**

हे गणनायक, हमारी रक्षा कीजिए । हे त्रैलोक्यपति हमारी रक्षा कीजिए । हे भक्तों को अभय देने वाले संसार सागर से हमारी रक्षा कीजिए ।

यह ध्यान रक्षा के लिए किया जाता है ।

**पंचम रूप**

**विघ्नेश्वराय वरदाय सुरप्रियाय,**
**लम्बोदराय सकलाय जगद्धिताय ।**
**नागाननाय श्रुतियज्ञ विभूषिताय,**
**गौरीसुताय गणनाथ नमो नमस्ते ।**

हे गणनाथ, हे गौरी पुत्र, तुम्हें बार-बार नमस्कार है । विघ्नों को दूर करने वाले, समस्त इच्छाओं के पूरक, देवताओं द्वारा पूजित, अपने आप में पूर्ण, विश्व का हित करने वाले, गजवदन, गजकर्ण तथा यज्ञोपवीत द्वारा सुशोभित ।

यह ध्यान विघ्न नाश तथा वर प्राप्ति के लिए किया जाता है ।

### षष्ट रूप

गजानन भूतगणाधिसेवितं,
कपित्थजंबूफल चारुभक्षणम्।
उमासुतं शोकविनाशकारकं,
नमामि विघ्नेश्वर पाद पंकजम्।।

समस्त शोक दूर करने वाले पार्वती के पुत्र विघ्नेश्वर भगवान् गणेश के चरण कमलों में प्रणाम। मुख हाथी के समान है। भूतगण सेवा में उपस्थित हैं। कपित्थ तथा जामुन खा रहे हैं।

यह ध्यान शोक दूर करने के लिए किया जाता है। जामुन तथा कपित्थ का भक्षण उनकी बाल क्रीड़ा को प्रकट करता है। जहाँ समस्त चिंताएँ दूर रहती हैं।

### ध्यान-मंत्र

गणेश का ध्यान करते समय नीचे लिखे मंत्र का जप करना चाहिए।

**ॐ ह्रीं गं ह्रीं महागणपतये स्वाहा।**

गणेश का बीजाक्षर 'गं' है।

## सूर्य

सूर्य के रूप में परमात्मा की पूजा एवं ध्यान विश्व की प्राचीनतम परम्परा है। भारत ही नहीं अन्य देशों में भी यही पूजा प्रचलित थी। पारसियों का मिथ्र मित्र सूर्य का अपभ्रंश है। वैदिक सन्ध्या में पढ़ा जाने वाला गायत्री मंत्र सूर्य की स्तुति है। पंजाबी में ईश्वर को रब्ब कहते हैं जो रवि का अपभ्रंश है। आयुर्वेद में आया है 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' अर्थात् आरोग्य के लिए सूर्य से प्रार्थना करनी चाहिए।

सूर्योदय होते ही सृष्टि में नया जीवन आ जाता है। पुष्पों की सुगन्ध फैलने लगती है। भ्रमर गुंजन करने लगते हैं। और पक्षी कलरव। अँधेरा दूर हो जाता है और प्रकाश की किरणें चारों ओर फैलने लगती

है। सूर्य पूर्व दिशा में उदित होकर मध्यान्ह में आकाश के बीच पहुँच जाता है और सन्ध्या समय पश्चिम में। इन्हीं तीन स्थानों पर पहुँचने को सूर्य के तीन कदम बनाये गये हैं। जो विष्णु के भी तीन कदम हैं।

शैव प्रभामण्डल में शिव को बैठाते हैं और शाक्त देवी को। वैष्णव नारायण को। सन्ध्या के वैदिक मंत्र में सूर्य का ही ध्यान किया जाता है, इसका निरूपण पदस्थ ध्यान के अध्याय में किया जा चुका है।

## सूर्य का आह्वान

**ओ३म् विश्वानिदेव सवितुरदुरितानि परासुव।**
**यद्भद्रं तन्न आसुव।**

हे सवितृ देव, हमारे समस्त पापों को दूर करो। जो भद्र है उसे प्रदान करो।

**अग्ने ! नय सुपथा राये, अस्मान्**
**विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्**
**योध्यस्मज्जुहराण मे नो**
**भूयिष्ठां ते नं उक्ति विधेम**

हे अग्नि देव, हमें सन्मार्ग द्वारा समृद्धि की ओर ले चलो।

तुम क्रियाशील समस्त विश्व को जानते हो। जो पाप हमारी प्रगति में बाधक बने हुए हैं, उन्हें दूर करो। हम तुम्हें पुनः पुनः नमस्कार करते हैं।

## प्रातः स्मरण

**प्रातर्भजामि सवितारमनन्तशक्तिं**
**पापौघशत्रुभयरोगहरं परं च।**
**तं सर्वलोककलनात्मककालमूर्तिं**
**गोकंठ बंधनविमोचनमादिदेवम्॥**

मैं प्रातः काल में अनंत शक्ति सूर्यदेव भगवान का स्तवन करता हूँ। जो पाप, शत्रुभय एवं रोगों का नाश करते हैं, सर्वोत्कृष्ट, काल के रूप में समस्त लोकों का संचालन करते हैं और गौओं का कंठपाश छुड़ाते हैं।

गो शब्द के अनेक अर्थ हैं। इसका प्रसिद्ध अर्थ हैं गाय। सूर्योदय होने पर ग्वाले गौओं को खोलकर जगल में चलाने के लिए ले जाते हैं। इसका दूसरा अर्थ है समस्त प्राणी। सूर्योदय होने पर अंधकार का बंधन दूर हो जाता है और प्राणी स्वेच्छानुसार घूमने लगते हैं। तीसरा अर्थ दिशा है। सूर्य प्रत्येक दिशा को जागृत कर देता है। निद्रा के बंधन को समाप्त कर देता है।

तंत्रों में सूर्य का ध्यान नीचे लिखे अनुसार आया है—

**भास्वद्रत्नाढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा, रञ्जितश्चारु केशो।**
**भास्वान्वो दिव्यतेजाः करकमल युतः, स्वर्ण वर्ण प्रभाभिः।**
**विश्वाकाशावकाशग्रहपतिशिखरे, भाति यश्चोदयाद्रौ,**
**सर्वानन्दप्रदाता हरिहर नमितः, पातु मां विश्वचक्षु॥**

अत्यन्त तेजस्वी रत्नों का मुकुट धारण किये हुए दैदीप्यमान रक्त अधरों वाले, सुन्दर केशों वाले, प्रभामय दिव्य तेज संपन्न, हाथों में कमल लेकर स्वर्ण कांति के साथ उदयगिरि (जो अपने शिखर पर समस्त विश्व आकाश एवं ग्रहपतियों को स्थान देता है) पर प्रकट होने वाले, सर्वानन्द-दाता विष्णु शिवादि द्वारा पूजित जगत् के नेत्र रूप सूर्य हमारी रक्षा करे। समस्त प्राणियों को आनन्द देने वाले विश्व के नेत्र भगवान् सूर्य हमारी रक्षा करें, भगवान् विष्णु तथा शिव जिनकी वन्दना कर रहे हैं, शिर पर दैदीप्यमान रत्नों का मुकुट है, अधरों पर मुस्कान है, सुन्दर केश हैं।

**प्रथम ध्यान**

कामना पूर्ति के लिए

रक्ताम्बुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं,
भानुं समस्त जगतामधिपं भजामि।
पद्मद्वयाभयवरान् दधतः कराब्जै
र्माणिक्यमौलिमरुणाङ्गरुचिं त्रिनेत्रम्॥

मैं रक्त कमल पर विराजमान समस्त गुणों के सागर समस्त संसार के स्वामी भगवान् भास्कर का ध्यान करता हूँ। दो हाथों में कमल हैं, तीसरा अभयमुद्रा में है, और चौथा वरद मुद्रा में। शिर पर रत्नों का मुकुट है। अङ्गों से रक्त प्रभा निकल रही है और तीन नेत्र हैं।

यह ध्यान कामना पूर्ति के लिए किया जाता है।

## द्वितीय ध्यान

शत्रु तथा रोग नाश के लिए

तेजोमये मण्डलमध्य भागे,
सिंहासने रत्नमयेब्जरूपे।
आसीनमुग्रायुधदीप्तहस्तं,
छायापतिं चण्डकरं नमामि॥

तेजोमय मंडल के मध्य में कमल है। वहाँ रत्ननिर्मित सिंहासन पर भगवान सूर्य विराजमान हैं। हाथों में विविध शस्त्र चमक रहे हैं। इस रूप में प्रचंड किरणों वाले तथा छाया के अधिपति भगवान् भास्कर को नमस्कार।

यह ध्यान शत्रु, विघ्न तथा रोग नाश के लिए किया जाता है।

## तृतीय ध्यान

सुख सम्पत्ति के लिए

श्रिया समेतं श्रितपारिजातं,
वियत्प्रदीपं वितत प्रतापम्।

नयप्रचारं नगराजधीरं,
दयासमुद्रं तपनं नमामि ॥

मैं लक्ष्मी सहित कमल पर विराजमान, आकाश के प्रदीप, जिनका प्रताप चारों ओर फैला हुआ है, न्याय का प्रचार करने वाले, पर्वत के समान धीर, दया के सागर, भगवान् सूर्य को नमस्कार करता हूँ।

यह ध्यान सुख सम्पत्ति एवं परमात्मा की कृपा प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

## चतुर्थ ध्यान

प्रत्यक्षदेवं परिपूर्णबिम्बं,
समुज्ज्वलं दीधितिभिः सहस्रैः ।
निशातमश्चित्तगतं तमश्च,
प्रध्वंसयन्तं परमेशमीडे ।

मैं हजारों किरणों से देदीप्यमान पूर्णबिंब, रात्रीं तथा हृदय के अंधकार को दूर करने वाले प्रत्यक्ष परमात्मा भगवान् सूर्य की स्तुति करता हूँ,

यहाँ सूर्य को प्रत्यक्ष देव बताया गया है। अर्थात् अन्य सब देवता तो अप्रकट हैं, किंतु सूर्य प्रत्यक्ष है। वह बाह्य अंधकार को दूर करता है। ईश्वर के रूप में ध्यान करने पर हृदय के अन्धकार को भी मिटाता है।

यह ध्यान ज्ञान प्राप्ति के लिए किया जाता है।

## पंचम ध्यान

मित्रं पवित्रंनलिनीकलत्रं,
हिरण्यगात्रं हिमवीतिहोत्रम् ।
तमोलतादात्रममर्त्यं चैत्रं,
विशालनेत्रं रविमाश्रयेऽहम् ॥

मैं स्वर्ण के समान तेजस्वी अंगों वाले, कमलिनियों के स्वामी, हिम

अर्थात शीत को दूर करना ही जिनका यज्ञ है, अंधकार की बेल काटने वाले देवताओं के प्रतिनिधि, विशाल नेत्र, परमपवित्र, सबके मित्र भगवान् सूर्य की शरण लेता हूँ।

यह ध्यान जीवन में पवित्रता लाने के लिए किया जाता है।

**षष्ट ध्यान**

भ्रम नाश के लिए

**जपाकुसमसंकाशं, काश्यपेयं महाद्युतिम् ।**
**ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नं, प्रणतोऽस्मिदिवाकरम् ॥**

जवा कुसुम के समान रक्त वर्ण, अत्यन्त तेजस्वी, अन्धकार तथा समस्त पापों को दूर करने वाले कश्यप की सन्तान भगवान् भास्कर को प्रणाम। यह ध्यान अज्ञान तथा पापों का नाश करने के लिए किया जाता है।

**सूर्य मंत्र**

सूर्य के ध्यान में नीचे लिखे मंत्र का जप करना चाहिए—

**ओ३म् श्री सूर्याय नमः।**

शारदातिलक मंत्रमहार्णव में नीचे लिखा मंत्र आया है।

**ओ३म् ह्रीं घृणिः सूर्य आदित्यः श्रीं।**

**सूर्य-स्तुति**

**आदिदेव नमस्तुभ्यं प्रसीद मम भास्कर ! ।**
**दिवाकर नमस्तुभ्यं प्रभाकर नमोऽस्तु ते ॥१॥**

**सप्ताश्वरथमारूढं प्रचंडं कश्यपात्मजम् ।**
**श्वेतपद्मधरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥२॥**

**लोहितं रथमारूढ सर्वलोकपितामहम् ।**
**महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥३॥**

त्रैगुण्यं च महाशूरं ब्रह्माविष्णु महेश्वरम् ।
महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥४॥

बृंहितं तेजपुंजं च वायुमाकाशमेव च ।
प्रभुं च सर्वलोकानां तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥५॥

बंधूकपुष्पसंकाशं हारकुंडलभूषितम् ।
एकचक्रधरं देवं त सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥६॥

तं सूर्यं विश्वकर्तारं महातेजः प्रदीपनम् ।
महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥७॥

तं सूर्यं जगतां नाथं ज्ञानविज्ञानमोक्षदम् ।
महापापहरं देवां तां सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥८॥

हे आदिदेव भास्कर ! आपको प्रणाम है, आप मुझ पर प्रसन्न हों, हे दिवाकर ? आपको नमस्कार है, हे प्रभाकर, आपको प्रणाम है !!

मैं, सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़, हाथ में श्वेत कमल धारण किये, प्रचंड तेजस्वी कश्यपकुमार सूर्य को प्रणाम करता हूँ ।

मैं, लोहित वर्ण, रथपर आरूढ़, सर्वलोक पितामह, महापापहारी सूर्य देव को प्रणाम करता हूँ ।

मैं, बढ़ते हुए तेज के पुंज, वायु और आकाश के समान, समस्त लोकों के अधिपति सूर्य को प्रणाम करता हूँ ।

में बंधूक फूल के समान अरुणवर्ण, हार और कुण्डल से सुशोभित, एक चक्र वाले सूर्य भगवान् को प्रणाम करता हूँ ।

मैं, महान तेज के प्रकाशक, जगत् के कर्त्ता महापापहारी सूर्य भगवान को नमस्कार करता हूँ ।

मैं, सूर्यदेव को जो जगत् के नायक हैं, ज्ञान-विज्ञान तथा मोक्ष दायक हैं, बड़े से बड़े पापों का नाश करते हैं, नमस्कार करता हूँ ।

सूर्यमंडलाष्टक

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरंचिनारायणशंकरात्मने ।।१।।

यन्मंडलं दीप्तिकरं विशालं
रत्नप्रभं तीव्रमनादिरूपम् ।
दारिद्र्यदुःखक्षयकारणं च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ।।२।।

यन्मडलं देवगणैः सुपूजितं
विप्रैः स्तुतं भावनमुक्तिकोविदम् ।
तं देवदेवं प्रणमामि सूर्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ।।३।।

यन्मंडलं ज्ञानघनं त्वगम्यं
त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ।
समस्ततेजोमयदिव्यरूपं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ।।४।।

यन्मंडलं गूढमतिप्रबोधं
धर्मस्य वृद्धिं कुरुते जनानाम् ।
यत्सर्वपापक्षयकारणं च
पुनातु मां तत्सवितुर्वण्यम् ।।५।।

यन्मंडलं व्याधिविनशादक्षं
यदृग्यजुःसामसु संप्रगीतम् ।
प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ।।६।।

यन्मंडलं वेदविदो वदंति
गायंति यच्चारणसिद्धसंघाः ।
ध्यायंति यद् योगजुषां च संघाः
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥७॥

यन्मंडलं सर्वगतस्य विष्णोः
आत्मा परंधाम विशुद्धतत्वम् ।
सूक्ष्मान्तरैर्योगपथानुगम्यं
पुनातु माँ तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥८॥

मंडलाष्टमिदं पुण्यं यः पठेत्सततं नरः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ॥९॥

जगत् के एकमात्र नेत्र, संसार की उत्पत्ति-स्थिति तथा नाश के कारण वेदत्रयीस्वरूप, सत्वादि गुणों के अनुसार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन रूप धारण करने वाले सूर्य भगवान को नमस्कार।

भगवान् सूर्य का परम पावन मण्डल जिसका सभी अभिनन्दन करते हैं मेरी रक्षा करे। जो समस्त विश्व का प्रकाशक, विशाल, रत्नों के समान प्रभास्वर, देदीप्यमान, अनादि तथा दारिद्रय एवं दुःखों को दूर करता है।

जिसकी देवगण पूजा और ब्राह्मण स्तुति करते हैं, जो भक्तों को मुक्तिप्रदान करता है उस देवाधिदेव सूर्य को प्रणाम है। उसका परम पावन मण्डल, जिसका सभी अभिनन्दन करते हैं, मेरी रक्षा करे।

जो ज्ञानघन, अगम्य, त्रिलोक-पूज्य, त्रिगुण, तेजोमय और दिव्य स्वरूप है। सूर्य भगवान का वह परम पवित्र मण्डल, जिसका सभी अभि नन्दन करते हैं, मेरी रक्षा करे।

जो रहस्यमय, तथा ज्ञान से परे है, लोगों में धर्म की वृद्धि तथा समस्त पापों का नाश करता है। सूर्य भगवाम् का वह परम पावन मण्डल जिसका सभी अभिनन्दन करते हैं, मेरी रक्षा करे।

जो रोगों का विनाशक, ऋग्, यजु, और साम—तीन वेद जिसकी स्तुति करते हैं। तथा जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग तीनों लोकों को प्रकाशित करता है। सूर्य भगवान् का वह परम-पावन मंडल, जिसका सभी अभिनन्दन करते हैं, मेरी रक्षा करे।

वेदज्ञ, जिसका वर्णन करते हैं, चारण तथा सिद्ध गान करते हैं और योगी ध्यान करते हैं : सूर्य भगवान का वह परम पावन मंडल जिसका सभी अभिनन्दन करते हैं, मेरी रक्षा करे।

जो सर्वव्यापी भगवान् विष्णु का परमधाम विशुद्ध तत्त्व तथा आत्मा है, सूक्ष्म बुद्धि वाले जिसे योगमार्ग द्वारा प्राप्त करते हैं, सूर्य भगवान का वह परम-पावन मंडल, जिसका सभी अभिनन्दन करते हैं मेरी रक्षा करे।

जो पुरुष इस परम पवित्र मंगलाष्टक का नित्य प्रति पाठ करता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर सूर्यलोक को प्राप्त होता है।

## शिव

मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा के प्राचीन अवशेषों में शिव की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। जो अत्यन्त प्राचीन काल में शिव की पूजा को प्रकट करती है। तबसे लेकर आजतक यह पूजा निरन्तर चली आ रही है। द्रविड़ों ने उन्हें शिश्न एवं अन्य रूपों में पूजा। वैदिक आर्यों ने रुद्र के रूप में, पुराणों ने महादेव तथा अन्य रूपों में वर्णन किया। उन्हें लक्ष्य में रखकर विशाल आगम एवं तन्त्र साहित्य की रचना हुई। काश्मीर तथा दक्षिण की शैव परम्पराओं का जन्म हुआ। तान्त्रिक एवं अन्य उपासना पद्धतियों का विकास हुआ। कालीदास भारवि आदि महाकवियों ने उनके जीवन की घटनाओं को लेकर महाकाव्य रचे, नाट्यवेद के तो वे जन्मदाता ही माने जाते हैं। उनकी विविध मूर्तियों को प्रतिष्ठित कराने वाले दक्षिण दथा उत्तर भारत के मन्दिर स्थापत्य के अद्‌भुत निदर्शन हैं।

शिव पूजा भारतीय एकता का ज्वलंत प्रतीक है। उत्तर में हिमा-

लय तो इनका घर ही है। उसके पश्चिमी कोने से लेकर पूर्वी कोने तक इनके मन्दिरों की शृङ्खला बनी हुई है। काश्मीर में अमरनाथ, पंजाब में शिमला और शिवालीक की पर्वत श्रेणियाँ, उत्तर प्रदेश में बदरीनाथ तथा नैपाल में पशुपतिनाथ के रूप में उनकी पूजा चिरकाल से चली आ रही है। ये ही भूटानियों के भूतनाथ हैं। दार्जिलिंग का स्थानीय उच्चारण धूर्जलिंग धूर्जटिलिंग का अपभ्रंश है। मानसरोवर और कैलाश उनके निवास स्थान हैं। दक्षिण में वे ही रामेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वहाँ के तिलाई, कम्बवन आदि स्थान शिव की क्रीड़ा भूमि माने जाते हैं। पश्चिम में प्रभासतीर्थ है, जहाँ शोमनाथ का मन्दिर है। पूर्व में वैद्यनाथ धाम है। शिव के बारह ज्योतिर्लिङ्ग सारे भारत को व्याप्त कर लेते हैं, और इस प्राचीन देश की सांस्कृतिक एकता को प्रकट करते हैं।

भारत के जितने प्रसिद्ध राजवशं हैं प्रायः शिव ही उनके इष्ट देवता हैं। ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दि में विदिशा का श्रुंग वंश वाकाटकवंश तथा गुप्त साम्राज्य इन्हीं को अपना इष्ट देवता मानते थे। मध्य तथा वर्तमान काल में भी इनकी पूजा अक्षुण्ण चली आ रही है।

गुजरात के सोलंकी इन्हीं के उपासक रहे हैं। बुंदेलखंड के वघेलों एवं अन्य क्षत्रियों में हर-हरमहादेव युद्ध का नारा रहा है। मेवाड़ का राजवंश एक लिंग का उपासक है, उसके युद्ध का नारा है—जय एकलिंग!

शिव पूजा अनेक रूपों में पाई जाती है, नटराज, अर्द्धनारीश्वर, योगिराज, लिंग आदि। ये सब विभिन्न आदर्शों को उपस्थित करते हैं।

**प्रथम रूप—नटराज**

भगवान् शंकर का सर्वोत्तम रूप नटराज है। उसका ध्यान जीवन को प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करता है।

**चिन्तन**

यह विश्व उस अभिनेता का महानाटक है। उसी की लीला है। वह

ऐसा अभिनेता है जो रंगमंच और दर्शकों की सृष्टि भी स्वयं करता है। कोई उससे भिन्न नहीं है। चाँद, सूरज, तारे, पर्वत तथा नदियाँ उसका प्रसाधन है। आकाश नेपथ्य तथा विश्व की समस्त हलचल अभिनय है।

नटराज के रूप में शिव की मूर्तियाँ भारतीय कला का उच्चतम निदर्शन है। मद्रास के संग्रहालय में इसकी एक अत्यन्त कलापूर्ण मूर्ति है, इसमें प्रभा मण्डल के भीतर नटराज का नृत्य दिखाया गया है। प्रभा मण्डल माया का संकेत है। वह इसे अपने हाथों और पैरों से स्पर्श करके शक्ति संचार कर रहा है। एक हाथ में सृष्टि सूचक डमरू और दूसरे में प्रलय सूचक अग्नि है। ये दोनों क्रमशः रजोगुण और तमोगुण के द्योतक हैं। उठा हुआ पैर जीव को मुक्ति देता है। तीसरा हाथ वरदमुद्रा में ईसी को ओर संकेत कर रहा है—'इसकी शरण में आजाओ रक्षा होगी, ऊभय हस्त 'मा भैषीः' कहकर अभयदान दे रहा है। ये तीनों हाथ स्थिति अर्थात सत्वगुण के द्योतक हैं। कटिवस्त्र दिशा और कमरे में लगा हुआ सर्प काल है। प्रभामण्डल के चक्र में अनेक आरे हैं, ये महत् या प्रकृति से बुद्धि, मन, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा आदि सृष्टि की सूक्ष्मावस्था के द्योतक हैं। चक्र से लगे हुए पांच स्फुलिंग के गुच्छक सृष्टि की स्थूलावस्था अर्थात् पञ्चमहाभूतों का संकेत हैं। संसार में अणु परमाणु से लेकर बड़ी से बड़ी शक्ति में जो स्पंदन दिखाई पड़ता है वह महानट का नृत्य है।

श्रीकुमार स्वामी ने इस नृत्य की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है:—

'ईश्वर नर्तक है, लकड़ी में छिपी हुई आग के समान वह चेतन और अचेतन में अपनी शक्ति का सञ्चार कर रहा है और समस्त जगत को नचा रहा है। यह नृत्य यथार्थ में ईश्वर की पाँच क्रियाओं का द्योतक है, जिनके कारण उसके पाँच नाम हो गये हैं—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव। ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन तथा रुद्र संहार करते हैं। महेश्वर का कार्य दुष्टों का निग्रह है और सदाशिव भक्तों पर अनुग्रह।

नटराज का ध्यान करने के लिए उनकी मूर्ति के साथ पञ्चाक्षर मंत्र **नमः शिवाय** का तादात्म्य बताया गया है—

'चरणों में 'न' नाभि में 'मः' स्कंध देश में 'शि' मुखमंडल में 'वा' और मस्तक में 'य'।

पञ्चाक्षर के ध्यान की दूसरी रीति इस प्रकार है :—

'डमरू वाला हाथ 'शि' फैला हुआ हाथ 'वा' अभय हस्त 'य' अग्नि वाला हाथ 'न' और अपस्मार पुरुष को दबाकर रखने वाला पैर 'मः' है, पांचों अक्षरों के अर्थ क्रमशः ईश्वर, शक्ति, आत्मा, तिरोभाव और मल है।

## द्वितीय रूप : सांध्य नृत्य

**सांध्य नृत्य**—नटराज के रूप में उनका द्वितीय रूप सांध्यनृत्य है। इसका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है—

**कैलासशैलभुवने त्रिजगज्जनित्रीं**
**गौरीं निवेश्य कनकार्चितरत्नपीठे।**
**नृत्यं विधातुमभिवांछति शूलपाणं**
**देवाः प्रदोषसमये नु भजंति सर्वे॥**

**वाग्देवी धृतवल्लकी शतमुखो वेणुं दधत्पंकजं ?**
**तालोन्निद्रकरी रमा भगवती गेयप्रयोगान्विताः।**
**विष्णुः सांद्रमृदंगवादनपटुर्देवाः समंतात्स्थिताः**
**सेवंते तननु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम्।,**

**गंधर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य—**
**विद्याधरामरवराप्सरसां गणाश्च,**
**येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सहभूतवर्गाः**
**प्राप्ते प्रदोषसमये हरपार्श्वसंस्थाः,,**

संध्या का समय था। भगवान् शूलपाणि कैलाशशिखर पर विराजमान थे। उन्होंने जगज्जननी माता पार्वती को रत्नखचित स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया और उसके सामने नृत्य करना चाहा। सभी देवताओं ने उनका साथ दिया।

सरस्वती ने हाथ में वीणा ले ली, इंद्र ने बांसुरी....

लक्ष्मी गीत के साथ ताल देने लगी, विष्णु मृदंग बजाने लगे, अन्य देवता चारों ओर खड़े हो गए,।

गंधर्व, यक्ष, पक्षी, सर्प, सिंह, साध्य, विद्याधर, देवता, अप्सराएँ तथा भूत, पिशाच आदि विश्व के समस्त निवासी सेवा में उपस्थित हो गए।

शक्ति प्राप्त करने के लिए समस्त तत्त्वों का एक ही लक्ष्य पर केंद्रित होना आवश्यक है। प्रस्तुत नृत्य इसी तथ्य को प्रकट करता है। विश्रृंखलित शक्तियां समाज तथा व्यक्ति को दुर्बल बना देती हैं। इसके विपरीत जब सब का प्रवाह एक ही दिशा की ओर होने लगता हैं तो महाशक्ति उत्पन्न होती है। परिश्रम थकावट के स्थान पर मनोरंजन बन जाता है। प्रस्तुत नृत्य इसी सामूहिक श्रम का आदर्श है।

## तृतीय—विराटनृत्य

विराट सत्ता के रूप में भी शिव का ध्यान किया जाता है। ऊर्ध्वलोक उनका मस्तक है। सूरज और चाँद दो आँखें। तृतीय नेत्र बिजली। कालीघटा जटाएं। दिशाएं तथा उपदशाएं आठ भुजाएं तथा विश्व की हलचल।

मुद्राराक्षस के मंगलचरण में विशाखदत्त ने विराट नृत्य का दूसरे रूप में चित्रण किया है। वह भगवान् शंकर के तेज एवं बल को प्रकट करता है—

"नटराज के रूप में भगवान् शंकर नृत्य कर रहे हैं किंतु संकोच के साथ। भुजाएं पूरी नहीं फैला पाते। डर लगता है कहीं पहाड़ न गिर जायँ। पलकें पूरी नहीं खोलते, डर है कहीं उग्रदृष्टि अरण्यों को भस्म न कर दे। पैर भी संकोच के साथ रखते हैं। डर है, कहीं पृथ्वी नीचे न धँस जाए।"

भगवान् शंकर का यह रूप पराक्रम और वीरता का उच्चतम निदर्शन है। विश्वविजयी महापुरुष सामर्थ्य होने पर भी अपने प्रवृत्ति क्षेत्र को संकुचित रखता है। उसका कारण करुणा होती है, शक्ति की न्यूनता नहीं।

सर्वानन शिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

समस्त मुख भगवान् शिव के मुख है। समस्त शिर भगवान् शिव के शिर है और समस्त ग्रीवाएं भगवान् शिव की ग्रीवाएं। वे समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान है। सर्वव्यापी हैं, कण-कण में समाए हुए हैं।

## परमात्मा का विराट रूप

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यों
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमरस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतांतरात्मा॥
(मुंड० २। १। ४)

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः॥
त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
सर्वतः पाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः।
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि॥
(महा० अनु० ४५। ३६६-६७, ४०७)

विष्णुर्वात्रिपुरांतको भवतु व ब्रह्मा सुरेंद्रोऽथवा
भानु र्वा शश लक्षणोऽथ भगवान् बुद्धोऽथ सिद्धोऽथवा
राग-द्वेष-विषार्तिमोह रहितः सत्वानुकंपोद्यतो
यः सर्वैः सह सँस्कृतो गुण गणैस्तस्मै नमः सर्वदा

अग्नि उसका मस्तक है, सूर्य और चंद्र आँखें, दिशाएं कान और ज्ञान का समस्त विस्तार वाणी। वायु श्वासप्रश्वास है, समस्त विश्व हृदय और पृथ्वी पैर। वह समस्त प्राणियों की अंतरात्मा है।

हे भगवन्, तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं रुद्र। तुम्हीं वरुण, अग्नि, कामदेव धाता, त्वष्टा तथा विधाता हो। तुम सबके स्वामी हो, सर्वत्र व्याप्त हो। तुम्हीं से स्थावर और जंगम समस्त प्राणियों की सृष्टि हुई है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तुम्हारे हाथ अर्थात् कर्तृत्वशक्ति न हो, ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ तुम्हारे पैर न हों अर्थात् जो तुम्हारी पहुँच से परे हो। तुम्हारी आंखें, तुम्हारा सिर और मुख भी सर्वत्र हैं। तुमने समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है।

चाहे वह विष्णु हो या महादेव हो, ब्रह्मा हो या देवेश्वर इंद्र हो, सूर्य हो या चंद्र हो, भगवान् बुद्ध हो या महावीर हो;—जो रागद्वेषरूपी विष की पीड़ा से आने वाली मूर्च्छा से रहित है, जीवमात्र के प्रति अनुकंपा से प्रेरित है, उसे निरंतर नमस्कार है।

## अनिर्वचनीय

विभूषणोद्भासि भुजंगभोगिवा
गजाजिनालंबिदुकूलधारिवा।
कपालि वा स्यादथवेंदुशेखरः
स विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः॥

(कुमारसभव ५)

भगवान् विश्वमूर्ति हैं। उनका असली रूप बुद्धि से परे है। कहीं वे

आभूषण पहने दिखाई देते हैं और कहीं सर्प धारण किए हुए। कहीं गज चर्म पहने और कहीं रेशमी वस्त्र। हाथ में कपाल और चन्द्रमा का मुकुट धारण कर रखा है।

## अर्द्ध नारीश्वर

शंकर के अर्द्धनारीश्वर रूप में मानव जाति का महान आदर्श छिपा है। इलोरा की गुफा में इस रूप की भव्यमूर्ति है। परब्रह्म सत्, चित् और आनन्द रूप है। सत् अंश मातृ स्वरूप है और चित् पितृ-स्वरूप। आनन्दरूप में दोनों का सामञ्जस्य होता है। अर्धनारीश्वर रूप इसी को प्रकट करता है। आनन्द के दर्शन तब होते हैं जब स्त्री और पुरुष मिल कर पूर्णतया एक हो जाते हैं। साधारणतया लोग शिव को योगीश्वर कहते हैं, परन्तु वे गृहस्थों के भी आदर्श हैं। भारत में विवाहित स्त्रियाँ उन्हें पूजती हैं।

शिव और पार्वती का मेल दाँपत्य के उच्चतम आदर्श को उपस्थित करता है। स्त्री तपस्या करती है और उसका फल पुरुष को मिलता है। पुरुष श्रम करता है और उसका फल स्त्री को मिलता है। एक कवि ने इसी रूप को लेकर वंदना की है। वह कहता है—

परस्पर तपः सपत् फलायित परस्परौ।
प्रपंचमातापितरावाद्यौ जायापती नुमः।

परमेश्वर ने तपस्या की, उसका फल पार्वती को मिला। दूसरी ओर पार्वती ने तपस्या की फल परमेश्वर को मिला। जगत् के माता और पिता के रूप में उन दोनों को वंदन है। ये ही प्रथम दंपति है।

शिव ज्ञान के देवता हैं और पार्वती शक्ति की देवी हैं। दोनों का मेल शक्ति के अवतार कार्तिकेय को उत्पन्न करता है जो देवताओं का सेनानी बनकर विश्व की रक्षा करता है। इस कथा को कालिदास ने अपने कुमारसंभव नामक महाकाव्य में चित्रित किया है।

महाकवि कालिदास इसी रूप के उपासक थे। उनका कथन है कि एक ही सत्ता स्त्री और पुरुष दो रूपों में विभक्त हो गई। रघुवंश के मंगलाचरण में अर्द्धनारीश्वर के इस सम्बन्ध की वाणी और अर्थ से उपमा दी गई है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वती परमेश्वरौ॥

अर्थात् वाणी और अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए मैं वाणी ओर अर्थ के समान सटे हुए विश्व के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर को वंदन करता हूँ।

पुरुष अर्थ के समान है, जो वाणी के विना प्रकट नहीं होता। नारी पुरुष की प्रेरणा शक्ति है। उसको लक्ष्य में रखकर वह अपनी प्रतिभा, पौरुष एवं अन्य शक्तियों को अभिव्यक्त करता है। उसके बिना वह लकड़ी में छिपी हुई आग के समान है।

दूसरी ओर पुरुष के बिना स्त्री निरा प्रदर्शन है। पुरुष उसके सौन्दर्य को मूल्य प्रदान करता है। दोनों का मेल विश्व की समस्त प्रवृत्तियों का मूल है। सारी हलचल उसी की अभिव्यक्ति है। जो कहीं किसी रूप में होती है और कहीं किसी रूप में। तंत्रशास्त्र में स्त्री और पुरुष के मेल को संघट्ट या संघर्षण का रूपक दिया गया है जिसका अर्थ है दो वस्तुओं की परस्पर रगड़। इसी से समस्त शक्तियाँ प्रकट होती हैं।

कवि का कथन है कि जब परमात्मा सृष्टि करना चाहता है तो वही दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक भाग नारी है और दूसरा पुरुष। एक प्रेरणा शक्ति है और दूसरी उत्साह शक्ति। एक इच्छा और दूसरा कर्म। इच्छा कर्म को रस प्रदान करती है और कर्म इच्छा को अवंध्य बनाता है।

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ॥

भगवन् जब तुम सृष्टि करना चाहते हो, तुम्हारी ही मूर्ति स्त्री और पुरुष के रूप में विभक्त हो जाती है। वे ही विभक्त रूप सृष्टि के माता पिता हैं।

अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति में दक्षिण भाग पुरुष का है, वाम स्त्री का। ऊपर से लेकर नीचे तक सभी अंग इस रूप को लिए हैं। सिर के एक ओर जटाजूट है दूसरी ओर गुथीं हुई वेणी। एक कान में रुद्राक्ष की माला है दूसरे में कुंडल। ललाट पर एक ओर चन्द्र है दूसरी ओर बिंदी। आँख, नाक, कान, मुख आदि सभी अंग एक ओर पुरुष को प्रकट करते हैं, दूसरी ओर स्त्री को। यही बात छाती की है। पैरों के आभूषण भी इसी प्रकार के हैं।

अर्द्धनारीश्वर का यह रूप परमात्मा की उस अवस्था को प्रकट करता है जिस समय सृष्टि नहीं हुई थी। समस्त सृष्टि नामरूपात्मक है जिन्हें वाचक और वाच्य भी कहा जाता है। शब्द वाचक है ओर वस्तुएँ या पदार्थ वाच्य। किंतु प्रकट होने से पहले वाच्य और वाचक मिले रहते हैं। यह अवस्था विचार या ज्ञान की है। वही ज्ञान एक ओर वाच्य अर्थात् पदार्थों का रूप लेता है। दूसरी ओर शब्दों को विभाजन से पहले की इस अवस्था को 'पश्यन्ती' या 'अव्यक्त ब्रह्म' कहा जाता है।

एक मूर्ति ऐसी भी मिलती है जहाँ शिव मृत के समान भूमि पर पड़े हैं और पार्वती उन पर उद्धत होकर नृत्य कर रही हैं। यह मूर्ति शक्ति और ज्ञान के विरोध को प्रकट करती है। शक्ति के बिना ज्ञान मृत के समान होता है वह कुछ नहीं कर सकता। दूसरी ओर ज्ञान के बिना शक्ति उच्छृंखल हो जाती है और सृजन के स्थान पर विनाश की ओर पड़ती है। उसे सर्जक बनाना ज्ञान का काम है।

अर्द्धनारीश्वर का दूसरा रूप वृषभारूढ़ शिव और पार्वती के रूप

में मिलता है। दुर्गा का वाहन सिंह है। एक हाथ में नरमुंड है दूसरे में कृपाण। सिंह उच्छृंखल शक्ति का प्रतीक है। वह कर्त्तव्य से सदा विमुख रहता है। निर्दोष पशुओं पर हिंसक आक्रमण करके जंगल का राजा बन जाता है और इसे अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझता है। ज्ञानहीन शक्ति कर्त्तव्य की ओर ध्यान नहीं देती।

शिव का वाहन बैल है, वह दूसरों का बोझ उठाने के लिए कठोर परिश्रम करता है। दल-दल में फंसी गाड़ी को खींचकर पार लगाता है, और घासफूस खाकर संतुष्ट रहता है। उसकी दृष्टि कर्त्तव्य पर रहती है अधिकार पर नहीं। वह कर्त्तव्य का प्रतीक है।

विश्वकल्याण के लिए शिव और पार्वती का विवाह हो गया। पार्वती सिंह को छोड़कर बैल पर आ बैठी। आगे शिव और पीछे पार्वती। दूसरे शब्दों में यों कहा जायेगा ज्ञान और शक्ति ने कर्त्तव्य को अपनी सवारी बना लिया। ज्ञान पथप्रदर्शन करने लगा और शक्ति उसकी सहायक बन गयी। अर्धनारीश्वर का ध्यान नीचे लिखे अनुसार किया जाता है।

**नील प्रवाल रूचिरं विलसत्त्रिनेत्रं**
**पाशारुणोत्पलकपालक शूलहस्तम्।**
**अर्धाम्बिकेशमनिश प्रविभक्तभूषं**
**बालेन्दु बद्धमुकुटं प्रणमामि रुपम्॥**

शरीर नीलमणि और प्रवाल के समान सुन्दर है; तीन नेत्र हैं; चार हाथों में क्रमशः पाश, रक्त-कमल, कपाल ओर त्रिशूल हैं; आधा अंग स्त्री का है आधा पुरुष का; दोनों ने अपने-अपने आभूषण पहन रखे हैं' ललाट पर अर्धचन्द्र का मुकुट है; ऐसे स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ।

प्रस्तुत श्लोक में शिव और पार्वती के संमिलित रूप का वर्णन किया गया है। शिव नील वर्ण हैं और पार्वती प्रवाल के समानरक्त वर्ण। पार्वती

के हाथों में पाश और रक्तकमल है। पाश माया शक्ति का प्रतीक है जिसके द्वारा वह समस्त प्राणियों को बाँधे रहती है। रक्तकमल हृदय की कोमलता और अनुराग का प्रतीक है जो उसके मातृत्व को प्रकट करता है। शिव के हाथों में कपाल और त्रिशूल। कपाल संहार का प्रतीक है। त्रिशूल दुष्टों के दमन का। पुरुष अपनी शक्ति का प्रयोग विघ्नों तथा शत्रुओं के संहार में करता है तभी मातृ शक्ति का विकास होता है। आभूषण भी एक ओर स्त्री के हैं दूसरी ओर पुरुष के।

इनका मन्त्र है—

'रं क्षं मं यं औं ॐ।

## समाधिस्थ शिव

महाकवि कालिदास ने 'कुमार संभव' में भगवान् शिव की समाधि का वर्णन किया है। मन को एकाग्र करने के लिए यह ध्यान विशेष महत्व रखता है। चित्रण नीचे लिखे अनुसार है :—

"पर्वत की गुफा में देवदारु की चौकी पर शार्दूल-चर्म बिछा है। उस पर भगवान शंकर पद्मासन में विराजमान हैं। मेरुदंड, ग्रीवा एवं सिर सीधे तथा तने हुए। कंधे कुछ झुके हुए। दोनों हाथ गोद में रक्खे हैं। हथेलियां ऊपर की ओर हैं। जैसे खिला हुआ कमल हो।

जटाएं साँपों से बंधी हैं, कानों में रुद्राक्ष की दोहरी मालाएँ लटक रही हैं। पीठ पर मृगचर्म है। उसके एक ओर गाँठ लगी है जो विषयुक्त कंठ की प्रतिछाया के कारण और भी अधिक काली दिखाई देती है।

दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थिर है। आँखें आधी खुली और आधी बंद हैं। पुतलियाँ स्थिर और चमकीली। जिनकी किरणें नीचे की ओर फैल रही हैं। भौंहों का हिलना और पलकों का झपकना बंद है।

कुंभक द्वारा प्राणों को रोक रक्खा है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे

बरसने से पहले बादल ! निस्तरंग प्रशांत महासागर ! अथवा वातरहित स्थान में रक्खा हुआ निष्कंप प्रदीप।

मस्तक से उठी हुई ज्योति की किरणें कपाल नेत्र द्वारा बाहर फैल रही हैं और उनके कारण ललाटस्थ बालेंदु की किरणें कमलतंतु के समान निष्प्रभ हो रही हैं।

मन को समाधि द्वारा वश में कर रक्खा है। बाहर निकलने के नवों द्वार बंद हैं। ज्ञानीजन जिस शाश्वत तत्व को जानने का प्रयत्न करते हैं। वे उसे अपने ही अन्दर देख रहे हैं।

स देव दारुद्रुमवेदिकायां
शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपात:
त्रियंबकं संयमिनं ददर्श ॥४४।
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायं
ऋज्वायतं संन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्
प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥४५॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं
कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कंठप्रभासंगविशेषनीलां
कृष्णत्वचं ग्रंथिमितीं दधानम् ॥४६॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैः
भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पंदितपक्ष्ममालै
र्लक्ष्यीकृत—घ्राणमधोमयूखैः ॥४७॥
अवृष्टिसंरंभमिवांबुवाहम् अपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अंतश्चराणां मरूतां निरोधाद् निर्वातनिस्कंपमिव प्रदीपम् ॥४८॥

कपालनेत्रांतरलब्धमार्गैः
ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्ता ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां
बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयंतमिंदोः ॥४९॥

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति—
हृदि व्यवसाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तम्
आत्मानमात्मन्यवलोकयंतम् ॥५०॥

अब हम विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिए शिव के विभिन्न ध्यानों का वर्णन करेंगे ।

## रक्तवर्ण पंचमुख

कामना पूर्ति के लिए

घंटाकपालसृणिमुंडकृपाणखेट—
खट्वांगशूलडमरूमभयं दधानम् ,
रक्ताभमिन्दुशकलाभरणं त्रिनेत्रं,
पंचाननाब्जमरुणांशुकमीशमीडे ॥

पाँच मुख हैं, ललाट पर अर्धचन्द्र तथा तीन नेत्र, हाथों में घंटा, कपाल, अंकुश, मुंड, कृपाण, खेट, मृग, खट्वांग, त्रिशूल और डमरू । एक हाथ अभयमुद्रा में है । रक्तवर्ण, रक्तवस्त्र तथा तीन नेत्र हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में रक्तवर्ण शिव का ध्यान बताया गया है इसमें रजोगुण की प्रधानता है । जो व्यक्ति कार्यक्षेत्र में उतर कर कर्मठ जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उन्हें यह ध्यान करना चाहिए । दश हाथों में क्रमशः नीचे लिखी वस्तुएं हैं—

(१) **घंटा**—यह विघ्न एवं शत्रुओं के अपसारण का प्रतीक है । प्राचीन समय में सैनिक शंख और घंटा बजाते हुए अभियान करते थे । शब्द सुनकर शत्रु भाग खड़े होते थे । यात्रियों का साथ भी वन में यात्रा

करते समय हिंसक पशुओं को भगाने के लिए घंटा बजाया करता था। इस प्रकार यह एक मंगल चिह्न बन गया जो विघ्न बाधाओं को दूर करता है।

(२) **कपाल**—इसका अर्थ है खोपड़ी। भगवान् शंकर का भिक्षापात्र नर-कपाल माना गया है। कपाल, शून्य अथवा निस्सारता का प्रतीक है। भगवान् उसी के द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं। विनाश उनकी भोजन-सामग्री का साधन है। महापुरुष अभाव को भी जीवन का उपयोगी तत्त्व बना लेते हैं। कपाल इसी का प्रतीक है।

(३) **अंकुश**—यह ज्ञानशक्ति का प्रतीक है, जिसके द्वारा योगी मानसिक वृत्तियों पर नियंत्रण करते हैं। भगवान् अंकुश के द्वारा विघ्नों पर नियंत्रण करते हैं।

(४) **मुंड**—कटा हुआ सिर। यह दैत्य-नाश अथवा भगवान् की संहारक शक्ति का प्रतीक है।

(५) **कृपाण**—यह मोह एवं मायाममता के समस्त बंधनों को काटने का प्रतीक है। भगवान् अपनी कृपाण द्वारा सांसारिक बंधनों को काट डालते हैं।

(६) **खेट-अर्थात् मृग**—यह शरण में आए हुए निर्दोष प्राणी की रक्षा का प्रतीक है। भगवान् शरणागतवत्सल हैं।

(७) **खट्वांग**—यह चारपाई के पाए के आकार का एक शस्त्र होता था, जो दुष्टों के दमन का प्रतीक है।

(८) **त्रिशूल**—यह सत्व, रजस्, और तमस् के रूप में तीन गुणों का प्रतीक है जो समस्त सृष्टि का कारण है। इसे सृष्टि, स्थिति और संहार के रूप में तीन कार्यों का संकेत भी माना जाता है। बौद्धधर्म में यह बुद्ध, धर्म और संघ के रूप में त्रिरत्न का प्रतीक है। इसे त्रिशक्ति—इच्छा, ज्ञान और क्रिया का प्रतीक भी माना जाता है।

(९) **डमरू**—यह सृजनशक्ति का प्रतीक है जो भगवान् के रजोगुण

की अभिव्यक्ति है। शैवसिद्धांत में यह माना गया है कि परावाक् शांतसमुद्र के समान है। सृष्टि के समय उसमें हलचल होती है और वह पश्यंती के रूप में परिणत हो जाती है उसी से शब्द और अर्थ की रचना होती है। डमरू इसी का प्रतीक है।

(१०) **अभयमुद्रा**—इसके द्वारा भगवान् प्राणियों को अभयप्रदान करते हैं।

## योगिराज

शिव के सिर पर गंगाजल की शीतल धारा इस बात को प्रकट करती है कि उनका मस्तिष्क कभी उत्तप्त नही होता तथा सदा निर्मल रहता है। ललाट पर चन्द्रमा का शांत तेज है, वह दूसरों को शांति प्रदान करता है। भोंहों के बीच अग्नि नेत्र है जिसने कामदेव को भस्म कर दिया। वह विकारों को जलाने वाली तप रूपी अग्नि का प्रतीक है। कंठ में विष है और वह समुद्रमंथन की घटना का स्मरण कराता है। देवों और असुरों ने मिलकर समुद्र का मंथन किया, जो रत्न निकले आपस में बांट लिये। अंत में विष निकला उसे ग्रहण करने वाला कोई न मिला। शिव ने कहा, लाओ यह मुझे देदो। विष पीकर वे महादेव बन गये। दूसरों की भलाई के लिये आत्म बलिदान का इससे ऊँचा उदाहरण मिलना कठिन है।

## श्वेत वर्ण शिव का ध्यान

ज्ञान प्राप्ति के लिए

प्रस्तुत ध्यान ज्ञानप्राप्ति एवं मानसिक शांति के लिए करना चाहिए—

**कैलाशाचलसन्निभं त्रिनयनं पंचास्यमंबायुतं,**
**नीलग्रीवमहीशभूषणधरं व्याघ्रत्वचा प्रावृतम्।**
**अक्षस्रग्वरकुंडिकाभयकरं चांद्रीं कलां बिभ्रतं,**
**गंगाम्भोविलसज्जटं दशभुजं वंदे महेशं परम्॥**

मैं दशभुजाओं वाले पंचमुख शिव को वंदन करता हूँ। जो कैलाश के

समान गोर वर्ण हैं, तीन आँखें है, वाम भाग में पार्वती है। ग्रीवा नील वर्ण है, साँपों के आभूषण तथा व्याघ्र चर्म पहन रखा है। हाथों में क्रमशः रुद्राक्ष की माला तथा कुंडिका है। एक हाथ अभयमुद्रा में है, ललाट पर अर्द्धचंद्र तथा जटाओं में गंगा।

प्रस्तुत श्लोक में शिव के शांत रूप का वर्णन किया गया है। श्वेत वर्ण सात्विक अवस्था को प्रकट करता है। पांचमुख उनके पांच कार्यों के संकेत हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह और अनुग्रह। इन्हीं पांच कार्यों के कारण उन्हें क्रमशः पांच नामों से पुकारा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश रुद्र और सदाशिव। अम्बा अर्थात् पार्वती उनकी सहचरी माया-शक्ति है। नील ग्रीवा विषपान की घटना का स्मरण दिलाती है। सांप विपत्तियों के प्रतीक है। परमात्मा ने ऊन्हें ही आभूषण बना रखा है जो महापुरुष की विशेषता है। व्याघ्र हिंसा का प्रतीक है। शरीर उसकी त्वचा, हिंसा पर विजय को प्रकट करती है जो भगवान् का आभूषण बन गई है।

एक हाथ में रुद्राक्ष की माला है, दूसरा वरद मुद्रा में है, तीसरे में कपाल है और चौथा अभय मुद्रा में है। ललाटस्थ चन्द्रमा की किरणें सभी को शीतलता प्रदान कर रही हैं। जटाओं में गङ्गा की धारा है जो निर्मलता और शीतलता का प्रतीक है।

### श्वेतवर्ण पंचमुख (द्वितीय रूप)

अभय प्राप्ति के लिए

> ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचंद्रावतंसं,
> रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
> पद्मासीनं समंतात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिवसानं,
> विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

सदा महेश अर्थात् भगवान् शंकर का ध्यान करना चाहिए जो रजतगिरि के समान शुभ्र हैं, ललाट पर चन्द्रमा का मुकुट है, रत्न के

समान उज्ज्वल अंग हैं, एक हाथ में परशु है, दूसरे में मृग, तीसरे द्वारा वर प्रदान कर रहे हैं और चौथा अभय मुद्रा में है, प्रसन्न मुद्रा में कमल पर विराज रहे हैं, चारों ओर देवता स्तुति कर रहे हैं, व्याघ्र चर्म पहन रखा है, विश्व के आदि, विश्व के बीज, समस्त भय दूर करने वाले, पंचमुख तथा जो त्रिनेत्र हैं।

(१) रजतगिरि के समान शुभ्रवर्ण सत्वगुण का प्रतीक है। साथ ही दृढ़ता भी प्रकट करता है।

(२) ललाट पर शशिलेखा शांततेज को प्रकट करती है। ऐसा तेज जो ज्योति एवं शीतलता प्रदान करता है।

(३) परशु अर्थात् कुल्हाड़ा। यह विघ्ननाश का प्रतीक है।

(४) मृग यह शरणागत निर्दोष प्राणी का प्रतीक है। भगवान उसकी रक्षा करते हैं। मृग को चंचल मन का प्रतीक भी बताया गया है। भगवान् उसे वश में कर लेते हैं।

तृतीय हाथ वरदमुद्रा में है और चौथा अभयमुद्रा में। मुख पर प्रसन्नता, संतोष को प्रकट करती है।

पद्मासन कोमलता का प्रतीक है। देवताओं द्वारा की जाने वाली स्तुति प्रसन्नता को प्रकट करती है। व्याघ्र चर्म हिंसावृत्ति पर नियंत्रण का प्रतीक है। पांचमुख पांच कार्यों के प्रतीक हैं। तीन नेत्र चंद्र, सूर्य और अग्नि के रूप में तीन महाशक्तियों के। इनका वर्णन ऊपर आ चुका है।

## शांत शिव

मानसिक शांति के लिए

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षिणाङ्के वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां डमरुकसहितं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि॥

—मैं उमापति भगवान् शंकर को नमस्कार करता हूँ जो शांत, पद्मासन पर विराजमान, चंद्रशेखर, पंचमुख तथा त्रिनेत्र हैं। दक्षिण हस्तों में त्रिशूल, खड्ग, वज्र तथा परशु ले रक्खे हैं, एक हाथ से सबको अभयदान दे रहे हैं। वाम हस्तों में नाग, पाश, घंटा, डमरू तथा अंकुश है। विविध आभूषण पहन रक्खे हैं। शरीर स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल है।

## नीलकंठ शिव

ज्ञान प्राप्ति के लिए

> बालार्कायुततेजसं धृतजटाजूटेंदुखंडोज्ज्वलम्।
> नागेन्द्रैः कृतशेखरं जपवटीं शूलं कपालं करैः।
> खट्वाङ्गं दधतं त्रिनेत्रविलसत्पंचाननं सुन्दरम्।
> व्याघ्रत्वक् परिधानमब्जनिलयं श्रीनीलकण्ठं भजे॥

भगवान् नीलकण्ठ सहस्रों सूर्यों के समान तेजस्वी हैं, शिर पर जटाजूट है, ललाट पर अर्धचंद्र और मस्तक पर साँपों का मुकुट। एक हाथ में रुद्राक्ष की माला है, दूसरे में त्रिशूल। तीसरे में कपाल और चौथे में खट्वांग। तीन नेत्र हैं और पांच मुख। शरीर पर व्याघ्रचर्म पहन रखा है तथा कमल पर विराजमान हैं।

इस ध्यान के साथ निम्नलिखित मन्त्र का जप किया जाता है।

'प्रों त्रीं ठः'

## मृत्युंजय शिव (प्रथम रूप)

> चंद्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयांतःस्थितं
> मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमाँशुप्रभम्,
> कोटीरेंदुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्ज्वलं
> कान्त्याविश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युंजयं भावयेत्॥

मन में मृत्युंजय भगवान् पशुपति का ध्यान करे। जिनके चंद्र, सूर्य, और अग्नि तीन नेत्र हैं। मुख पर स्मित है, दो कमलों के बीच विराजमान हैं। तीन हाथों में क्रमशः पाश, मृग और अक्षसूत्र है, चौथा अभय मुद्रा में है, वर्ण चंद्र के समान शुभ्र है। शरीर ललाटस्थ चंद्रमा से झरने वाले-सुधा स्रोत से आप्लावित हो रहा है। हार आदि विविध आभूषण चमक रहे हैं और अपनी कांति के द्वारा समस्त विश्व को मोहित कर रहे हैं।

## मृत्युंजय (द्वितीय रूप)

**हस्ताभ्यां कलशद्वयामृतरसैराप्लावयंतं शिरो**
**द्वाभ्यां तौ दधतं मृगाक्षवलयं द्वाभ्यां वहंतं परम्।**
**अंकन्यस्तकरद्वयामृतघटं कैलासकांतं शिवं**
**स्वच्छांभोजगतं नवेंदुमुकुटाभातं त्रिनेत्रं भजे॥**

कैलाश के समान शुभ्र, स्वच्छ कमल पर विराजमान, ललाट पर अर्ध चंद्र से युक्त मैं त्रिनेत्र शिव का ध्यान करता हूँ। दो हाथों में अमृत से भरे दो घड़े हैं जिन्हें वे अपने सिर पर उंडेल रहे हैं।

## चतुर्मुख शिव

शत्रु नाश के लिए

**मध्याह्नार्कसमप्रभं शशिधरं भीमाट्टहासोज्ज्वलं।**
**त्र्यक्षं पन्नगभूषणं शिखिशिखाश्मश्रूस्फुरन्मूर्द्धजम्।**
**हस्ताब्जैस्त्रिशिखं समुद्गरमसिं शक्तिं दधानं विभुं**
**दंष्ट्राभीमचतुर्मुखं पशुपतिं दिव्यस्वरूपं भजे॥**

मैं दिव्यस्वरूप पशुपति का ध्यान करता हूँ जो मध्याह्न सूर्य के समान तेजस्वी हैं, ललाट पर अर्ध चंद्र है, भीषण अट्टहास की किरणें फैल रही हैं। तीन नेत्र हैं, साँपों को आभूषण बना रखा है, अग्नि शिखा

के समान पिंगल वर्ण, मूछें हैं, बाल बिखरे हुए। हाथों में त्रिशूल, मुद्गर, खड्ग तथा शक्ति है। विकराल दंष्ट्राओं वाले चार मुंह हैं।

## चंडेश्वर का ध्यान

शत्रु नाश के लिए

चंडेश्वर भगवान शिव के सेवक हैं—इनका ध्यान भी शत्रु नाश के लिए किया जाता है।

**चंडेश्वरं रक्ततनुं त्रिनेत्रं रक्तांशुकाढ्यं हृदि भावयामि।**
**टंकं त्रिशूलं स्फटिकाक्षमालां कमंडलुं बिभ्रतमिंदुचूडम्॥**

मैं हृदय में चंडेश्वर का ध्यान करता हूँ जिनका शरीर रक्तवर्ण है, तीन आँखें हैं, रक्त वस्त्र पहन रक्खे हैं। हाथों में परशु (टंक) त्रिशूल, स्फटिकमाला तथा कमंडलु है, ललाट पर चंद्र है।

## हृदय में शिव का ध्यान

भगवान् शंकर का हृदय में ध्यान करने के लिए उनके अनेक रूप बताए गए है। शिव पुराण में उनका वर्णन नीचे लिखे अनुसार आया है।

**प्रथम रूपः**

**अंगुष्ठमात्रममलं दीप्यमानं समंततः।**
**शुद्धदीपशिखाकारं स्वशक्त्या पूर्णमंडितम्॥**

**अन्य रूप**

**इंदुरेखासमाकारं तारारूपमथापि वा।**
**नीवारशूकसदृशं बिससूत्राभमेव वा॥**
**कदंबगोलकाकारंतुषारकणिकोपमम्॥**

(अ० २६। १४२-४३; शिवपुराण, वायवीयसंहिता)

भगवान् दीपशिखा के समान हैं। जिनकी प्रभा चारों ओर फैल रही है। आकार अंगूठे जितना है और जो अपने आप में पूर्ण हैं।

उनके अन्य रूप—इंदुरेखा, तारा, नीवारशूक तथा कमलतंतु, कदंबगोलक तुषारकण ।

इन रूपों का ध्यान मानसिक एकाग्रता के लिए अत्यन्त जरूरी है ।

## आभ्यंतर शिवयोग

इसका अर्थ है भगवान शिव की आभ्यंतर पूजा । उनके पाँच भेद हैं—

(१) ज्ञान
(२) भक्ति
(३) ध्यान
(४) व्रत
(५) और अर्चा

ध्यान नीचे लिखे अनुसार है—

"भगवान त्रिनेत्र हैं, सत्व, रज, और तम तीन गुणों के आधार हैं । तीन मलों....का क्षय करने वाले हैं । वामांग में पार्वती है ।" इसप्रकार भगवान शंकर का ध्यान करे । उस पर मन को स्थिर करके आभ्यंतर यज्ञ करे "शम अर्थात् शांति रूपी जल से अभिषेक करे, भक्तिपूर्वक मनोभावों के वस्त्र पहनाए, सृष्टि, स्थिति और संहार रूप तीन शक्तियों और सत्व, रजस् एवं तमस् रूप तीन गुणों का यज्ञोपवीत पहनाए । आत्मज्ञान का लेप करे । अनुकंपा के अक्षत चढ़ाए । इसप्रकार भगवान् शिव को भक्तिरूपी पुष्पों का निवेदन करे । चारप्रकार के अंतःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) की धूप चढ़ाए, इंद्रिय विषयों का दीप जलाए । हृदय में सुख और दुःखों से परे जीवरूपी उपहार की कल्पना करे । सत्व, रज और तम, तीन गुणों का तांबूल और प्राणों का नमस्कार करे ।इसप्रकार आभ्यंतर पूजा के लिए समस्त द्रव्यों का संपादन करे । यम, नियम आदि गुणों के द्वारा आत्मशुद्धि करे । और पीठों के द्वारा उसे स्थिर करे । प्राणरूपी जल के द्वारा दिव्य लिंग को स्नान कराए । यह

चतुरंग बाह्यविधान है। प्रत्याहार, अर्थात् इंद्रियों को अन्य विषयों से हटाना सुगंध है। ध्यान पुष्प हैं। दृढ़ धारणा धूप है और समाधि उपहार है। ये चार आभ्यंतर पूजा के उपहार हैं। इसप्रकार अष्टांगयोग के द्वारा अंत:करणरूपी मंदिर में परम देव की पूजा करे। एकाक्षर, द्वय्क्षर, षडक्षर अथवा अष्टाक्षर मंत्र का जप करे। वे इसप्रकार हैं—

(१) **एकाक्षर** —ॐ

(२) **द्वय्क्षर**—सोऽहम् या हंसः

(३) **षडक्षर**—ॐ नमः शिवाय

(४) **अष्टाक्षर**—ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय

## लिंगपूजा

लिङ्ग और योनि विश्व की सृजन् शक्ति के प्रतीक हैं। इनकी पूजा भारत के बाहर भी प्रचलित थी। धीरे-धीरे इन अंगों को गुह्य समझा जाने लगा। उसी के साथ शिव पूजा के इस रूप को भी घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। इसका कारण केवल सांप्रदायिक विद्वेष है। हिन्दू-धर्म ने स्त्री और पुरुष के संबंध को धार्मिक रूप दिया। उसे वासना पूर्ति का साधन न मानकर समाज विकास का अंग माना। उसी के साथ इन अंगों की पवित्रता को भी स्वीकार किया। इस परंपरा की यह विशेषता रही है कि उसने जीवन के किसी तथ्य को धर्म से अलग नहीं किया। मनोरंजन पर भी धर्म की मर्यादा रखी। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि मैं धर्मविरुद्ध काम हूँ। इसीप्रकार प्रजनन के इन अंगों की पूजा भी प्रचलित रही होगी। वास्तव में यह विश्व के आदि कारणों की पूजा है। एक निमित्त कारण है और दूसरा उपादान कारण।

लिंग विविध द्रव्यों के बनाये जाते हैं—

(१) **गन्ध लिंग**—दो भाग कस्तूरी, चार भाग चन्दन और तीन भाग कुंकुम। इसकी अर्चा शिव-सायुज्यार्थ की जाती है।

(२) **पुष्प लिंग**—यह सुगंधित पुष्पों द्वारा बनाया जाता है। इसे पृथ्वी के आधिपत्य के लिए पूजते हैं।

(३) **गोशकृल्लिंग**—स्वच्छ कपिल वर्ण गोबर से बना हुआ। इसे पूजने से ऐश्वर्य मिलता है।

(४) **रजोमय लिंग**—रेत से बना हुआ। विद्या-प्राप्ति और शिव-सायुज्य के लिए।

(५) **यव गोधूम शालिज लिंग**—जौ, गेहूँ और चावल के आटे का बना हुआ। संपत्ति, पुष्टि और संतान के लिए।

(६) **सिताखण्डमय लिंग**—चीनी का बना हुआ। इससे आरोग्य लाभ होता है।

(७) **लवणज लिंग**—हरताल, त्रिकटु को लवण में मिलाकर बनता है। यह वशीकरण के लिए बनाया जाता है।

(८) **तिलपिष्टोत्थ लिंग**—तिलों की पीठी का बना हुआ। अभिलाषा सिद्ध करता है।

(९) **तुषोत्थ लिंग**—तुष का बना हुआ। इसका फल मरण है।

(१०) **भस्म लिंग**—सर्वफल प्रद।

(११) **गुड़ोत्थ लिंग**—गुड़ का बना हुआ। प्रीति बढ़ाने वाला।

(१२) **शर्करामय लिंग**—शक्कर का बना हुआ। सुखप्रद।

(१३) **वंशांकुर लिंग**—बांस की कोपलों का बंशकर है।

(१४) **द्रुमोद्भूत लिंग**—वृक्ष से उत्पन्न हुआ। दारिद्र्य हरने वाला।

(१५) **पिष्टमय लिंग**—आटे का बना हुआ। विद्या प्रद।

(१६) **दधिदुग्धोद्भव लिंग**—कीर्ति, लक्ष्मी और सुख देता है।

(१७) **धान्यज**—धान्यप्रद।

(१८) **फलोत्थ**—फलप्रद।

(१९) **धात्रीफलजात**—आंवले का बना हुआ। मुक्तिप्रद।

(२०) **नवनीतज**—मक्खन का बना हुआ। कीर्ति और सौभाग्य देता है।

(२१) दुर्वाकाण्डज—अपमृत्यु नाशक ।
(२२) कर्पूरज—मुक्तिप्रद ।
(२३) अयस्कान्तमणिज—सिद्धिप्रद ।
(२४) मौक्तिक—सौभाग्यकर ।
(२५) स्वर्निर्मित—मुक्तिप्रद ।
(२६) राजत—ऐश्वर्य वर्धक ।
(२७) पैत्तल तथा कांस्य—मुक्तिप्रद ।
(२८) त्रपुज आयस और सीसकज—शत्रुनाशक ।
(२९) अष्टधातुज—सर्वसिद्धिप्रद ।
(३०) अष्टलौहजात—कुष्ठनाशक ।
(३१) वैदूर्यज—शत्रुदर्पनाशक ।
(३२) स्फटिक लिंग—सर्वकामप्रद ।

## शिवस्तुति

वंदे देवमुमापतिं सुरगुरुं वंदे जगत्कारणम् ।
वंदे पन्नगभूषणं मृगधरं वंदे पशूनांपतिम् ॥
वंदे सूर्यशशांकवह्निनयनं वंदे मुकुंदप्रियं ।
वंदे भक्तजनाश्रयं च वरदं वंदे शिवं शंकरम् ॥

श्मशानेष्वाक्रीड़ा स्मरहरपिशाचाः सहचरा—
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलः
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मंगलमसि ॥

नमः शिवाय शांताय कारणत्रयहेतवे ।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वरः ॥
नमस्तुभ्यं विरूपाक्ष नमस्ते दिव्यचक्षुषे !
नमः पिनाकहस्ताय ब्रह्महस्ताय वै नमः ॥

नमस्त्रिशूलहस्ताय दंडपाशासिपाणये ।
नमस्त्रैलोक्यनाथाय भूतनांपतये नमः ॥
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामनां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥
तव तत्व न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर ।
यादृशस्त्वं महादेव, तादृशाय नमो नमः ॥

देवताओं के भी अर्चनीय उमापति भगवान् शंकर को नमस्कार । विश्व के कारण को नमस्कार । फणिभूषण मृगधारी को नमस्कार । समस्त प्राणियों के रक्षक को नमस्कार । सूर्य, चंद्र और अग्नि के रूप में तीन नेत्रों वाले भगवान् को नमस्कार । मुकुंद अर्थात भगवान विष्णु के प्रिय सखा को नमस्कार । भक्तजनों के आश्रय तथा वरदाता को नमस्कार । सबको शांति देने वाले भगवान् शिव को नमस्कार ।

भगवन् ! तुम श्मशान में क्रीडा करते हो, काम को भस्म कर दिया है, पिशाच तुम्हारे सहचर हैं, शरीर पर चिता की भस्म पोत रखी है, कटे हुए नर-करों की माला पहने हो, सारा व्यवहार अमंगल है फिर भी हे वरद, तुम्हारा नाम स्मरण करने वालों के लिए परम मंगल है ।

सृष्टि, स्थिति और प्रलय तीनों के कारण शांत शिव को नमस्कार है । हे परमेश्वर, तुम्हीं एकमात्र शरण हो । अपने को तुम्हारे चरणों में अर्पित करता हूँ ।

हे विरूपाक्ष, तुझे नमस्कार ! हे दिव्यलोचन, तुझे नमस्कार । हे पिनाकपाणि तुझे नमस्कार । हे वज्रधर, तुझे नमस्कार ।

एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरे में दंड, तीसरे में पाश और चौथे में खड्ग । तुम्हारे इस रूप को नमस्कार । हे त्रिलोकपति, तुम्हें नमस्कार । समस्त प्राणियों के स्वामी, तुम्हें नमस्कार ।

हे महादेव, तुम्हें नमस्कार । तुम तीनों लोकों के स्वामी तथा परमेश्वर

हो। जिन की कामनाएं पूरी होतीं, तुम्हारे शाश्वत चरण उनकी कामनाएँ पूरी करते हैं।

हे महेश्वर ! मैं नहीं जानता तुम कौन हो, तुम्हारा क्या रहस्य है। हे महादेव, तुम जो भी हो और जैसे भी हो तुम्हें नमस्कार।

**विष्णु**

शिव के समान भगवान् विष्णु का ध्यान भी अनेक रूपों में प्रचलित है। वे विश्व के रक्षक माने जाते हैं, किंतु वैष्णव परंपरा उन्हें सृष्टि, स्थिति और प्रलय तीनों का कारण मानती है। शैव परंपरा का प्रारंभ ज्ञान को लेकर हुआ और वैष्णव परंपरा का भक्ति को।

उपनिषदों में परमात्मा का वर्णन सच्चिदानन्द के रूप में किया गया है। शैवपरम्परा का विकास चित् को केंद्र में रखकर हुआ और वैष्णव परम्परा का आनन्द को। प्रथम अंश सत् अर्थात् शक्ति है। उसकी अनुभूति ही आनन्द का रूप ले लेती है।

साधना-पद्धति में विष्णु का नाम यज्ञेश्वर तथा नारायण के रूप में भी मिलता।

वैष्णव जल, स्थल तथा आकाश सर्वत्र भगवान् विष्णु का दर्शन करते हैं। सूर्य, चंद्र तथा तारों में उसकी प्रभा, पुष्पों में उसकी सुगंधि तथा इंद्रधनुष में उसके सौंदर्य को देखा है। नदियों तथा पक्षियों के कलरव में उन्हीं का संगीत सुनते हैं। प्रत्येक हृदय में उन्हीं का स्पंदन मानते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भागवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भागवत ११।२।४५)

जो व्यक्ति समस्त प्राणियों में भगवान् को तथा भगवान् में समस्त प्राणियों को देखता है, वही उत्तम भागवत है।

अवतारवाद वैष्णव परम्परा की मुख्य विशेषता है। गीता में आया है—

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥**

हे अर्जुन ! जब-जब धर्म का ह्रास होता है तो में अधर्म को दूर करने के लिए पृथ्वी पर उत्पन्न होता हूँ।

अवतारवाद दो बातों को प्रकट करता है। पहली बात यह है कि प्रत्येक गुण भगवान् का अंश है और वह मनुष्यों में अभिव्यक्त होता है। गीता में आया है—

**यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेववा।**
**तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंशसंभवम्॥**

हे अर्जुन, संसार में जो भी व्यक्ति ऐश्वर्य, संपत्ति अथवा बल सम्पन्न है उसे मेरे ही तेजोंश की देन समझो। इससे प्रकट होता है कि वैष्णव परम्परा मनुष्य के रूप में भगवान् की पूजा करती आई है। इसीलिए उसने राम, कृष्ण आदि महापुरुषों को परमात्मा का रूप दे दिया। दूसरी बात आशावाद की है। भक्त के मन में दृढ़ विश्वास रहता है कि मेरा उद्धार अवश्य होगा। यह विश्वास उसे निराशा से बचाता है। जीवन में उदासी नहीं आने देता।

भक्त कष्टों को भगवान् की क्रीड़ा मानता है। बालक का कोमल हृदय अपरिचित व्यक्ति के तनिक से प्रकोप को भी नहीं सह सकता। वही माता के ताड़न को सह लेता है। रोते हुए भी अपनी जिद नहीं छोड़ता। ताड़न में भी उसे प्रेम की अनुभूति होती है। और उसमें सुख अनुभव करता है। प्रेम जितना उत्कट होता है कष्ट उतने ही मधुर लगते हैं। भक्त उन्हें अपने प्रेमी की क्रीड़ा मानता है। फलस्वरूप ऐसी कोई बात नहीं रहती जो उसे दुखी या उद्विग्न कर सके।

वैष्णव कथाओं में भगवान् की लीलाओं का वर्णन किया जाता है। जहां वे भक्तों पर अनुग्रह और दुष्टों का निग्रह करते हैं। प्रेमियों के साथ क्रीड़ा करते हैं। माताओं के लिए पुत्र बन जाते हैं, युवतियों के लिए पति, युवकों के लिए पथप्रदर्शक मित्र, सेवकों के लिए स्वामी और बालकों के लिए पिता। उनकी अनन्त विभूतियां तथा लीलाएं भक्तों के हृदय को द्रवित कर देती हैं, उनकी आराधना अनेक रूपों में की जाती है। सहस्रभुज, अष्टभुज, चतुर्भुज, द्विभुज इत्यादि, नारायण, कृष्ण, राम आदि उन्हीं के विविध रूप है।

रामानुज शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु के उपासक थे। अन्य परम्पराएं विष्णु की उपासना द्विभुज के रूप में करती हैं।

भागवत में आया है—

**कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।**
**यज्ञैः संकीर्तनप्रायैः य जंति हि सुमेधसः॥**

अर्थात् बुद्धिमान भगवान् की कृष्ण के रूप में पूजा करते हैं। शरीर की कांति कृष्ण है, हाथों में विभिन्न अस्त्र हैं। तथा पार्षदों से घिरे हुए हैं। उनके यज्ञ में कीर्तन की प्रधानता रहती है।

वैष्णव का देह भगवान् का रथ, हृदय सिंहासन, प्रत्येक अंग मन्दिर, पदचारण परिक्रमा, वाणी नाममंत्र, दृष्टि प्रेम, व्यवहार पूजा, दर्शन तथा सेवा भगवद्-सांनिध्य है। सत्यनिष्ठा, शौर्य, निर्भीकता, दैन्य, कारुण्य आभूषण हैं।

भागवत में वैष्णव के नीचे लिखे गुण बताए हैं—

**कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।**
**सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥**
**कामैरहतधीर्दांतो मृदुः शुचिरकिंचनः।**
**अनीहो मितभुक् शांतः स्थिरोमच्छरणो मुनिः।**

**अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमांजितषड्गुणः ।**
**अमानीमानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ।।**

अर्थात्—वैष्णव क्षमाशील, हिंसारहित, सहिष्णु, सत्यप्रिय, निर्मल, समभाव, निरुपाधि, कृपालु, अक्षुब्ध, स्थिरबुद्धि, संयतेंद्रिय, कोमलस्वभाव, पवित्र, अकिंचन, कामनारहित, मिताहारी, शांत, शरणागत-वत्सल, अप्रमत्त, गंभीराशय, निरभिमान, दूसरों का सम्मान करने वाला, बंधु-भावापन्न, करुणस्वभाव तथा सत्यद्रष्टा होता है ।

## वैदिकध्यान

वेदों में आया है—

**'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः ।**
**दिवीव चक्षुराततम् ।' (ऋ॰ १ । २२ । २०)**

अर्थात्—वह विष्णु का परमधाम है । जिसका ज्ञानीजन प्रतिदिन दर्शन करते हैं । जो आकाश में व्याप्त चक्षु के समान दिखाई देता है ।

इस मंत्र में भगवान विष्णु की सूर्य के रूप में उपासना बताई गई है । समस्त विश्व को व्याप्त करने वाला देदीप्यमान प्रभामंडल उनका निवास है ।

## वैदिकस्तुति

ऋग्वेद में आया है—

**ओ३म् तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथां विद ऋतस्य,**
**गर्भं जनुषा पिपर्तन ।**
**आस्य जानंतो नाम चिद् विविक्तन,**
**महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।**
**(ऋ॰ १ । १५६ । ३)**

अर्थात—हे विष्णु ! तुम्हारी अनंत महिमा को हम कितना सा

जानते है और क्या कह सकते हैं ? तुम्हारे नाम की महिमा को जानकर नाम भजन ही हम करते हैं। इसी से हम को सुमति प्राप्त होगी।

## शेषशायीविष्णु

ऊपर बताया गया है कि भगवान विष्णु सफलता और समृद्धि के देवता हैं। प्रस्तुत ध्यान उनके इसी रूप को प्रकट करता है।

इसमें सर्व प्रथम समुद्र का ध्यान किया जाता है। जिसकी कोई सीमा नहीं है, चारों ओर पानी ही पानी है। तरंगें उठ रही हैं। मध्य में शेषनाग कुंडली मारकर बैठा हुआ है। फण उपर उठे हैं। भगवान विष्णु उसके शरीर को शय्या बनाकर सो रहे हैं। लक्ष्मी पैर दबा रही हैं। एक ओर गरूड़ पक्षी खड़ा है। भगवान के चार हाथ हैं, उनमें क्रमशः शंख, चक्र. गदा और पद्म हैं। छाती पर कौस्तुभ मणि है।

विष्णु ऐश्वर्य के देवता है। भारत में प्राचीन समय से यह मान्यता रही है कि लक्ष्मी की प्राप्ति समुद्र से होती है, उसे रत्नाकर कहा जाता है। देव और असुरों ने उसी का मंथन करके रत्न प्राप्त किये। पुराणों में समुद्र को लक्ष्मी का पिता माना जाता है। अतः संपत्ति के देवता विष्णु ने उसी को अपना निवास स्थान बनाया। समुद्र विघ्न बाधा एवं कष्टों से परिपूर्ण संसार का भी प्रतीक है, तरंगे संकटों को प्रकट करती हैं। शेषनाग विपत्तियों का प्रतीक है। जो व्यक्ति उससे घबराता है, वह संपत्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जो विपत्तियों को शय्या बनाकर सुख की नींद ले सकता है वही उन पर विजय प्राप्त करता है और सम्पत्ति का स्वामी बनता है। जो संकटों से नहीं डरता, संकट उसके मित्र बन जाते हैं। फणों की छाया इसी लक्ष्य को प्रकट करती है।

शंख विजय घोष का प्रतीक है और चक्र अधिकार का। गदा और पद्म दो विरोधी गुणों को प्रकट करते हैं। इसका अर्थ है वे कठोर हैं। और कोमल भी। महापुरुषों का हृदय वज्र से भी कठोर और पुष्प से

भी कोमल होता है। कौस्तुभ मणी हृदय की निर्मलता को प्रकट करती है।

गरुड़ पराक्रम और वेग का प्रतीक है। सफलता के लिये दोनों गुण आवश्यक हैं। जो व्यक्ति शीघ्र निश्चय पर पहुँचते हैं और उसे साहस पूर्वक कार्य रूप में परिणत कर देते है वे ही सफल होते हैं। उधेड़बुन में पड़े रहने वाले या निश्चय करके भी क्रिया में विलंब करने वाले सफलता नहीं प्राप्त करते। गरुड़ का भोजन सांप है, जो व्यक्ति पराक्रमी तथा शीघ्रगति है, वह विपत्तियो को खा जाता है। बाधाऐं विघ्न उपस्थित करने के स्थान पर वे उसे पुष्टि प्रदान करती हैं।

लक्ष्मी सफलता का प्रतीक है। यह बताने की आवश्यकता नही है कि जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण होते हैं लक्ष्मी उसके पैर दबाती है।

ध्यान में प्रत्येक अंग पर दृष्टि जमा कर रहस्य का चिंतन करना चाहिए।

## हृदय-कमल पर विष्णु का ध्यान

कन्द अर्थात् मूलाधार चक्र से एक कमल उठ रहा है। उस पर चार अंगुल चौड़ा कमल है। जिसकी आठ पंखुड़ियां हैं। मुंह ऊपर की ओर है। मध्य में पीत-कर्णिका है। जिससे पराग बिखर रहा है। उस पर भगवान विष्णु का ध्यान किया जाता है। वे पुरुषोत्तम, देवाधिदेव. अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्त्ता, समस्त विश्व को धारण करने वाले और विभु हैं। करोड़ों सूर्यो के समान तेजस्वी, हाथों में शंख, चक्र गदा और पद्म। कानों में कुंडल, भुजाओं में केयूर, वक्षस्थल पर श्रीवत्स व कौस्तुभमणी, पार्श्वों में लक्ष्मी तथा वसुमती हैं। रक्तवर्ण ओष्ठो पर मृदु मुस्कान खेल रही है। पीताम्बर पहिने है।

**उद्यत्कोटि दिवाकराभमनिशं शंखं गदां पङ्कजं,**
**चक्रं बिभ्रतमिंदिरां वसुमती-संशोभि पार्श्वद्वयम्।**

कोटीरांगदहार कुंडलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो—
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्स चिह्नं भजे।

## नारायरण

नारायण शब्द के दो अर्थ है। पहला अर्थ है—'नारा' अर्थात पानी उसका 'अयन' अर्थात समुद्र। भगवान विष्णु जल के देवता माने जाते हैं। जिनका प्रकट रूप समुद्र है। 'नार' का दूसरा अर्थ है: मनुष्यों का समूह। भगवान उसके अयन अर्थात शरणदाता हैं।

भगवान् नारायण परम सत्य हैं, त्रिगुणातीत और उनसे युक्त भी। लोकनाथ, तीनों लोकों के स्वामी कौस्तुभधारण किये हुये, नीलकमल के समान श्याम शंख, चक्र और गदा से युक्त, चतुर्भुज तथा श्रीवत्स के चिह्न वाले हैं।

ध्यायेत्सत्यं गुणातीतं गुणत्रय समन्वितम्।
लोकनाथं त्रिलोकेशं, कौस्तुभाभरणं हरिम्॥
इन्दीवर-दल-श्याम, शंख चक्र गदाधरम्।
नारायणं चतुर्बाहूं, श्रीवत्सपदभूषितम्॥

## गोपीकृष्ण

भगवान् विष्णु के उपर्युक्त तीन रूप संपत्ति तथा सफलता के लिए बताये गये हैं। अब हम उनके मधुर रूपों का वर्णन करेंगे। ये रूप जीवन में आनन्द का संचार करते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, अहकार, कठोरता आदि दुर्गुणों को दूर करके हृदय में कोमलता, सहानुभूति, प्रेम आदि सद्गुणों का संचार करते हैं। दृष्टि गुण ग्रहिणी बन जाती है और चारों ओर आत्मीयता दिखाई देने लगती है।

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभम्
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुं करे कंकणम्।
सर्वांगे हरिचंदनं सुललितं कंठे च मुक्तावली
गोपस्त्री परिवेष्टितो विजयते गोपालचूड़ामणि:॥

गोपांगनाओं द्वारा घिरे हुए गोपशिरोमणि भगवान् की जय हो। ललाट पर कस्तूरी का तिलक है, छाती पर कौस्तुभमणि, नाक में मोती, हाथों मैं बांसुरी, कलाई में कंकण, शरीर पर हरिचन्दन और कंठ में मोतियों का हार।

## पंचम रूप—मुरली मनोहर

फुल्लेंदीवरकांतिमिंदुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्सांकमुदारकौस्तुभधरं पीतांबरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंघावृतं।
गोविंदं कलवेणुवादनपरं दिव्यांगभूषं भजे ॥

मैं गौओं और ग्वालों से घिरे हुए प्रत्येक अंग में दिव्य आभूषणों से सुशोभित बंसी बजाते हुए पीताम्बर धारी सर्वाङ्ग सुन्दर भगवान् गोविन्द का ध्यान करता हूँ। कांति खिले हुए कमल के समान है, मुख चन्द्रमा के समान है, शिर पर मोर-मुकुट छाती पर श्रीवत्स तथा कौस्तुभ। गोपियां अपने नयन कमलों द्वारा पूजा कर रही है।

## षष्ठ रूप—मधुर रूप

श्री मद्भागवत में भगवान् कृष्ण का ध्यान नीचे लिखे अनुसार आया है। हृदयकमल में दीपशिखा के समान एक ज्योति प्रज्ज्वलित हो रही है। उसमें भगवान् कृष्ण के नीचे लिखे रूप की भावना करनी चाहिए—

प्रत्येक अंग अत्यन्त सुन्दर है जैसे मूर्तिमान् काम हो। लबी एवं सुडौल चारभुजाएं हैं, शंख के समान सुन्दर ग्रीवा, मनोहर ललाट। ओठों पर दिव्य मुस्कान, कानों में कुण्डल, पीताम्बर छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह, एक हाथ में शंख, दूसरे में चक्र, तीसरे में गदा और चौथे में पद्म। वैजयंती के फूलों की माला पहिने हैं, समस्त शरीर कौस्तुभ मणि की प्रभा से चमक रहा है। सिर पर मुकुट है, हाथों में कंकण, कमर में मेखला,

भुजाओं में केयूर । प्रत्येक अंग सुन्दर तथा मनोहर है, लोचन स्नेह की वृष्टि कर रहे हैं । इच्छा होती है देखते ही रहें ।

इस रूप का ध्यान करने के लिए नीचे से ऊपर तक उनके प्रत्येक अंग पर दृष्टि को केन्द्रित करना चाहिए । प्रत्येक अंग को ध्यान पूर्वक देखना चाहिए । इसके पश्चात् दृष्टि को ऊपर से नीचे की ओर ले जाना चाहिए । कुछ दिन अभ्यास करने पर आँखें बन्द करने पर भी सारा रूप ज्यों का त्यों दिखाई देने लगेगा । धीरे-धीरे ध्यान इतना स्थिर हो जायगा कि जिधर चाहें और जब चाहें, भगवान् का वह रूप दीखने लगेगा । क्रमशः यह अनुभूति होंने लगेगी कि भगवान् का तेज और बल हमारे अन्दर प्रकट हो रहा है । दुर्बलता, अज्ञान, ईर्ष्या, आदि के संस्कार मिटते जाएंगे और सौंदर्य, शक्ति तथा ज्ञान के सस्कार प्रकट होंगें । साधक अपने आपको भूल कर परमात्मा में लीन हो जायगा, इतना ही नहीं, समस्त विश्व को तद्रूप देखने लगेगा । जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में मिलकर अपनी अलग सत्ता खो देता है, बूंद समुद्र में मिल जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा में मिल जायगा ।

## युगलमूर्ति

**नवजलधरविद्युद् दीप्त वर्णौ प्रसन्नौ,**
**वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ ।**
**अलक तिलकभालौ केशवेश प्रफुल्लौ,**
**भज भज सुमनो रे ! राधिकाकृष्णचन्द्रौ ।**

हे मेरे मन ! राधा और कृष्णचन्द्र का भजन कर ! दोनों के ओठों पर मृदु मुस्कान है । कृष्ण जलधर के समान नीलवर्ण है और राधा उसमें चमकती हुई बिजली के समान भास्वर । मुख और नयन कमल के समान सुन्दर हैं । सिर पर चन्द्र के समान मुकुट हैं । ललाट पर घुंघराले बाल तथा तिलक शोभा दे रहे है । दोनों का केष-विन्यास अत्यन्त सुन्दर है ।

प्रस्तुत ध्यान में बादल और बिजली की उपमा विशेष महत्व रखती है। कृष्ण बादल के समान है और राधा बिजली के समान। दोनों एक दूसरे की शोभा बढ़ा रहे हैं।

यह ध्यान दाम्पत्य-प्रेम तथा सुख की वृद्धि करता है।

**विष्णु-स्तुति**

सशंखचक्रं सकिरीटकुंडलं
सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं
नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

परं परस्मात् प्रकृतेरनादिम्
एकं निविष्टं बहुधा गुहायाम्।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं
नमामि विष्णुं जगदेकनाथम्॥

शांताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकांतं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वंदे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमीमां प्रसुप्ताम्
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

नमोऽस्त्वनंताय सहस्रमूर्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटीयुगधारिणेनमः॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविंदाय नमो नमः ॥
मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वंदे परमानंदमाधवम् ॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयो र्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवतनूनाम् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । १० । ३८)

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविंदाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

चतुर्भुज भगवान् विष्णु को नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ। जो शंख-चक्र-मुकुट और कुंडल धारण किए हुए है। वस्त्र पीत हैं, कमल के समान विशाल लोचन हैं। छाती पर हार और कौस्तुभ शोभा दे रहे हैं। विश्व के एक मात्र स्वामी भगवान् विष्णु को नमस्कार।

जो सर्वोच्च, प्रकृति से भी परे, अनादि, एक होने पर भी अनेक, रहस्यमय, चर और अचर समश्त विश्व में व्याप्त हैं।

संसार के भय का नाश करने वाले, सब लोकों के एक मात्र स्वामी श्री विष्णु को मैं नमस्कार करता हूँ। आकार शाँत है, शेषनाग पर लेटे हैं, नाभि पर कमल है, सब देवों के स्वामी हैं। सारे विश्व के आधार है, आकाश की तरह अलिप्त और वर्ण मेघ की तरह श्याम, शुभ अंगों वाले समस्त संपत्तियों के स्वामी कमल नेत्र, योगी उनका ध्यान द्वारा दर्शन करते है।

हे सर्वशक्तिमान ! जो तू मेरे हृदय में प्रवेश करके अपने देह से मेरी सोई हुई वाणी को जगाता है; मेरे हाथ, पैर, कान, त्वचा वगैरा दूसरी इंद्रियों को और प्राणों को संजीवन करता है । ; ऐसे हे भगवान् ! तुझे नमस्कार करता हूँ ।

हे शाश्वत पुरुष तुम्हें नमस्कार है । तुम अनन्त हो, तुम्हारे हजारों रूप हैं, हजारों पैर हैं, हजारों सिर, हजारों भुजाएं, तुम्हारे हजारों नाम हैं । तुम्हीं असंख्य युगों के अधिष्ठाता हो ।

साधकों के उपास्य, गौ और ब्राह्मणों के रक्षक, विश्व के पालक, भगवान् कृष्ण, गोबिन्द को बार-बार नमस्कार है ।

जिसकी कृपा गूंगे को वाणी तथा पंगु को पर्वत लाँघने की शक्ति प्रदान करती है उस परमानन्दस्वरूप कृष्ण की वंदना ।

भगवान ! मेरी वाणी आपके गुण-कीर्तन में लगी रहे । कान आपकी कथा सुनने में संलग्न रहें । हाथ आपकी सेवा में और मन चरणों के चिंतन में । मस्तक जगत् का नमस्कार करने के लिए झुका रहे । आँखें आपके स्वरूप संतजनों के दर्शन में निरत रहें ।

जिस प्रकार बिना पंखों वाले विहग शिशु माता, क्षुधा पीड़ित बछड़े गाय के स्तन को; विरह कातर प्रिया परदेश में गए हुए प्रिय को देखती है इसी प्रकार हे कमललोचन, मेरा मन तुम्हें देखना चाहता है ।

## दुर्गा

दुर्गा अर्थात शक्ति के रूप में परमात्मा की पूजा मुख्यतया क्षत्रियों में प्रचलित है । यह बल की उपासना है ।

शक्ति-साधना में आद्या शक्ति की पूजा की जाती है । वेदान्ती उसी को ब्रह्म कहते हैं । तन्त्रो का कथन है कि उसी का साक्षात्कार हुए बिना मुक्ति या निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता—

**'शक्तिज्ञानं विना देवी निर्वाणं नैव जायते ।'**

आदि महाविद्या ही कालिका है। अन्य रूपों को ब्रह्म रूपिणीकालिका की विभिन्न मूर्तियाँ माना जाता है। दिव्य और वीरभाव में ज्ञानी साधक कालीकुल की पूजा करते हैं, और कर्मी साधक श्री कुल की।

काली-कुल में नीचे लिखी देवियाँ हैं—

काली, तारा, रक्तकाली, भुवना, मर्दिनी, त्रिपुरा, त्वरिता, प्रत्यङ्गिराविद्या तथा दुर्गा। श्रीकुल में सुन्दरी, भैरवी, बाला, बगला, कमला, धूमवती, मातङ्गी, स्वप्नवतीविद्या, और मधुमतीमहाविद्या। इन में काली आद्याशक्ति शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान, निर्विकार, निर्गुणब्रह्मस्वरूपप्रकाशिका तथा साक्षात् कैवल्यदायिनी है। तारा सत्त्वगुणात्मिका तथा तत्त्वविद्यादायिनी है। यहाँ तत्त्वज्ञान के द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है। षोडशी, भुवनेश्वरी तथा छिन्नमस्ता रजः प्रधान सत्त्वगुणात्मिका हैं। उनसे स्वर्ग या गौण मुक्ति की प्राप्ति होती है। धूमवती, कमला, बगला, मातङ्गी तमः प्रधान देवियाँ हैं, इनका मारण, मोहन आदि षट्-कर्मों में आह्वान किया जाता है।

अनेक प्रकार की विद्याओं और देवियों का प्रतिपादन करने पर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि तन्त्र-साधना अन्त में अद्वैत का ही समर्थन करती है। गन्धर्व-तन्त्र में आया है—

**गुरुन् नत्वा विधानेन सोऽहं इति पुरोधसः।**
**ऐक्यं सम्भावयेत् धीमान् जीवस्य ब्रह्मनोऽपि च॥**

अर्थात् बुद्धिमान साधक विधि पूर्वक गुरु को नमस्कार करके सोऽहम् के जप द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का ध्यान करे। काली-तन्त्र में आया है—

**एवं ध्यात्वा ततो देवीं सोऽहमात्मान मर्चयेत्**

कुब्जिका-तन्त्र का कथन है—

**तया सहितमात्मानं एकीभूतं विचिन्तयेत्।**

अन्य तन्त्रों में भी वही बात आई है। नील-तन्त्र में तारिणी के साथ तादात्म्य का प्रतिपादन है। गन्धर्व तन्त्र में त्रिपुरा के रूप में आत्मा का ध्यान करने को कहा गया है। कुलाणर्व-तन्त्र में आया है—

**देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो देवः सदाशिवः।**
**त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥**

यह शरीर मन्दिर है, जीव सदाशिव के रूप में देवता है, अज्ञान-रूपी निर्माल्य को छोड़कर सोऽहं भाव से ही पूजा करनी चाहिए।

## महाकाली

महाशक्ति के दो रूप हैं। आदिशक्ति के रूप में वह विश्व की सृष्टि करती है और काली के रूप में अपनी रचना को समेट लेती है। काली का शब्दार्थ है वह देवी,जो काल को खा जाती है, काल बाह्य जगत् की सृष्टि करता है, भला-बुरा ऊँच-नीच, शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वो का नाम ही जगत् है। काली इन सब को समाप्त कर देती है, इसीलिए उसका रंग काला है। अन्य सभी रंग अपनी विभिन्नताओं को खोकर काले रंग में समा जाते हैं। काली नीरूप तथा निराकार है।

काली की पूजा श्मशान में की जाती है जहाँ सूखी हड्डियाँ और माँस के टुकड़े बिखरे रहते हैं। गिद्ध तथा श्रृगाल आधे जले हुए शवों को नोचते रहते हैं। वीर-साधक कृष्णपक्ष की अर्धरात्रि में शव पर बैठ कर साधना प्रारम्भ करता है।

श्मशान वह स्थान है जहाँ समस्त कामनाएं समाप्त हो जाती हैं। घृणा और प्रेम, द्वेष और ममता, शत्रुता और मित्रता, पुण्य और पाप द्वन्द्वों का अन्त हो जाता है. काली उसी की देवी है। साधक अपनी समस्त भावनाओं को चिता में जला कर उसकी भस्म से, काली की पूजा करता हैं। वह सर्वथा निर्भय होता है। परिवारिक उत्तरदायित्व, सामाजिक मर्यादाएँ और राजकीय आज्ञाएँ पीछे छूट जाती हैं। निजी

अस्तित्त्व को मिटा कर वह उस विराट् की उपासना करता है जो अस्ति और नास्ति प्रिय और अप्रिय सुन्दर और असुन्दर सब से परे है।

काली प्रलयघटा के समान कृष्णवर्ण और दिगम्बर होती है। वह अन्धकार-स्वरूप है, मन और वाणी से परे हैं, जिसे दूसरे शब्दों में शून्य कहा जाता है। उसका कार्य है समस्त विश्व को अंधकार अर्थात् शून्य में विलीन करना।

दूसरे शब्दों में उसी को पूर्ण कहा जाता है, मन और वाणी वहाँ नहीं पहुँचते। वे पूर्ण सत्य को सीमा में बाँधना चाहते हैं, निराकार को साकार बनाना चाहते हैं। सत्य के साक्षात्कार के लिए उन से ऊपर उठने की आवश्यकता है, उसका दर्शन करने के लिए भावनाओं के साथ समस्त विचारों का भी दाह करना होता है। वही परमशान्ति है, वहाँ सभी इच्छाएँ और द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। वह मायातीत है।

पूजा के लिए काली की अत्यन्त भयानक मूर्ति बनाई जाती है। शिव शव के रूप में नीचे पड़े हैं और वह उद्धत होकर उन पर नृत्य कर रही है। शिव श्वेत-वर्ण हैं, जो शुद्ध चेतना का प्रतीक है। काली कृष्ण-वर्ण है जो उसके मलिन रूप को प्रकट करती है। शिव ज्ञान-शक्ति हैं और काली क्रिया-शक्ति। शिव शान्त हैं, वह परमात्मा का निष्क्रिय कूटस्थ रूप है। काली सक्रिय तथा अशान्त हैं। सिर के बाल बिखरे हुए हैं जिह्वा बाहर लटक रही है, मुख के दोनों ओर से रक्त की धारायें बह रही हैं, एक पैर उठा हुआ है, और दूसरा पृथ्वी पर। कमर में कटे हुए हाथों की माला, हाथ में त्रिशूल। सारी बातें अपने अपने रहस्य को लिए हुए हैं। यहाँ काली मृत्यु का मूर्त रूप है।

पुराणों में मुण्डमाल की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि दुर्गा या काली का मुख्य कार्य है दुष्टों का नाश करके धर्म की रक्षा करना। मुण्ड-माल उन असुरों के सिर हैं, जिन्हें मारकर उसने देवताओं का संकट दूर किया। यह बाह्य स्थूल व्याख्या है।

तन्त्र-शास्त्र में इसकी अध्यात्मिक या आभ्यन्तर व्याख्या की गई है, मुण्ड-माल वर्ण या अक्षरों की माला है, जिनकी संख्या ५० या ५१ मानी जाती है। बौद्धों के डैमेकांग (Denchog) तन्त्र में भी यही व्याख्या है, वहाँ काली के स्थान पर हेरूक नाम की देवी है मुंडमाल पासविहित अक्षर शब्द के रूप में नामरूपात्मक जगत् के प्रतीक हैं। काली वह अव्यक्त चेतना है जो समस्त जगत् को निगल जाती है। सृजन-शक्ति के रूप में वही प्रपञ्च को जन्म देती हैं, और अपनी सृष्टि को स्वयं समेट लेती है। यह बात उसी वर्णमाला के द्वारा प्रकट होती है।

## मृत्यु की उपासना

भारतीय संस्कृति में मृत्यु की उपासना प्राचीन काल से चली आयी है। कठोपनिषद में नचिकेता यमराज से अमर होने का पाठ सीखता है। महाकवि कालिदास का कथन है कि मृत्यु प्रत्येक प्राणी का स्वभाव है और जीवन विकार। सभी दर्शनों में मोक्ष के रूप में मृत्यु की उपासना की, ऐसी मृत्यु की जिसके बाद जन्म न हो, बौद्धों में इसी ने शून्य की उपासना का रूप ले लिया। काली इसी का प्रतीक है।

मध्यकाल में क्षत्रिय युद्ध-प्रयाण से पहले केसरिया कपड़े पहनते थे। जो अग्नि का रंग है। वे मोह, ममता तथा अपना सर्वस्व आग में स्वाहा करके रण क्षेत्र में उतरते थे। मुसलमानों में इसका प्रतीक कफन रहा है। इसका अर्थ है वह कपड़ा जो मुर्दे को ओढ़ाया जाता है। उसे सिर पर बाँधने का अर्थ था अपने को मरा हुआ समझना। जो वीरता का उत्कृष्ट रूप था। काली की उपासना भी इसी रूप में की जाती है। मध्यकालीन सामंत युद्ध के लिए प्रयाण करते समय जो बाजा बजाते थे उसे नगारा कहा जाता है। यह संस्कृत के "न्यक्कार' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है अपमान अथवा दूसरे को नीचा दिखाना। आने वाला इसके द्वारा अपने अहंकार की घोषणा करता था और सुनने वाले इसे अपना अपमान समझते थे।

राजस्थान में इसके स्थान में 'धोंसा' नाम का बाजा बजाया जाता था। अब भी जब नया राजा गद्दी पर बैठता है तो उसे बजाने की प्रथा है। यह 'ध्वंश' का अपभ्रंश है। राजा अपने प्रयाण के समय काली की पूजा करके इसे बजाया करता था।

काली के ध्यान का एक वर्णन शवसाधना के रूप में मिलता है। यह श्मशान में की जाती है। वीर-साधक शव को उल्टा लिटा कर उसकी पीठ पर बैठ जाता है और मन्त्र का जप एवं ध्यान करता है। सिद्ध होने पर शव अपने आप सीधा हो जाता है और साधक से वर माँगने को कहता है। इस साधना में अनेक प्रकार के भयंकर दृश्य उपस्थित होते हैं। साधक को निर्भय तथा दृढ़ रहना पड़ता है, डर जाने पर वह पागल हो जाता है, कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। इसी प्रकार खोपड़ियों, हड्डियों या चिता का आसन बनाकर भी साधना की जाती है। इन सब प्रकारों को नील साधना कहा जाता है।

## महा दुर्गा

महानिर्वाण तंत्र में दुर्गा की निम्नलिखित स्तुति है—'तुम परमात्मा की परा प्रकृति हो। हे शिवे, सारा विश्व तुम्हीं से उत्पन्न हुआ है, तुम सबकी माता हो। विश्व में सूक्ष्म तथा स्थूल; स्थावर तथा जंगम जितनी वस्तुएँ हैं, सभी तुम्हारी सृष्टि हैं। तुम्हीं सबकी नियामक हो। तुम समस्त विद्याओं और जीवों की मूल प्रकृति हो। विश्व के समस्त रहस्यों को जानती हो, किंतु तुम्हारा रहस्य कोई नहीं जानता। तुम्हीं काली हो, तुम्हीं दुर्गा, तारा, भुवनेश्वरी और धूमवती। तुम्हीं बगला भैरवी और छिन्नमस्ता। तुम्हीं अन्नपूर्णा सरस्वती। तुम पद्मासना महालक्ष्मी हो। तुम्हीं समस्त शक्तियों का केन्द्र हो। समस्त देव तुम्हारी ही महिमा हैं। तुम सूक्ष्म हो और स्थूल भी। प्रकट हो और निगूढ़ भी। निराकार हो और साकार भी। तुम्हारे रहस्य को कोई नहीं जानता। तुम भक्तों पर अनुग्रह, दानवों का निग्रह और विश्व का कल्याण करने के लिए अनेक रूप

ग्ररण करती हो। तुम कहीं चतुर्भुजा हो, कहीं द्विभुजा, कहीं षड्भुजा और कहीं अष्टभुजा। विश्व की रक्षा के लिए तुम खड्ग तथा त्रिशूल धारण किये रहती हो। मंत्र, यंत्र, तंत्र तथा साधना के अन्य प्रकार तुम्हारी ही पूजा के विविध रूप हैं। सात्विक प्रकृति वाला साधक तुम्हारी पूजा ब्रह्म भाव में करता है, राजस प्रकृति वाला साधक वीर भाव में और तामस प्रकृति वाला पशुभाव में।'

समस्त शक्तियाँ तुम्हारे ही रूप हैं। तुम्हीं आद्या शक्ति के रूप में विश्व को उत्पन्न करती हो।' कहीं किसी रूप में प्रकट होती हो और कहीं किसी रूप में। तुम्हारे अनेक वर्ण हैं और अनेक आकार। तुम्हारी पूजा के असंख्य प्रकार हैं।

## शक्ति को तीन मूर्तियाँ

### महा सरस्वती

घंटा शूलहलानि शंखमुसले चक्रं धनुः सायकं
हस्ताब्जैर्दधतीं घनांत विलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिनयना माधारभूतां महा—
पूर्वामंत्र सरस्वती मनुभजे शुंभादिदैत्यार्दिनीम् ।।

हाथों में घंटा, त्रिशूल, हल, शँख, मूसल, चक्र, धनुष और वाण है। गौरी देह से उत्पन्न, त्रिनेत्रा शरतकालीन चंद्रमा के समान प्रभावाली। संसार की आधारभूत शुंभादि दैत्यों का दलन करने वाली सरस्वती को नमस्कार है।

### महालक्ष्मी

महालक्ष्मीनमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं सुरेश्वरि।
हरिप्रिये नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं दयानिधे ।।

हे महालक्ष्मी तुम्हें नमस्कार है, हे सुरेश्वरी तुम्हें नमस्कार है, हे विष्णुपत्नी तुम्हें नमस्कार है, हे दयामयी तुझे नमस्कार है।

अक्षस्त्रक्परशू गदेषुकुलिशं पद्मं धनुः कुंडिकां
दंडं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुधाभाजनम् ।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मी सरोजस्थिताम् ।।

मैं, करकमलों में अक्षमाला, परशु, गदा, वाण, वज्र, कमल, धनुष, कुंडिका, शक्ति, खड्ग, चर्म, शंख, घन्टा, सुधापात्र, शूल, पाश और सुदर्शन-चक्र धारण करने वाली कमलासनासीन, महिषासुरमर्दिनी प्रसन्नवदना श्री महालक्ष्मी का ध्यान करता हूँ ।

खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुंडीं शिरः
शंखं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वांगभूषा वृताम् ।
नीलाश्म द्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम् ।।

मैं, खडग, चक्र, गदा, धनुष, वाण, परिघ, शूल, भुशुंडी, कपाल और शंख को धारण करनेवाली संपूर्ण आभूषणों से विभूषित, नीलमणि के समान कांतियुक्त दशमुख और दशचरण वाली महाकाली का मैं ध्यान करता हूँ ।

## रणचंडी-दुर्गा

विद्युद्दामसमप्रभां मृगपतिस्कंधस्थितां भीषणां ।
कन्याभिः करवालखेट विलसद्हस्ताभिरासेविताम् ।।
हस्तेश्चक्र गदासिखेटविशिखांश्चापं गुणं तर्जनी ।
बिभ्राणामनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे ।।

मैं, विद्युत् के समान तेजस्वी, सिंह पर सवार, भीषण आकृति वाली हाथों में कृपाण तथा ढाल ली हुई, कन्याओं द्वारा परिवेष्टित सात हाथों में चक्र, गदा, खड्ग, ढाल, बाण, धनुष तथा डोरी ले रखी हैं । आठवीं की तर्जनी उठा रखी है । ज्वालारूपिणी, चन्द्रमा के मुकुटवाली, त्रिनयन, दुर्गा का ध्यान करता हूँ ।

## स्तुतियां

सर्वमंगलमाँगल्ये शिवे सर्वार्थ साधिके ।
शरण्यैत्र्यंबकै गौरी, नारायणि नमोस्तुते ।।

हे समस्त मंगलों की अधिष्ठात्री, कल्याणरूपिणी, समस्त कामनाएं पूर्ण करने वाली, सबको शरण देने वाली, त्रिनेत्र, गौरवर्ण, हे भगवती नारायणी तुम्हें नमस्कार ।

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा,
ददासि कामान् सकलान् अभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानान् न विपन्नराणां
त्वामाश्रिताह्या श्रयतां प्रयांति ।।

संतुष्ट होने पर तुम समस्त रोगों का नाश तथा समस्त कामनाएं पूर्ण करती हो, जो तुम्हारी शरण में आ जाते हैं। उन पर कोई विपत्ति नहीं आती । तुम्हारा आश्रय लेने वाले दूसरों का आश्रय बन जाते हैं ।

दुर्गा सप्तशती में काली का निम्नलिखित वर्णन है—

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताःस्म परिपालय देवि विश्वम् ।।

जो सज्जनों के घर लक्ष्मी बनकर आती हैं और पापियों के घर में दरिद्रता बन जाती है। जो स्थिर चित्त मनस्वियों में बुद्धि बन जाती हैं । जो सज्जनों की श्रद्धा है, और कुलीनों की लज्जा है देवी तुझे नमस्कार है । हे माँ विश्व का पालन करो ।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजंतोः
स्वस्थै स्मृता मतिमतीव शुभांददासि ।
दारिद्र्य दुःख भय हारिणि कात्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता ।।

माँ कष्ट में स्मरण करने पर तुम सबका भय दूर करती हो। स्वस्थ समय में स्मरण करने पर सन्मति प्रदान करती हो। तुम्हारे अतिरिक्त कौन है जो दारिद्र्य, दुःख तथा भय दूर करे। तुम्हारा हृदय सब पर कृपा करने के लिए करुणा से भरा रहता है।

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद।
प्रसीद मातर्भुवन त्रयस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥

शरणागतों के कष्ट दूर करने वाली हे देवि, मुझ पर कृपा करो। तीनों भुवनों को उत्पन्न करने वाली विश्वजननी कृपा करो। हे विश्व अधिष्ठात्री कृपा करो। समस्त विश्व की रक्षा करो। भगवती चर और अचर समस्त जगत पर तुम्हारा शासन है।

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणात्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीज स्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमंगलमंगला॥
(ब्रह्मवै० प्रकृति० २। ६६। ७-११)

हे देवी, तुम्हीं समस्त विश्व की जननी हो। तुम्ही मूलप्रकृति। तुम्हीं समस्त विश्व पर शासन करने वाली ईश्वरीय सत्ता। तुम्हीं आद्या शक्ति, सृष्टि के लिए तुम्हीं त्रिगुणात्मिका हो जाती हो। अपने आप में निर्गुण होने पर भी तुम विश्व का संचालन करने के लिए सगुण हो जाती हो। तुम्हीं सत्य, नित्य और अनादि परब्रह्म हो। तुम परमतेजोमयी

हो। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए शरीर धारण करती हो। समस्त विश्व तुम्हारा ही रूप है, तुम सबकी अधिष्ठात्री, सबका आधार, पर से भी परे। समस्त विश्व का बीज, सबकी वंदनीय, तथा स्वतंत्र हो। सर्वज्ञ, सर्वकल्याणमयी और समस्त मंगलों का मंगल हो।

**आद्याशक्ति**

त्वं भूमिः सर्वभूतानां प्राणः प्राणवतां तथा।
धी श्री कांतिः क्षमा शांतिः श्रद्धा मेधा धृतिः स्मृतिः॥
त्वमुद्गीथेऽर्धमात्रासि गायत्री व्याकृतिस्तथा।
जया च विजया धात्री लज्जाः कीर्तिः स्पृहा दया॥
(दे० भा०) १।५।५३—५५

द्रुहिणे श्रष्टि शक्तिश्च हरौ पालन शक्तिता।
हरे संहार शक्तिश्च सूर्ये शक्तिः प्रकाशिका॥
धराधरण शक्तिश्च शेषे कूर्मे तथैव च।
दाहशक्तिस्तथावह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका।
एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते॥

तुम समस्त प्राणियों की जन्मदात्री हो। प्राणियों में प्राण हो। तुम धी, श्री, कांति, क्षमा, शांति, श्रद्धा. मेधा, धृति तथा स्मृति हो। तुम उद्गीथ अर्थात् ॐ की अर्धमात्रा हो। गायत्री की व्याह्रिति हो[1]। तुम्हीं **जया और विजया** हो, तुम्हीं धात्री अर्थात् विश्व पालिका हो, तुम्हीं लज्जा, कीर्ति, स्पृहा और दया हो।

तुम्हीं ब्रह्म की सृजन शक्ति हो, विष्णु की पालन शक्ति, और रुद्र में संहारशक्ति हो। तुम्हीं सूर्य की प्रकाश शक्ति हो, शेषनाग और कूर्म में पृथ्वी को धारण करने की शक्ति। अग्नि में दाहशक्ति, वायु में प्रेरणा-

१. गायत्री मंत्र 'तत्सवितुर्वरेण्यं' से प्रारंभ होता है उसके पहले 'ॐ भूर्भुवः स्वः' के रूप में तीन व्याह्रतियां बोली जाती है। इनका वर्णन गायत्री के ध्यान में किया जा चुका है।

शक्ति। इस प्रकार जो शक्ति सर्वत्र व्याप्त है उसी को ब्रह्म कहा जाता है।

नमो देवि महामाये विश्वोत्पत्तिकरे शिवे।
निर्गुणेसर्वभूतेशि मातः शंकरकामदे॥

भगवान् शंकर की कामनाएं पूर्ण करने वाली जननी, कल्याणमयी, निर्गुण होने पर भी समस्त प्राणियों की अधिष्ठात्री, हे महामाये, हे माता तुझे नमस्कार है।

त्वं चंद्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं,
त्वं चेतनापिपुरुषे पवने बलं त्वम्।
त्वं स्वादुवासि सलिले शिखिनि त्वमूष्मा,
निस्सारमेतदखिलं त्वदृते यदि स्यात्॥

तुम चंद्रमा की चाँदनी हो, सूर्य का तेज, पुरुष की चेतना, वायु का बल, सलिल का स्वाद और अग्नि की ऊष्णता। तुम्हारे विना समस्त जगत् निस्सार है।

## यंत्रों का ध्यान

जो शक्ति शब्दों द्वारा मंत्र में प्रकट की जाती है, वही रेखाओं द्वारा यंत्र में प्रकट की जाती है। मंत्र का ग्रहण श्रोत्र से होता है और यत्र का चक्षु से। कौलावलो तंत्र में कहा गया है कि यंत्र देवता का शरीर है—

यंत्रं मंत्रमयं प्रोक्तं मंत्रात्मा देवतैवहि।
देहात्मनोर्यथा भेदो यंत्र-देवतयोस्तथा॥

यंत्र रेखाओं के रूप में देवता का प्रतीक है और मंत्र उसका निजी रूप। इस प्रकार दोनों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

मन को एकाग्र करने के लिए यंत्र महत्वपूर्ण साधन हैं। इसमें त्रिकोण या अन्य रूपों में रेखाएँ सामने रखी जाती हैं। और उन पर देवताओं को प्रतिष्ठित करके ध्यान किया जाता है। यंत्रों की रचना

कागज, वस्त्र, भोजपत्र या धातुओं पर की जाती है। तंत्र साधना में हड्डी खोपड़ी एवं चर्म पर भी यंत्र लिखने का विधान है। यंत्र द्वारा मन को एकाग्र करने के लिए उसके रहस्य को हृदयंगम करना आवश्यक है। अब हम संक्षेप में कुछ यंत्रों का निरूपण करेंगे।

**काम कला**

यह षट्कोण यत्र है जो दो त्रिकोणों का मिलकर बनता है। प्रथम त्रिकोण नीचे चौड़ा होता है। क्रमशः संकुचित होते हुए बिंदु में पहुँच जाता है। दूसरा त्रिकोण ऊपर से चौड़ा होता है। और नीचे की ओर संकुचित होते हुए बिंदु पर पहुँच जाता है। ऊपर से चौड़ा और नीचे की ओर संकुचित होने वाला त्रिकोण ईश्वरीय शक्ति या आत्मा का द्योतक है। नीचे से चौड़ा और ऊपर की ओर संकुचित होने वाला त्रिकोण माया शक्ति का प्रतीक है। यह विश्व दोनों का सम्मिश्रण है। जब माया का विकास होता है तो ईश्वरीय गुण घटते चले जाते हैं। जब उसका संकोच होता है तो ईश्वरीय गुण विकसित होते जाते हैं। इसी तथ्य को लेकर इस यंत्र का प्रतिपादन किया गया है।

इसी का दूसरा नाम कामकला है। जिसका अर्थ है सृष्टि या आत्मविकास की प्रथम इच्छा।

तन्त्र-शास्त्र में उसकी निम्नलिखित व्याख्या आई है—पर बिंदु या ईश्वर तत्त्व तीन रूपों में विभक्त हो जाता है, विंदु, नाद और बीज। इन्हें एक त्रिकोण के रूप में प्रकट किया जाता है, उसी को कामकला कहते हैं। यहाँ काम का अर्थ स्थूल इच्छा नहीं है, इसका अर्थ है इश्वरीय इच्छा, जिसके द्वारा वह साकार जगत के रूप में अभिव्यक्त होना चाहता है। यह इच्छा सर्वप्रथम विन्दु के रूप में प्रकट होती है। अखण्ड चिच्छक्ति तत्त्वों के रूप में विभक्त होना चाहती है, इसके लिए सर्वप्रथम विन्दु का रूप लेती है। यह इच्छा भी एक प्रकार की क्रिया या हलचल है जो पुरुष को सक्रिय बना देती है। चिच्छक्ति इच्छा के द्वारा क्रिया के रूप में परि

णत होती है। पर विन्दु द्वारा बिन्दु-रूप ग्रहण करने का अर्थ है उसका क्रिया के लिए सन्नद्ध होना। त्रिकोण में विन्दु शिव है और बीज शक्ति। नाद क्षोभ्य और क्षोभक के रूप में इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है, विंदु बीज को नाद द्वारा क्षुब्ध करता है। नाद ही सृष्टि का कारण है उससे पहले विन्दु और बीज निष्क्रिय अवस्था में रहते हैं।

त्रिकोण के तीनों कोने विन्दु होते हैं। इनकी व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। पहली व्याख्या ऊपर बताई जा चुकी है। तदनुसार वे क्रमशः विन्दु बीज और नाद हैं। बिन्दु शिव अर्थात ज्ञान शक्ति है, बीज क्रिया शक्ति और नाद उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध। ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति को शुद्ध करती है। और उसी से सृष्टि प्रारंभ होती है। अतः इन बिन्दुओं को शिव, शक्ति और शिव-शक्ति (मिथुन) रूप में भी प्रकट किया जाता है। दूसरे शब्दों में इन्हें प्रकाश-शक्ति, विमर्श-शक्ति और प्रकाश विमर्श-शक्ति कहा जाता है। प्रकाश का अर्थ है ज्ञान और विमर्श का अर्थ है इच्छा। दोनों के सम्मिलित होने पर क्रिया होती है। प्रतीक के रूप में ज्ञान का रंग श्वेत है इच्छा का रक्त और क्रिया का पीत है। जहाँ दोनों का मिश्रण होता है। इस प्रकार इन्हें तीन वर्णों के रूप में भी उपस्थित किया जाता है। प्रथम विन्दु शिव शुद्ध स्वरूप है, उसे परं कहा जाता है, द्वितीय विन्दु इच्छा में वाह्य-जगत् छिपा रहता है अतः उसे सूक्ष्म कहा जाता है। वही वाह्य रूप लेकर स्थूल बन जाती है। अतः त्रिकोण को पर, सूक्ष्म और स्थूल के रूप में भी प्रकट किया जाता है। इसी त्रिकोण का प्रतिपादन तीन शक्तियों—ईच्छा, ज्ञान और क्रिया; तीन देवियाँ वामा, ज्येष्ठा और रौद्री; तथा तीन देवों—अग्नि, चन्द्र और सूर्य के रूप में किया जाता है।

यहाँ विन्दु के विस्तार को 'रँ' बीजाक्षर द्वारा प्रकट किया जाता है, यह अग्नि बीज है। 'रँ' अग्नि को प्रकट करता है, अर्धचन्द्र चन्द्रमा को ओर विन्दु सूर्य को। त्रिकोण दो प्रकार से बनाया जाता है, दो रेखाएँ

ऊपर से नीचे की ओर या तिरछी खींची जाती है जो एक तरफ से खुली और दूसरी तरफ से मिली रहती हैं। खुली तरफ सीधी रेखा खींची जाती है। उसके शिखर पर सूर्य विन्दु रहता है और दो कोणों पर क्रमशः अग्नि और चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के बीच वामा रेखा तथा ब्रह्मा हैं। अग्नि और चन्द्र के बीच ज्येष्ठा रेखा तथा विष्णु। चन्द्र और सूर्य के बीच ऋगु या रोद्री रेखा तथा रुद्र। तीनों कोणों के बीच की रेखाएँ अक्षरों द्वारा भी लगाई जाती हैं, इसे अ, क ओर घ का त्रिकोण कहा जाता है। पांदुका पञ्चक में इसका विस्तार है। तीन रेखाएँ तीन विन्दुओं से अभिभूत शक्तियों को प्रकट करती हैं; जिनके नाम हैं :— वामा, ज्येष्ठा और रौद्री। वामा रेखा की रचना सोलह स्वरों द्वारा की जाती है। क से लेकर त तक १६ अक्षरों से ज्येष्ठा की, थ से लेकर स तक १६ अक्षरों से रौद्री रेखा की। इस प्रकार तीन रेखाएँ शक्ति के तीन पीठ हैं। ह, ल, और क्ष त्रिकोण के तीनों कोनों पर है। काल्यूर्ध्वाम्नाय में आया है कि त्रिविन्दु परं तत्त्व है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों समाये हुए हैं। अ से विसर्ग तक सोलह स्वर ब्रह्मा का प्रतीक है, क से लेकर त तक सोलह व्यञ्जन विष्णु का और थ से लेकर ए तक सोलह व्यञ्जन रुद्र का। त्रिकोण द्वारा शक्ति के तीन गुण भी प्रकट किये जाते हैं। तंत्रो जीवन में आया है कि सत्व, रजस और तमस की रेखाएँ योनिमण्डल को घेरे हुये हैं। सबसे ऊपर सत्त्व की रेखा है। दक्षिण पार्श्व में तमस् की और वाम पार्श्व में रजस् की।

कामकला के इस त्रिकोण द्वारा शब्द ब्रह्म को भी प्रकट किया जाता है, उसकी तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इसी प्रकार उसके तीन रूप हैं—वर्ण, पद और वाक्य।

शक्ति तथा उसके विविधरूपों को प्रकट करने के लिए त्रिकोण उपयुक्त प्रतीक है। बाह्य-जगत् तीन गुणों या शक्तियों के मिश्रण का परि-

णाम हैं, वे परस्पर विलक्षण तथा विरोधी हैं। साथ ही एक दूसरे से मिले हुए हैं। त्रिकोण इन सभी तथ्यों को लिए हैं।

आगम कल्पद्रुम में आया है कि बिन्दु 'हम्' अर्थात शिव हैं। और विसर्ग सः अर्थात् शक्ति। त्रिपुर सिद्धान्त में कामकला की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि 'काम' कामेश्वर और कामेश्वरी है। और 'कला' उनकी सृष्टि। वही इच्छा शक्ति या त्रिपुर सुन्दरी है।

भास्कराचार्य ने अपने गुरु के एक श्लोक की व्याख्या करते हुए त्रिपुरा का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है :—

"त्रिपुरा कुल निधि है, अंग कामराज के समान है, तीन गुणों के अधिष्ठाता तीनों देवता उसकी पूजा करते हैं, वह ईश्वर की इच्छा शक्ति है, विन्दु में निवास और समस्त विश्व को उत्पन्न करती है।" विमर्श शक्ति होने के कारण उसे समवर्ण कहा गया है। उसके तीन पुर हैं, तीन विन्दु तीन रेखाएँ, त्रिकोण अक्षर समूह आदि। योनि के रूप में उसका जो त्रिकोण बनाया जाता है वह विश्व का मूल कारण है। उसमें तीन विन्दु हैं। उसके यंत्र में जो भूपुर है उसकी भी तीन रेखाएँ हैं। यहाँ योनि शब्द का अर्थ है विश्व का मूल कारण। वह वामा आदि तीन शक्तियों के द्वारा तीन देवताओं की सृष्टि करती है। वही इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसके मंत्र में तीन अक्षर हैं। पञ्चदशी का तीन रूपों में विभाजन किया जाता है—वाग्भव, कामराज और शक्ति कूट। इन्हीं को क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्ति माना गया है। 'क्लीं' काम—बीज है और क्लीं–कार शिव-काम है। यहाँ काम कला का वर्णन तुरीयावस्था में किया गया है, जो मोक्ष का कारण है। इसी लिए कहा गया है कि जो व्यक्ति क और ल के बिना बीजाक्षर का ध्यान करता है उसे शुभाशुभ कार्यों का फल प्राप्त नहीं होता अर्थात उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

भावचूड़ामणि में बताया गया है कि सर्व प्रथम मुख के रूप में विन्दु पर ध्यान करना चाहिए उसके पश्चात वक्षस्थल के रूप में अन्य दो विन्दुओं पर; उसके पश्चात अर्धहकार पर।

आनन्द लहरी में आया है कि पञ्चम हवन में साधक अपने आप से शिव स्वरूप समझे। इसी प्रकार मूलाधार से लेकर सहस्रार तक फैली हुई कुण्डलिनी के साथ तादात्म्य स्थापित करे। तीन विन्दुओं का अपने ही शरीर में ध्यान करे, जिससे इच्छा, ज्ञान और क्रिया; चन्द्र, सूर्य और अग्नि, रजस सत्त्व और तमस; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि प्रकट होते हैं उसके पश्चात अधःस्थित चित्त कला पर ध्यान करे। मुख के रूप में विन्दु, विरंची अर्थात ब्रह्मा का प्रतीक है, जहाँ रजोगुण की प्रधानता रहती है। वक्षःस्थल के दो विन्दु हरि और हर को प्रकट करते हैं, जो क्रमशः सत्त्व ओर तमोगुण के प्रतीक हैं। उनके नीचे चित्—कला तीनों गुणों और तीनों देवताओं का सम्मिलित रूप है। योगिनीतंत्र में भी इसी प्रकार की ध्यान पद्धत्ति बताई गई है। उपसंहार के रूप में बताया गया है कि साधक अपने ही शरीर को काम कला समझे।

मूलाधार में एक त्रिकोण है, उसके मध्य में क है जहां त्रिपुरा देवी का निवास है, इसी लिए त्रिकोण को त्रैपुर कहा जाता है। 'त' काम-बीज हैं और 'कं' कामिनी बीज, जो मूलाधार में स्थित त्रिपुर-सुन्दरी का रूप है। इसमें भी तीन रेखाऐं हैं। मस्तकस्थ सहस्रार कमल में जो सूक्ष्म शक्ति है, उसी को कामकला कहा जाता है। मूलाधार वाला त्रिकोण उसी का स्थूल रूप है। आभ्यंतर जप का लक्ष्य यही कामिनी है, इसी को तेजो रूप जप कहा जाता है। बाह्य जप देवता को लक्ष्य करके किया जाता है, जिससे साधक को जप का फल प्राप्त होता रहे। मनुष्य का बाह्य तथा आभ्यंतर रूप इसी त्रिविध शक्ति के संकुचित रूप हैं। जो मनुष्य में रहती है, उसी को लक्ष्य करके पूजा की जाती है, जिससे दोनों में तादात्म्य हो जाता है।

श्री तत्त्वार्णव में आया है कि जो दिव्य आत्मा सामरस्य के रूप में उसकी पूजा करते हैं वे अपार संसार सागर के दुःखों से छूट जाते हैं। सामरस्य का साधारण अर्थ स्त्री और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध से होने वाला सुख है—

**स्त्री पुं—योगात् यत्-सौख्यं तत् सामरस्यम्** किन्तु तंत्र-साधना में इसका वह अर्थ नहीं है। वह सामरस्य का स्थूल रूप है और यहाँ सूक्ष्म रूप लिया जाता है। यहाँ इसका अर्थ है जीवात्मा और परमात्मा का मिलन। इसी को प्रकट करने के लिए प्रतीक के रूप में यौन सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है। उपनिषद् तथा अन्य सभी साधनाओं में इस प्रकार के रूपक मिलते हैं। आध्यात्मिक मिलन को शारीरिक मिलन के रूप में प्रकट किया जाता है। जब परा विन्दु तीन विन्दुओं में विभक्त होने लगता है तो एक प्रकार का अव्यक्त शब्द होता है :—

**भिद्यमानात् पराद् बिन्दो रव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।**

**शारदा °I**

उसी को शब्द ब्रह्म कहा जाता है जो बाह्य शब्द तथा अर्थ एवं मंत्रों का मूल है। यह कारण शब्द अव्यक्तात्मा, अखण्ड, नाद मात्र तथा नाद विन्दुमय होता है, उसमें वर्णादि का भेद नहीं होता। वास्तव में देखा जाय तो शब्द ब्रह्म का अर्थ है अखण्डचेतना, जो सभी प्राणियों में विद्यमान है—

**चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः।**

सम्मोहन तन्त्र (CLs VIII) में आया है कि उस पक्षी का एक पंख 'हम्' है और दूसरा 'सः'। दोनों पंख टूट जाने पर तारा को कामकला कहा जाता है। वहाँ जीव को हंस बताया गया है और कहा गया है कि तारा का साधक कादि और हादि दोनों मतों का स्वामी होता है। हंस-तारामहाविद्या योग की सर्वोच्च अधिष्ठात्री मानी जाती है, कादिमत में वह काली कही जाती है, हादिमत में श्रीसुन्दरी और क-हादि मत में **हंसः**।

ज्ञानार्णव तन्त्र (XXi-22) में चित्रकुण्ड का वर्णन है। वह मूलाधर में स्थित हैं, उसमें हवन किया जाता है। इस कुण्ड की व्याख्या चार आत्माओं के रूप में की गई है—परमात्मा, अन्तरात्मा, ज्ञानात्मा और आत्मा। इनका ज्ञान होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। आत्मा का अर्थ है प्राण, जो उच्छ्वास, निःश्वास के रूप में प्रकट होता रहता है। इसी को जीव और हंस कहा जाता है। इसकी उपमा घटाकाश से दी जाती है। जब तक घड़ा है, उससे घिरे हुए आकाश का महाकाश से पृथक् व्यवहार होता है। किन्तु घड़ा फूट जाने पर पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। वैयक्तिकप्राण महाप्राण से भिन्न नहीं हैं। महाप्राण ही वैयक्तिक प्राणों को शक्ति प्रदान करता है। ज्ञानात्मा साक्षात् शक्तिरूप है।

यह सबका साक्षी है और सभी अनुभवों में एकता स्थापित करता है। ज्ञानात्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है, साथ ही अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहता है, जिस प्रकार चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी जलरूप नहीं होता, अपने स्वतंत्र रूप में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ज्ञानात्मा भी बुद्धि से स्वतंत्र है। वह बुद्धि तथा उससे होने वाली समस्त प्रतीतियों एवं अनुभूतियों का अधिष्ठान है। अन्तरात्मा का अर्थ है—रहस्य-सूक्ष्मरूपक आत्मा। यह सर्वव्यापी है। यह परमात्मा का स्फुलिंग है जो सभी शरीरों में रहता है। इस हंस को योगी ही जान सकते हैं। तारा, प्रणव या ओ३म् उसकी चोंच है। निगम और आगम उसके दो पंख है। शिव और शक्ति दो पैर हैं। तीन बिन्दु उसकी पाँखे हैं। यह पंख परमहंस अर्थात् चित्-शक्ति का उत्कृष्ट रूप है, हंस या जीवात्मा उसी की अभिव्यक्ति है। जब यह परमहंस अपनी क्रीड़ा करता है तो उससे आकाश, वायु, अग्नि आदि पाँच तत्व प्रकट होते हैं। इन सबका मूल कारण चित्त है। यह हंस अविद्यारूपी सरोवर में विश्व-कमल पर विहार करता है, किन्तु मोहपंक से लिप्त नहीं होता। जब यह हंस निष्प्रपञ्च और संहाररूपी होता है। तब आत्मा या निजी रूप का

प्रदर्शन करता है। तब पक्षीत्व या हंस भाव समाप्त हो जाता है और सोऽहम् अर्थात् आत्मभाव प्रकट हो जाता है। ज्ञानार्णव में इसी को परमात्मा कहा गया है।

पुरुष ही आत्मा है, वह माया-शक्ति तथा अन्य कञ्चुकों के कारण संकुचित हो जाता है। प्रकृति माया तथा अन्य कञ्चुकों की सामूहिक शक्ति है। यहाँ शक्ति का जड़ के रूप में सर्वानुस्यूत परिणाम है, उसी के द्वारा शक्ति के रूप में नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि करती है। चेतना ही पुरुष और प्रकृति के रूप में विभक्त हो जाती है, अर्थात् परा-बिन्दु तीन विन्दुओं का रूप ले लेती है, इसी को कामकला कहा जाता है, श्रीयन्त्र में इसे त्रिकोण द्वारा प्रकट किया जाता है, उस के शिखर पर बैन्दब चक्र और पर बिन्दु है। तीन बिन्दु क्रमशः शिव, शक्ति और उन दोनों के मिथुन को प्रकट करते हैं। इस विभाजन से अनेक प्रकार की सृष्टि होती है। मन्त्र-सृष्टि के रूप में पर-शब्द तथा बाह्य शब्द एवं अर्थ प्रकट होते हैं। तत्व-सृष्टि में बुद्धि आदि तथा तत्वेश-सृष्टि में सृष्टि आदि। सृष्टि-क्रम में सर्वप्रथम चिच्छक्ति है, जहाँ केवल 'अहम्' या मैं की अनुभूति होती है, दूसरी अवस्था पुरुष-प्रकृति की है, यहाँ अहमिदम्' की अनुभूति होती है अर्थात् चेतना अपने-आप को अहम् और इदम् दो रूपों में अनुभव करने लगती है। 'इस अवस्था में चेतना इदम् को अपने से भिन्न नहीं मानती। तीसरी अवस्था में चेतना इदम् या जड़-जगत् को अपने से भिन्न समझने लगती है। इस अवस्था मे विषय की सामान्य प्रतीति होती है। भेदक ज्ञान नहीं होता। चौथी अवस्था में भेदक ज्ञान होने लगता है, इदम् या विषय के रूप में होने वाली सामान्य प्रतीति पृथ्वी आदि विभिन्न तत्वों का आकार ले लेती है और सामान्य शब्द अक्षरों के रूप में परिणत हो जाता है। इसी से वर्ण, पद और वाक्यात्मक मन्त्रों की सृष्टि होती है। प्रकृति के कारण पुरुषों में भी भेद हो जाता है। सभी का अपना-अपना पृथक् विश्व बन जाता है।

## प्रतीकों का ध्यान

प्रतीकों की व्याख्या पहले आ चुकी है। प्रत्येक मूर्ति के साथ प्रतीक रहते हैं और उसके विभिन्न गुणों को प्रकट करते हैं। वहाँ मूर्ति के स्थान पर प्रतीक का ध्यान किया जाता है। कुछ प्रतीक ऐसे भी हैं जिनका ध्यान स्वतंत्र रूप से किया जाता है। यहाँ उनका निरूपण किया जायगा।

### हंस

विश्व के मूल तत्त्व का ध्यान हंस के रूप में भी किया जाता है। 'हम्' शिव है और 'स' शक्ति। हंस को दोनों का प्रतीक माना जाता है। उन्हीं का बाह्य रूप समस्त जगत् है—

**पुम्प्रकृत्यात्मको हसः तदात्मकमिदं जगत्।**

अर्थात् हंस पुरुष और प्रकृति रूप है और उसीका विस्तार जगत् है।

आनन्दलहरी (३१) में आया है—

"तुम्हारे अनाहतपद्म में मैं 'हम्' और 'सः' के रूप दिव्य युगल का ध्यान करता हूँ, जो विराट् के मान-सरोवर में तैर रहा है, और ज्ञान, पद्म की मकरद का रसास्वाद ले रहा है।" वेदांत में 'हंस' का ही उल्टा 'सोऽहम्' हो गया है।

### ध्यान की प्रक्रिया

सर्वप्रथम एक विशाल सरोवर का ध्यान कीजिए, जिसमें निर्मल जल भरा है। पानी में कोई हलचल नहीं है। न कोई तरंग उठ रही है। उसमें एक हंस तैर रहा है। जिसके पंख श्वेत हैं और चोंच लाल। जब सरोवर तथा हंस का मानचित्र स्पष्ट प्रतीत होने लगे तो यह ध्यान करना चाहिए कि हमारा हृदय वह सरोवर है और उसमें आत्मा रूपी हंस तैर रहा है। उसके दो पंख हैं। एक शिव अर्थात् ज्ञान है और दूसरा शक्ति अर्थात् क्रिया। इन्हीं दो पंखों के द्वारा वह विश्व की समस्त क्रियाएँ करता है। शिव अर्थात् ज्ञानरूपी पंख को 'हम्' कहा जाता है और शक्ति अर्थात्

क्रिया रूपी पंख को 'सः'। दोनों के मिलने पर "हंस" हो जाता है, जिसका अर्थ है—पूर्णब्रह्म।

साधक इसकी उपासना विविध प्रकार से करते हैं। अद्वैत वेदान्त ज्ञान को महत्व देता है और यह बताता है कि क्रिया शक्ति का ज्ञान में विलय कर देना चाहिए। अतः "हंसः" का उल्टा "सोऽहम्" हो जाता है।

शक्ति उपासना करने वाले क्रिया को महत्त्व देते हैं, वहाँ 'हम्' अर्थात् ज्ञान का 'सः' अर्थात् क्रिया में विलय हो जाता है।

ज्ञानयोगी 'सोऽहम्' की उपासना करते हैं और कर्मयोगी 'हंसः' की। परमतत्व में पहुँचने पर दोनों एक हो जाते हैं। ज्ञान और क्रिया में भेद नहीं रहता। वही परमात्मा का सच्चा रूप है। उसी का प्रतीक हंस है। जो हृदयरूपी सरोवर में तैर रहा है।

## दीपशिखा में दर्पण का ध्यान

मन को एकाग्र करने के लिए यह ध्यान बहुत उपयोगी है। विधि नीचे लिखे अनुसार है:—

अपने सामने एक दर्पण रख लीजिए। दूसरी ओर एक दीपक जला कर ऐसे स्थान पर रख दीजिए जिससे प्रतिबिंब दर्पण के मध्य भाग में पड़ता रहे। इसी प्रतिबिंब पर दृष्टि को स्थिर करके बैठ जाइये। मन में केवल ज्योति का चिंतन करना चाहिए। अन्य संकल्प विकल्पों को यथा संभव नही उठने देना चाहिए।

इसके लिए यह भी आवश्यक है बाहर का शब्द न सुनाई पड़े। यथासंभव ऐसे स्थान पर बैठना चाहिए, जहाँ कोलाहल न हो। शब्दों को रोकने के लिए कर्ण मुद्रा का प्रयोग भी किया जाता है, इसके लिए नीचे लिखे अनुसार बत्ती बनाकर कान में रख ली जाती है।

केसर, इलायची और जायफल समभाग लेकर चूर्ण करके उसे वस्त्र से छानकर रेशमी कपड़े के टुकड़े में रखकर पोटली बना ले, उसे इस

तरह सीए कि कान में लगाया जा सके । डाट पर मोम लगा दे । यह कर्ण मुद्रा कान में लगाकर तब दर्पण में ज्योति के प्रतिबिंब की शंखाकृति पर दृष्टि स्थिर करे । शुरू में उष्णता के कारण आँखों से गरम पानी आयगा, उसे आने दें, बन्द न करें । लगभग एक सप्ताह के अन्दर ही पानी का आना बन्द हो जायगा । पानी से यदि दृष्टि बंद हो जाय तो आखें पोंछ कर फिर से अभ्यास आरम्भ करें । चित्तवृत्ति को स्थिर करके, बिना पलक गिराए जितनी देर तक अभ्यास किया जा सके उतना ही अधिक लाभ है ।

षष्ठ अध्याय

# भावना

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य
न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिः
अशांतस्य कुतः सुखम् ।।

जिस व्यक्ति का मन एकाग्र नहीं होता उसे बुद्धि प्राप्त नहीं होती । मानसिक एकाग्रता के बिना भावना का विकास नहीं होता । भावना के बिना शांति प्राप्त नहीं होती और बिना शांति के सुख कहाँ ?

—●—

## भावना-योग

भारतीय साधना में मानसिक वृत्तियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । उपनिषदों में आया है कि विश्व परमात्मा की मानसिक सृष्टि है । इसी प्रकार साधारण मनुष्य भी जैसे विचार तथा विश्वास रखता है, वैसा ही हो जाता है । अपने को दुर्बल समझने वाला दुर्बल हो जाता है और शक्ति की अनुभूति करने वाला शक्तिशाली । यदि वह बाह्य भोगों का चिंतन करता है तो उनके प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है । फलस्वरूप आध्यात्मिक रूप को भूलकर भौतिक बन जाता है । इसके विपरीत यदि वह परमात्मा का चिंतन करता है, अपने प्रत्येक व्यवहार तथा वस्तु को उसके चरणों में अर्पित करके सभी को उसके साथ जोड़ देता है तो प्रत्येक वस्तु में दैवी अनुभूति होने लगती है । शक्ति, ज्ञान, और सात्विक

आनन्द की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। गीता में आया है—**यो यच्छ्रद्धः स एव सः** अर्थात् व्यक्ति का जैसा विश्वास होता है, वह वैसा ही बन जाता है। भावना बहुत बड़ी शक्ति है, उसके द्वारा हम अपने शरीर को स्वस्थ एवं बलवान बना सकते हैं। प्रत्येक रोग को दूर कर सकते हैं। भले-बुरे संस्कारों का निर्माण कर सकते हैं।

भावना ही प्रतिभा को विकसित करती है। जब किसी कार्य को केवल बुद्धि द्वारा किया जाता है और मन साथ नहीं देता तो उसमें आनन्द नहीं आता। फलस्वरूप बुद्धि को शक्ति प्राप्त नहीं होती और छोटी सी समस्या भी भयंकर जान पड़ती है। इसके विपरीत जब मन बुद्धि का साथ देता है तो वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म और शक्तिशाली बनती चली जाती है। बड़ी-बड़ी समस्याओं को अनायास ही सुलभा देती है। वही वैज्ञानिक में सूक्ष्म निरीक्षण का रूप ले लेती है, दार्शनिक में अन्तर्दृष्टि का और कलाकार में प्रतिभा बन जाती है। अन्त में वही क्रिया-योग बन कर प्रत्येक कार्य में सफलता प्रदान करती है।

भावना का अर्थ है वस्तु में विशेष प्रकार के गुण या संस्कार उत्पन्न करना। यह शब्द संस्कृति की 'भू' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'होना'। 'भवति' का अथ है 'होता है'। उसमें प्रेरणार्थक प्रत्यय लगाने पर 'भावयति' हो जाता है, जिसका अर्थ है 'बनाना' या 'ढालना'। 'भावना' शब्द इसी से बना है। आयुर्वेद में जड़ीबूटी की भावना दी जाती है। इसके लिए उसे त्रिफला आदि विशेष द्रव्यों में बारबार पकाया जाता है फलस्वरूप उनके गुण औषधि में आ जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति अपने मन को जिन विचारों के द्वारा भावित करता है अर्थात् उनका बार-बार चिंतन करता है वे उसमें आ जाते हैं।

जब मन और बुद्धि परस्पर संघर्ष छोड़ कर एक ही दिशा की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं, भगवद्गीता में इसी को भावना कहा गया है। वहां जो हितकारी है उसी में सुख की अनुभूति होने लगती है। इसी को शक्तिशाली व्यक्तित्व कहा जाता है।

हम जिस कार्य को बुरा समझते हैं फिर भी यदि मन उस ओर जा रहा है तो उसमें बुराई का बारबार चिंतन करना चाहिए। कुछ देर तक संघर्ष चलेगा। धीरे-धीरे मन का प्रतिरोध घटता जायेगा और वह बुद्धि की बात मानने लगेगा। अभ्यास बढ़ जाने पर ऐसी स्थिति आ जायगी कि मन बुद्धि का अपने आप साथ देने लगे। बुद्धि जिस बात को अच्छा कहे, मन उसी में सुख का अनुभव करने लगे।

साधारण व्यक्ति में ज्ञान और सुख में विरोध रहता है। प्रायः हम जिन बातों को जीवन विकास के लिए उपयोगी मानते हैं, उनसे मनोरंजन नहीं होता। उसके लिए अन्य साधनों को अपनाते हैं। किंतु जब उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं तो विकास के साधन ही मनोरजन के साधन बन जाते हैं। दोनों में एकसूत्रता आ जाती है। सुख और विकास दोनों का एक ही लक्ष्य हो जाता है। इन दोनों में जितना संघर्ष है, दोनों की दिशाएँ जितनी भिन्न हैं व्यक्ति को उतना ही दुर्बल कहा जाएगा। ध्यान द्वारा हम इनको एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का अभ्यास करते हैं। इनमें ज्यों-ज्यों एकसूत्रता आती है, व्यक्तित्व शक्तिशाली बनता जाता है।

प्रस्तुत अध्याय में कुछ ऐसी भावनाए की जायेंगी जिनका पाठ एवं चिंतन करने से मानसिक शक्ति एव स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

## ब्रह्म-विहार

चित्त को निर्मल बनाने के लिए नीचे लिखा ध्यान कीजिए—

**' सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्**
**विलष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।**
**माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ**
**सदाममात्मा विदधातु देव।।''**

भगवन्!
संसार में जितने प्राणी हैं

सब मेरे मित्र है
चाहता हूँ
सब सुखी रहें
सबकी उत्तरोत्तर उन्नति हो
और सबकी आशाएँ पूरी हों
जो दु:खी हैं
उन्हें देखकर मेरा हृदय
करुणा से भर जाय
जहाँ तक बन सके
उनकी सेवा करूँ
उनकी पीड़ा को
अपनी पीड़ा समझूँ
उसे दूर करके
मन ही मन
आनन्द का अनुभव करूँ ।

\+ +

जो
गुणी हैं
विद्या, चरित्र, त्याग आदि में बढ़े हुये हैं
अथवा
धन-सम्पत्ति, पद, अधिकार
या प्रतिष्ठा की दृष्टि से
ऊँचे हैं
अथवा
मुझसे अधिक सुखी हैं
उन्हें देखकर

मन में प्रसन्नता हो
ईर्ष्या न हो ।
जो
मुझसे द्वेष करते हैं
मुझे हानि पहुँचाना चाहते है
उनके प्रति भी
किसी प्रकार की दुर्भावना
उत्पन्न न हो
परमात्मा से
यही प्रार्थना करूँ कि
उनका कल्याण हो
उन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो ।

## निजी व्यक्तित्व में परमात्मा की अनुभूति

हे परमेश्वर,
हे प्राणों के प्राण.
मैं अपने शरीर को सदा पवित्र रखूँगा
क्यों कि
यह अनुभव कर रहा हूँ कि
मेरा प्रत्येक अंग तुम्हारे
पावन स्पर्श से अनुप्राणित हो रहा है ।
मैं असत्य विचारों को
अपने मन से दूर रखूँगा
क्योंकि यह अनुभव कर रहा हूँ
कि तुम ही वह सत्य हो
जिसने मेरी बुद्धि में विवेक का प्रदीप
प्रज्वलित किया

में घृणा और द्वेष को हृदय से दूर रखूँगा
और उसमें प्रेम की सुगन्ध भरता रहूँगा
क्योंकि यह अनुभव कर रहा हूँ
कि मेरा अंतस्तल तुम्हारा
पवित्र मंदिर हैं
सदा इस बात के लिये प्रयत्नशील रहूँगा कि
अपने प्रत्येक कार्य में
तुम्हें प्रकट कर सकूँ ।
क्योंकि यह अनुभव कर रहा हूँ कि
यह सारी शक्ति तुम्हारी ही दी हुई है ।

## मुस्कान

प्रभो !
जब
जीवन की हरियाली सूख जाय,
पक्षियों का कलरव बंद हो जाय,
सूर्य मंडल पर
ग्रहण की काली छाया घनीभूत हो जाय,
परखे हुए मित्र तथा आत्मीय मुझे कंटकाकीर्ण मार्ग पर
अकेला छोड़कर चले जाँय,
ब्रह्माण्ड की सारी विपत्तियाँ बरसने वाली हों,
उस समय
हे मेरे प्रभो !
इतनी कृपा करना
कि,
मेरे अधरों पर
मुस्कान की

क्षीण रेखा दौड़ने लगे ।

## इतनी ही प्रार्थना है

प्रभो !
यह प्रार्थना नहीं है
कि मुझे
संकटों से बचाते रहो ।
मैं तो इतना ही चाहता हूँ
कि
संकट देखकर मेरे मन में घबराहट न हो ।
यह भी नहीं चाहता
कि
मेरा मन जब दुःखों से पीड़ित हो
तो
तुम आकर सांत्वना दो ।
मैं तो
वह शक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ
जिससे
दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकूँ ।
मैं
इतना ही मंगाता हूँ
कि
समय पर सहायता न मिले
तो भी
हिम्मत न छोड़ूँ
मेरी शक्ति क्षीण न हो ।

परस्पर व्यवहार में नुकसान उठाना पड़े
लोग मुझे लूट ले जाँय
तो भी
हिम्मत न छोड़ूँ
मेरी शक्ति क्षीण न हो
मैं तो
इतना ही चाहता हूँ
उस समय
"अब क्या करूँ, तबाह होगया"
इस प्रकार
हिम्मत हारकर रोने न लगूँ ।

× ×

विनाश के प्रवाह में फंस जाऊं
तो
हे प्रभो !
दीन होकर
यह न पुकारूँगा
मुझे बचालो,
मेरी रक्षा करो ।
उस समय के लिये इतना ही माँगता हूँ
कि
प्रवाह को तैरकर पार करने का बाहुबल बना रहे ।
मुझ पर जो बोझ है ।
उसे
हल्का करने की प्रार्थना नहीं करूँगा ।
मैं तो

यही
माँगता हूँ
जितना बोझ आये
उसे उठाने की
मुझ में क्षमता हो ।
चाहता हूँ
सुख के समय
गर्वोन्मत्त न होकर
नम्रता पूर्वक
तुम्हें पहचान सकूं ।
और जब
दुःख की रात आए,
चारों ओर अंधेरा छा जाए,
पैरों के नीचे से
धरती खिसक ने लगे ।
उस समय भी
तुम्हारे विषय में,
तुम्हारी शक्ति के विषय में,
तथा
तुम्हारी अपार कृपा के विषय में,
मन में
संदेह न हो ।
प्रभो !
मैं इतना ही माँगता हूँ ।
मेरी इतनी ही प्रार्थना है ।

—रवीन्द्र

## तेरी याद

माँ,
मैं तेरा बालक हूँ ।
तेरी गोद में पला हुआ छोटा सा शिशु ।
मेरे शरीर पर जो धूल पड़ी है ।
उसे बुहार दे और अपनी छाती से चिपका लें ।
में गन्दा हूँ
मिट्टी में सना हूँ
फिर भी तेरा हूँ, दूर मत हटा !
सारा दिन खेलता रहा
रात पड़ने पर घर लौटा हूँ
साथी
अकेला छोड़कर चले गए ।
पैरों में कितने कांटे चुभे,
इस दुर्बल शरीर पर
कितने कठोर प्रहार हुए,
कितनी बार
जमीन पर गिरा
दुनियाँ,
कुचलती हुई चली गई ।
माँ,
मेरी ओर
उसने मुड़कर भी नहीं देखा—
किसी ने भी नहीं ।
मैं अकेला पड़ा रहा,
रात का अंधेरा बढ़ता चला गया ।

उस समय तेरी याद आई,
और आँखों में आँसू भरकर
तुझे पुकारा

**माँ की गोद**

माँ,
करुणामयी माँ !
द्वार खोलो
मैं अंधेरे में भटक रहा हूँ
भय से छाती कांप रही है
मैंने कितनी बार
तुझे जोर से पुकारा
फिर भी
हे दयामयी माँ
तुमने द्वार न खोले।
मेरे साथ कैसा
व्यवहार कर रही हो !
मुझे बाहर छोड़कर
तुम कमरे में सो रही हो।
चिल्लाते चिल्लाते
गला सूख गया
माँ, ओ माँ !
मैं खेल में पागल हो गया था।
क्या इसीलिए तुम नाराज़ हो !
प्यारी माँ,
मेरी ओर
एक बार देख तो सही

अब कभी खेलने नहीं जाऊँगा ।
माँ को छोड़कर कौन है
जो बालक की सुध ले ?

## मानवता

जिसदिन
सौंदर्य की रेखा देखकर,
वह
कितनी ही क्षीण क्यों न हो,
तुम्हारा हृदय झंकृत नहीं हो उठता,
उस दिन
समझ लो
तुम्हारे जीवन की कला
समाप्त हो गई ।
जिस दिन
बड़े से बड़ा घाव होने पर भी
तुम
दिल खोलकर
हँस नहीं सकते
उस दिन
समझ लो
तुम्हारी जवानी
समाप्त हो गई ।
जिस दिन
छोटे से छोटे अन्याय पर भी
तुम्हारी आत्मा

फुंफकार नहीं उठती
उस दिन
समझ लो
तुम्हारी मानवता
मर गयी है।
कवि, विद्वान और कलाकार होना
बड़ी बात नहीं है
किंतु
मानवता बड़ी बात है।

—जलकमल

## मृत्यु और अमरता

मृत्यु का स्थान दो अक्षर हैं। और अमरता का तीन अक्षर। 'मम' (मेरा) मृत्यु का पद है और 'नमम' (मेरा नहीं) अमरता का पद है। जो व्यक्ति बाह्य वस्तुओं को अपनी मानता है, उनके प्रति आसक्ति रखता है वह प्रति क्षण मरता रहता है। तुच्छ वस्तु के नष्ट होने पर भी उसे दुःख होता है। इसी का नाम मृत्यु है। दूसरी ओर जिस व्यक्ति का ममत्व समाप्त हो गया है वह बड़ी से बड़ी हानि होने पर भी दुःखी नहीं होता कोई कष्ट उसे विचलित नहीं कर सकता। वह सदा अमर है।

सत्य की परिभाषा का अर्थ है उसे मार डालना। यदि हवा की परिभाषा करने के लिए उसे पकड़लें और उसकी गति को रोक दें, तो वह हवा न रहेगी।

## जीवन का रस

यदि,
तुम में नव जीवन उछल रहा है
नवयौवन हिलोरें ले रहा है,

यदि तुम
जीना चाहते हो,
परिपूर्ण एवं परिपक्व जीवन का
रसास्वाद लेना चाहते हो
उस परम आनंद को प्राप्त करना चाहते हो
जिसके लिए,
राजा और रंक,
योगी और भोगी,
सभी तरसते हैं,
तो,
शक्तिशाली बनो ?
अपने प्रत्येक कार्य को
दृढ़ता के साथ करो ?
चारों ओर जीवन का प्रसार करो ।
याद रखो,
यदि तुम
विश्वासघात, मिथ्याभाषण, छलप्रपंच
या कपट करते हो,
तो
अपने आप को
हीन बनाते हो
दुर्बल बनाते हो,
दूसरों के सामने,
अपने को
तुच्छ बनाते हो ।

× × ×

भाई ?

इच्छा हो, तो उस पथ पर चलो
किंतु
मानवता तुम्हें
तुच्छ, घृणास्पद और दरिद्र मानेगी
और,
यह समझेगी
कि
तुम्हारे पास बल नहीं है।
वह तुम्हें
दया का पात्र
समझेगी
दयनीय के समान वर्ताव करेगी।
तुम
अपनी शक्तियों को
स्वयं कुंठित करते हो
समाज को दोष मत दो।

× × ×

शक्ति का संचय करो ?
यदि
तुम
जानते हो
कि
दुनिया में
विषमता फैली हुई हैं
यदि
अनुभव करते हो

कि
विज्ञान में असत्य का सम्मिश्रण हो रहा हैं।
एक वर्ग दूसरे वर्ग पर
अत्याचार कर रहा है
तो
क्रांति करो,
अन्याय, विषमता, असत्य और उत्पीड़न का
अन्त कर दो ।

× × ×

संघर्ष करो ।
संघर्ष ही जीवन है,
वह जितना कठोर होगा,
जीवन में
उतना ही रस मिलेगा ।
इसका अर्थ होगा, तुम जिए हो ।
इस प्रकार के जीवन की
कुछ घड़ियाँ
लंबे-लंबे निठल्ले वर्षो से
कहीं श्रेष्ठ हैं ।

## व्यामोह

प्रदीप क्यों बुझ गया ?
मैंने हवा से बचाने के लिए
उसे अपनी चद्दर से ढ़क लिया
इसीलिए वह बुझ गाय ?

फूल क्यों मुरझा गया ?
मोह के वशीभूत हो मैंने उसे तोड़ लिया
और अपनी छाती से चिपका लिया
इसी कारण फूल मुरझा गया ?

महाकवि रवीन्द्र कृत

# गीताञ्जली

का

हिन्दी अनुवाद

## गीताञ्जली

महाकवि रवीन्द्र ने अपनी गीताञ्जली में जो भाव चित्रित किये हैं वे अत्यन्त धार्मिक तथा हृदय-स्पर्शी हैं। उनसे परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा मिलती है। अगले पृष्ठों में उनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जायेगा।

## प्रार्थना

भगवन् !
एक क्षण
मुझे अपने पास बैठने दो ।
धृष्टता क्षमा करो
अन्य सभी कार्य
उसके पश्चात्
कर लूंगा

तुमसे
दूर होते ही
हृदय
अशांत हो जाता है
उत्तरदायित्व
भार बन जाता है
प्रत्येक कार्य में
थकावट आने लगती है

आज
मेरे आंगन में
बसंत आया है
नूतन उच्छ्वास
और
प्रेरणा लेकर
फूल मुस्करा कर

मीठी सुगंध
बिखेर रहे हैं
भ्रमर गुंजन कर रहे हैं
चाहता हूँ
मौन होकर
तुम्हारे सम्मुख बैठ जाऊँ
और
इन नीरव घड़ियों में
तुम्हारा गीत गाऊँ

## अहंकार

जो बालक
रेशमी वस्त्र
बहुमूल्य आभूषण
तथा
मोतियों की माला पहनता है
अपने राजकुमार होने का
अभिमान करता है
वह खेल का
आनंद नहीं ले सकता
प्रत्येक हलचल में
उसे
वेशभूषा का ध्यान
रहता है
भय होता है
कहीं
मिट्टी न लगजाय

यही भय
उसे क्रीड़ा का आनंद
नहीं लेने देता
वह अपने को
दुनिया से अलग रखता है
धरती पर पैर रखने में, संकोच करता है
यदि हम
स्वास्थ्यप्रद क्रीड़ा से
अलग रहते हैं
विश्व के इस मेले का
आनंद नहीं ले पाते
तो
शोभा का यह बंधन
वरदान नहीं
अभिशाप है।

## अज्ञानता

मूर्ख !
तू
अपने ही कंधों पर
चढ़ने का प्रयत्न कर रहा है ?
भिखमंगे
अपने ही द्वार पर
भीख माँग रहा है
यह तेरा पागलपन है
समस्त उत्तरदायित्व
उन हाथों में

सौंपदे
जो सबका बोझ
उठा रहे हैं
और
निश्चित हो जा
पीछे मुड़कर क्या देखता है ?
पश्चात्ताप क्यों कर रहा है ?
वह अपने आलोक
द्वारा
प्रदीप
प्रज्वलित करता है,
किंतु
तेरी इच्छाएं
उसे बुझा देती हैं
यह ठीक नहीं है
उसके
पवित्र उपहार को
अपवित्र हाथों से
ग्रहण मत कर
पुनीत प्रेम
जो दे
उसे स्वीकार कर ले

## पुकार

भगवन्
यात्रा बहुत लम्बी है

अनादि काल से चल रहा हूँ
किन्तु कहीं अन्त ही नहीं,
प्रथम किरण के रथ पर बैठकर
यात्रा प्रारम्भ की
टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर घूमता रहा
ग्रहों तथा नक्षत्रों पर
पदचिन्ह बनाए
किन्तु तुम्हारे पथ से
दूर ही रहा
तुम्हारे सीधे-सादे स्वर में
स्वर न मिला सका
यह पाठ अभी तक नहीं सीख पाया ।
पथ-भ्रष्ट मुसाफिर असंख्य द्वारों पर
भटके बिना
अपने द्वार पर नहीं पहुँचता
वेदी की परिक्रमाएँ किए बिना
भगवान् के दर्शन नहीं होते
आँखें जब तक इधर-उधर भटक कर
थक नहीं जाती
तुम नहीं दिखाई देते
अन्त में जब
'तुम कहाँ हो' यही प्रश्न क्रंदन बन जाता है
आंसू फूटकर
असंख्य स्रोतों में बहने लगते हैं
तो
उस समय वे ही उत्तर बन जाते हैं

चारों ओर से, सुनाई पड़ता है
'मैं यहाँ हूँ, 'मैं यहाँ हूँ।

## तुम्हारा इन्कार

प्रभो !
मेरी इच्छाओं का
कहीं अन्त नहीं
किन्तु
तुम्हारा इन्कार
मुझे पतन से
बचा रहा है

तुम्हारी करुणा
मेरे
कण-कण पर अंकित है
धीरे-धीरे
मैं
उन बहुमूल्य उपहारों के
योग्य बन रहा हूँ
जिन्हें तुम बिना माँगे ही
दे रहे हो
यह आकाश और प्रकाश
शरीर, प्राण और बुद्धि
तुम्हारे ही वरदान हैं
तुम मुझे अमर्यादित अभिलाषाओं के
भय से
बचा रहे हो

जब कामनाएँ घेर लेती हैं
चिंता में डूब जाता हूँ
कभी खड़ा होकर दौड़ने लगता हूँ
उस समय तुम
कठोर होकर छिप जाते हो
तुम
इन इन्कारों के द्वारा मुझे
दुर्बल तथा अस्पष्ट इच्छाओं के
व्यामोह से बचाकर
अपने ग्रहण करने योग्य बना रहे हो

## विश्राम

प्रभो !
तुमने अपने
इस मेले में
सम्मिलित होने के लिए
निमंत्रण दिया
आँखे देखने लगीं
और
कान सुनने लगे
इस उपकार के लिये कृतज्ञ हूँ
तुम्हरा धन्यवाद करता हूँ
इस समारोह में
वीणा बजाना
मेरा कर्तव्य था
और मैंने

उसे
अपनी योग्यतानुसार बजाया
अब पूछता हूँ
क्या में अन्दर आजाऊँ ?
और
मौन हो कर तुम्हें प्रणाम करु ँ !

## अवसर की प्रतीक्षा

भगवन् !
अपने को अर्पित करना चाहता हूँ
हृदय में उस किरण की प्रतीक्षा करता रहा
और देर हो गई
बहुत से अपराध कर बैठा
वे मुझे फाँसने के लिए
नियम और उपनियमों का जाल
लेकर आये
किन्तु
मैं दूर हटता गया
मैं तो अपने को अर्पित करने के लिए
उस किरण की
प्रतीक्षा कर रहा हूँ
लोग मुझे बदनाम करते हैं
कहते हैं 'मैं बेसुध हूँ'
वे ठीक ही कहते हैं
निःसंदेह मैं दोषी हूँ
बाजार उठ गया

व्यस्तता और भागदौड़ समाप्त हो गयी
जो बुलाने आये थे, नाराज होकर
लौट गए
किंतु
मैं
चरणों में अर्पित होने के लिए
अब भी
उस धुंधली किरण का
इंतजार कर रहा हूँ।

## व्याकुलता

बादल उमड़ आये
अंधेरा बढ़ रहा है
फिर भी
माँ
तुमने किवाड़
बंदकर रखे हैं
पता नहीं क्यों ?
अकेला बाहर खड़ा हूँ
दिन की व्यस्त घड़ियों में
भीड़ के साथ
दौड़ता रहा
किंतु इस सूनेपन में
एकमात्र
तेरा ही सहारा है
यदि तू नहीं बुलाएगी
तो बता
इन अंधेरी घड़ियों को

अकेला
कैसे बिताउंगा ?
दूर तक दृष्टि फैलाता हूँ
किंतु
अंधकार ही अंधकार
दिखाई देता है
झंझा के झकोरों से हृदय काँप रहा है

## मौन प्रतीक्षा

भगवन् !
यदि तुम
नहीं बोलते
तुम्हारा मौन
हृदय में भर लूंगा ।
मध्य-निशा में
तारों के समान
मौन और शांत
आँखें
तुम्हारी प्रतीक्षा में
चमकती रहेंगी
मस्तक
स्वागत के लिए
झुका रहेगा ।
निस्संदेह
प्रभात आएगा
अंधेरा दूर होगा
और

तुम्हारी ध्वनि
नीरव गगन को
चीरती हुई
स्वर्णिम निर्झरों में
मुखरित हो उठेगी।
सुप्त विहंगम
जागेंगे
और प्रत्येक नीड़ में
तुम्हारा कलरव
सुनाई
पड़ेगा
पुष्पों, फलों और वनस्पतियों में
तुम्हारा संगीत
प्रतिध्वनित हो उठेगा।

## प्रेरणा

अब
प्रतीक्षा नहीं करूंगा,
नौका
प्रवाह में उतार रहा हूँ
तट पर
बैठे-बैठे
लम्बी उदास घड़ियाँ बीत गई
और
मैं आलस में पड़ा रहा।
वसंत आया
फूल खिले

और
चला गया
अब
फूल मुरझा गए हैं
सुगंध समाप्त हो गई
मैं
उन्हीं को लेकर
तुम्हारी पूजा करने आया हूँ

समुद्र में तरंगें
उठ रही हैं
सूखे पत्ते
लड़खड़ा रहे हैं
दिशाएँ सूनी हैं
उस तट पर
मधुर संगीत उठ रहा है
उसकी स्वरलहरी
मुझ में
प्राणों का संचार कर रही है
समीर का एक झोंका उल्लास लेकर
आया है
और अपने कोमल हाथों से
मुझे
जगा रहा है

### तुम आ रहे हो

मित्र !
क्या तुम

इस क्षुब्ध रात्रि में
मिलन-यात्रा पर निकले हो ?
आकाश
निराशा से भरा है
मुझे
नींद नहीं आई
बार-बार उठता हूँ
और द्वार खोलता हूँ
चारों ओर दृष्टि डालता हूँ
किंतु
कुछ नहीं दिखाई देता
पता नहीं
पगडंडी किधर है ?
फिर भी
मन कहता है
तुम आ रहे हो
दुःख और निराशा की अँधेरी गलियाँ
नदी नाले
अरण्य
और
पर्वत
पार करते हुए
तुम आ रहे हो ।

## विश्राम

दिन समाप्त हो गया
पक्षियों ने कोलाहल बंद कर दिया

समीर थक गया
भगवन् !
मैं भी विश्राम चाहता हूँ
मुझ पर
अन्धकार की काली चादर ढक दो ।
रात आ गई
चारों ओर अंधेरा छा गया
सृष्टि पर
निद्रा का साम्राज्य हो गया
तुमने करुणार्द्र होकर
अपने कोमल हाथों से
कमल की पंखुड़ियाँ
बंद कर दी ।
भगवन् !
मै भी थक गया हूँ
और
विश्राम चाहता हूँ
भगवन् !
थक गया हूँ
मंजिल नहीं मिली
पाथेय समाप्त हो गया
शक्ति क्षीण हो गई
और
पतवार टूट गई
किन्तु
मंजिल नहीं मिली ।

जिस प्रकार
निशा
कुमुद को
नवजीवन प्रदान करती है
उसी प्रकार
मुझे नवजीवन दो
यह संकोच
और दारिद्र्य
दूर कर दो ।

## विराम

भगवन् !
थक गया हूँ
विश्राम चाहता हूँ
मेरे
संघर्ष और द्वंद्वों को समाप्त करो
और
प्रशांत निशा में
सुख पूर्वक
सोने दो
अलसाई अंतरात्मा
विश्राम चाहती है
उसे अपने स्वागत के लिए
विवश मत करो
जब दिन थक जाता है
उसकी अलसाई आंखो पर
तुम

निशा की चादर ढ़क देते हो
अरुणोदय होने पर
जब वे
पुनः खुलती हैं
तो वे ही
उल्लास और ज्योति से
चमकने लगती है

## मैं सोया रहा

वे, आए
और पास बैठ गए
किंतु
मैं नहीं जगा
कितना अभागा हूँ।
वे नीरव निशा में आए
हाथों में मुरली और
अधरों पर मृदु मुस्कान लेकर
उनका संगीत
स्वप्नों में भरा
किंतु
में न जगा,
इसी प्रकार
अनेक
रातें बीत गई
निद्रा में उनके कोमल निश्वाश
मेरा स्पर्श करते रहे
किंतु

वे
नहीं
दिखाई दिए।

## प्रकाश की खोज

प्रकाश
कहाँ है प्रकाश ?
तुम
प्रकाश खोज रहे हो
किंतु
वह बाहर नहीं ।
इच्छाओं की बत्ती बनाकर
अंतर्दीप प्रज्वलित करो
मेरे हृदय !
तुम
प्रदीप बने
किंतु ज्योति प्रज्वलित न हुई
इससे तो
मृत्यु अच्छी
विपत्तियाँ
तेरा द्वार
खटखटा रहीं हैं
वे सन्देश लेकर
आई हैं
कि परमपिता परमात्मा
जाग रहा है
और

तुम्हें पुकार रहा है
इस
अंधेरी रात में
तुम्हारी
परीक्षा लेना चाहता है
आकाश
काले बादलों से घिरा है
वर्षा
रुकती ही नहीं
कोई
हृदय को
आँदोलित कर रहा है
पता नहीं
क्यों ?
एक क्षण के लिए
बिजली चमकती है
और
अंधेरा छा जाता है
चेतना पर
आवरण
पड़ जाता है
उसी समय
निशा का करुण संगीत
सुनाई पड़ता है
हृदय वहां पहुँचने के लिए
पथ खोजने लगता है ।

प्रकाश ?
कहाँ है प्रकाश ?
इच्छाओं की बत्ती बनाकर
उसे स्वयं प्रज्वलित करना होगा
बादल गर्ज रहें हैं
पवन शून्य को चीरता हुआ बह रहा है
रात अंजन के समान काली है
जीवन-दीप में प्रेम की ज्योति
प्रज्वलित करो
ओर इन अंधेरी
घड़ियों का अन्त कर दो ।

## संकोच

प्रभो !
बंधन पीड़ा दे रहे हैं
फिर भी
जब उन्हें तोड़ना चाहता हूँ
तो मन में
संकोच होने लगता है
पराधीनता से व्याकुल हूँ
किन्तु
मुक्ति की आशा
दुःसाहस जान पड़ती है
मन में
दृढ़ विश्वास है कि
तुम
अपार संपत्ति के स्वामी

और
मेरे परम मित्र हो
फिर भी
भ्रम में पड़ा हूँ
हृदय पर
मोह और मृत्यु का
आवरण छाया है
छुटकारा चाहता हूँ
किन्तु
स्वयं चिपका हुआ हूँ
भार
असह्य है
असफलताएं बढ़ रही हैं
अपने कृत्यों का स्मरण करता हूँ
तो लज्जा आती है
उद्धार के लिए
प्रार्थना करता हूँ
तो, भय होता है
कहीं अस्वीकृत न हो जाये !

## दीवारें

मैंने
अपना नाम रखा
परिधि बनाई
और
कारागार में
फंस गया।
रो रहा हूँ

फिर भी
दीवारें ऊँची करता जा रहा हूँ
वे
ज्यों-ज्यों
ऊपर उठ रही हैं
प्रकाश हट रहा है
और
अंधेरा बढ़ रहा है
मुझे
फिर भी
ऊंची दीवारों का
गर्व हो रहा है
एक के पश्चात् दूसरा
लेप चढ़ रहा है
सोचता हूँ
कहीं छिद्र न रह जाय
किंतु
दीवारों की
जितनी चिंता करता हूँ
अपने से
दूर हट रहा हूँ

### स्वार्थ

भगवन् !
तुमसे
मिलने के लिए

अकेला
मंदिर के पथ पर
चल पड़ा
किंतु
वह कौन है
जो इस नीरव अंधकार में
मेरे पीछे-पीछे
चल रहा है
उससे अलग होना चाहता हूँ
एक ओर हटता हूँ
किंतु छुटकारा नहीं मिलता
उसके
अहंकारपूर्ण भारी कदम
जब जमीन पर पड़ते हैं
तो धूल उड़ती है
प्रत्येक शब्द द्वारा
नम्रस्वरों में
हृदय प्रकट करना चाहता हूँ
किंतु
उसका कोलाहल
अंतर ध्वनि को दबा देता है

भगवन्
वह
मेरी ही क्षुद्र जीवात्मा है
उसे लज्जा नहीं आती
किंतु उसे साथ लेकर

तुम्हारे पास आने में
मुझे लज्जा आती है

## अहंकार

"बन्दी
तुझे बंधन में किसने डाला ?"
"स्वामी ने", बंदी ने उत्तर दिया ।

सोचा था
शक्ति और संपत्ति की
इस प्रतिस्पर्द्धा में
सबको परास्त कर दूँगा
इसके लिए
स्वामी का धन
अपने कोष में रख लिया
जब नींद आने लगी
तो स्वामी की शय्या पर
सो गया

जगा तो
अपने को
अपने ही कारागृह में
बंदी पाया"

"बंदी !
यह कठोर शृंखला
किसने तैयार की ?"
मैंने ही, "बंदी ने उत्तर दिया ।
"मैंने ही इसे मन लगा कर घड़ा था ;

सोचा था यह दुर्दान्त शक्ति
विश्व को बंदी बना लेगी
और
मेरी स्वतंत्रता में
कोई बाधा नहीं आएगी।
यह सोचकर भट्टी जलाई
और
शृंखला बनाने के लिए
निर्दय होकर आघात करने लगा
दिन रात एक कर दिए
शृंखला पूरी हुई
एक कड़ी
दूसरी कड़ी से जुड़ गई
किंतु उसमें स्वयं जकड़ा गया

## तुम्हारा प्रेम

भगवन्!
स्वजन मुझसे प्रेम करते हैं
और
बंदी बना रखा है
उन्हें भय है
स्वतंत्र होने पर
भाग न जाऊं
कहीं उन्हें भूल न जाऊं
इस भय से
वे मुझे
अकेला नहीं छोड़ते

किंतु तुम्हा प्रेम
दूसरी प्रकार का है
वह प्रतिबन्ध नहीं लगाता
तुम
बन्धन के स्थान पर
स्वतन्त्रता प्रदान करते हो
दिन वीतते जा रहे हैं
किंतु तुम
सामने नहीं आते
मैंने तुम्हें कभी नहीं पुकारा
न कभी प्रार्थना की
हृदय में भी
स्थान नहीं दिया
फिर भी
तुम्हारा प्रेम
मेरे प्रेम की प्रतीक्षा कर रहा है

## स्वार्थ

अँधेरा होने से पहले
वे
मेरे घर पर आए
और
कहने लगे
हमें एक कोने में तनिक सा स्थान दे दो
उन्होंने
यह भी कहा
हम पूजा में

तुम्हारी सहायता करेंगे
और
भगवान की कृपा का
जो भाग
हमारा होगा
उसे लेकर
संतुष्ट हो जाएंगे
मैंने अनुमति दे दी
और वे
एक कोने में
शान्त होकर बैठ गए
किंतु
जब रात हुई
और अंधेरा छा गया
तो वे
उद्दंड होकर मन्दिर में घुस गए
और
वेदी पर रखे उपहारों को
अपने अपवित्र हाथों से
उठा लिया

## अभिलाषा

हे जीवन-सर्वस्व !
मेरा कण-कण
तुम्हारी पूजा में
अर्पित है
मन में एक ही अभिलाषा है

कि विश्व को
प्रत्येक हलचल में
तुम्हारे दर्शन होते रहें
प्रत्येक पद पर
तुम्हारी अनुभूति बनी रहे
प्रतिक्षण अपना स्नेह
तुम्हारे चरणों में अर्पित करता रहूं
यह व्यक्तित्व
तुम्हारी धरोहर है
इसे मिटाना नहीं चाहता
किंतु इतना विस्तार भी नहीं चाहता
कि तुम छिप जाओ
इच्छा है
तुम्हारे उद्देश्य की पूर्ति ही
मेरे जीवन का
एक मात्र लक्ष्य बन जाए
तुम्हारा संकेत ही एक मात्र प्रेरणा
और
तुम्हारा प्रेम ही एक मात्र बन्धन हो

## शक्ति दो

भगवन् !
एक ही प्रार्थना है
मेरे हृदय की
दुर्बलता
दूर करो
शक्ति दो—

सुख और दुख
दोनों में
तटस्थ रहकर
मुस्करा सकूँ
शक्ति दो—
बिना किसी स्वार्थ के
अपना प्रेम
तुम्हारे चरणों में
अर्पित कर सकूँ
शक्ति दो—
दीन दुखी की उपेक्षा न करूँ
और
न उच्छृङ्खल प्रभुता के सामने
घुटने झुकाऊँ
शक्ति दो—
दैनंदिन
तुच्छ बातों पर
ध्यान न दूँ
शक्ति दो
अपना सारा बल
एक मात्र
तुम्हारी इच्छा
पूर्ण करने में लगा हूँ

## केवल तुम्हें चाहता हूँ

भगवन् ।
मैं तुम्हें

चाहता हूँ,
केवल तुम्हें
हृदय इस बात को
बार-बार दोहरा रहा है
और सदा दोहराता रहेगा
तुम्हें छोड़कर
उत्पन्न होने वाली
समस्त इच्छाएँ
मिथ्या और
निस्सार हैं
जिस प्रकार
निशा की नीरवता में
प्रकाश के लिए
मौन प्रार्थना
छिपी रहती है
उसी प्रकार
मेरे सुप्त मन में
पुकार
उठ रही है
मैं तुम्हें चाहता हूँ
केवल तुम्हें
प्रबल झंझा
चट्टान से
टकराकर
शांत हो जाती है
इसी प्रकार
मेरा उद्धत मन

तुम्हारे प्रेम से
टकराता है
और पुकार उठता है—
मैं तुम्हें चाहता हूँ,
केवल तुम्हें

## पुकार

भगवन् !
मेरा मन
जब
उत्तप्त होने लगे
तब तुम
अपनी करुणा को
शीतल वर्षा
प्रारंभ कर देना
जब
जीवन का सौंदर्य
मुर्झाने लगे
तुम
संगीत बनकर आ जाना
और
नव चेतना भर देना
जब
व्यग्रता का तुमुल घोष
कान
बहरे कर दे
तुम्हारी ध्वनि
न सुनाई दे

तब हे मौन के देवता
तुम
अपनी नीरवता और शांति—
लेकर चले आना।

जब
क्षुद्र हृदय
कोने में
बंद हो जाय
हे विश्व सम्राट
तब तुम
बल पूर्वक किंवाड़ खोलकर
मुझे राजतिलक कर देना।

जब
कामनाएँ
अज्ञान और मोह का अंधकार लेकर
बुद्धि को तिरोहित करें
तब हे पुनीत !
हे प्रबुद्ध !
तुम
अपना प्रकाश
फैला देना

## व्याकुलता

प्रभो !
हृदय उत्तप्त है
और वर्षा में

देरी हो रही है
चारों दिशाएँ सूनी हैं
कही छोटी सी बदलियाँ भी
नहीं दिखाई देती
यदि
तुम्हारी
यही इच्छा है
तो तूफान लेकर
प्रलय घटा भेज दो
और बिजली की चमक से
सारा आकाश
हिला दो।
किंतु
हे मेरे प्रभो !
इस क्रूर नीरव
उत्ताप को
समेट लो
निराशा
हृदय को
जला रही है
पिता के क्रुद्ध हो जाने पर
माँ की
करुणा
सजल होकर
अड़ आती है
उसी प्रकार

इस
शून्य गगन में
अपनी करुणा का मेघ
उमड़ने दो

## मेरा स्वप्न

प्रियतम, तुम कहाँ खड़े हो ?
अपने को
सबके पीछे छिपाए हुए
कहाँ खड़े हो !
वे
तुम्हें तुच्छ समझ कर
एक ओर
धकेलते हुए
आगे बढ़ जाते हैं ।
मैं
कितनी देर से बैठा हूँ
यात्री आए
और
फूल उठाकर
चलते गये
टोकरी खाली हो गई ।
पूर्वान्ह समाप्त हो गया
दोपहर भी बीत गई
शाम ढ़ल गई
और मेरी आँखें
नींद से भारी हो गई

घर लौटते हुए पथिक
मुझे देख कर
तिरस्कार पूर्ण दृष्टि से
मुस्कराने लगे
और मैं
भिखारिन के समान
लज्जा से
मुँह छिपा कर बैठ गया
वे पूछने लगे
तुम्हें क्या चाहिए ?
मैंने बिना उत्तर दिए
सिर झुका लिया
उनसे
कैसे कहूँ
कि हे मेरे प्रियतम
मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ
और तुमने आने का
वचन दिया है ।
उनसे कैसे कहूँ कि
मेरे पास
इस दरिद्रता के अतिरिक्त
कोई उपहार नहीं है
फिर भी
मेरे हृदय के प्रान्तर में
एक अभिमान छिपा है ।
घास पर बैठा

आकाश की ओर
मुँह उठाता हूँ
और
बिजली की चमक के समान
तुम्हारे साक्षात्कार का स्वप्न देखता हूँ
लम्बी घड़ियाँ बीत गईं
किंतु
तुम्हारे रथ की ध्वनि
सुनाई नहीं पड़ी
कोलाहल
जयनाद तथा
भड़कीले प्रदर्शनों के साथ
अनेक सवारियाँ निकल गईं
क्या अकेले तुम्हीं
शांत एवं नीरव होकर
पीछे
छिपे रहोगे ?
क्या मैं
प्रतीक्षा में ही रोता रहूँ ?
मौन अभिलाषा में
हृदय थक गया ।
असंख्य दीपों और
स्वर्णपताकाओं से सुशोभित
रथ आया
तुम उतरे
और लज्जा तथा गर्व से काँपते हुए

इस भिखारी को
रथ में
बिठा लिया
मैं
सिहर उठा
मलय-पवन से आन्दोलित कोमल लता के समान
मेरे वस्त्र
जीर्णशीर्ण
और मैले थे ।
यात्री चकित होकर देखने लगे ।

## महायात्रा

अरुणोदय होते ही
किसी ने
कान में कहा—
आज हम यात्रा करेंगे
नाव में
हम दोनों को छोड़कर
कोई न होगा
इस यात्रा का न कोई लक्ष्य होगा
न कहीं अन्त
किसी को पता न चलेगा
अनन्त सागर में
तुम
चुप चाप सुनते रहोगे
और मैं गाता रहूँगा
समस्त बंधनों से मुक्त होकर

सागर की तरंगों के समान अप्रतिहत
क्या वह घड़ी नहीं आई ?
क्या कुछ काम बाकी है ?
देखो,
तट पर संध्या उतर आई
धुँधले प्रकाश में
पक्षी अपने घोंसलों की ओर
आ रहे हैं
पता नही रस्सी कब टूट जाय
और संध्या की
अन्तिम किरण के समान
यह नाव
महानिशीथ में विलीन हो जाय

## स्फूर्ति

भगवन्
तुम्हारे आगमन की घड़ी आ गई
किंतु मैं
स्वागत के लिए
तैयार न हो सका
फिर भी
तुम
विना बुलाए ही
अपरिचित अतिथि के समान
हृदय में प्रविष्ट हो गए ।
हे सम्राट !
मेरे जीवन के नश्वर क्षणों को

तुमने
अपनी मुद्रा लगाकर
शाश्वत बना दिया
आज
जब उस ओर
ध्यान जाता है
तुम्हारे उन संकेतों को ढूँढ़ता हूँ
तो
अतीत-सुखदुःख की स्मृति के साथ
वे भी
धूल में बिखरे दिखाई देते हैं
मेरी बालक्रीड़ा पर
तुम अप्रसन्न नहीं हुए
मेरे हृदयांगन में
जो पदचाप सुनाई पड़ रही है
उसी की प्रतिध्वनि
नक्षत्रों में सुन रहा हूँ

## तुम आओगे, अवश्य आओगे !

जहाँ धूप के पीछे छाया है
और ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा
उस पथ के
एक ओर खड़ा होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ
इसी में
सुख मिल रहा है ।
तुम्हारे दूत

अनन्त का
संदेश लेकर आते हैं
और मेरा अभिनन्दन करते हुए
आगे बढ़ जाते हैं ।
हृदय
अन्दर ही अन्दर
मुस्कराने लगता है
समीर का स्पर्श
सुखद
जान पड़ता है ।
अरुणोदय से लेकर
सांझ ढलने तक
द्वार पर बैठा रहता हूँ
मन में
दृढ़ विश्वास है
तुम आओगे
अवश्य आओगे !
तब तक अकेला ही
मुस्कराता और गाता रहूँगा
पवन में आशा की सुगंध भर रही है
और
विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है
तुम
आओगे, अवश्य आओगे !
तुम्हारे नीरव पद-चाप
निरन्तर सुनाई दे रहे हैं

प्रत्येक क्षण
प्रत्येक घड़ी
प्रत्येक दिन
प्रत्येक रात
और
प्रत्येक ऋतु
तुम्हारे आगमन की
सूचना दे रही है
तुम
आओगे, अवश्य आओगे !
हृदय को विविध भावों से भरकर
मैंने
तुम्हारे गीत गाए
प्रत्येक में
एक ही ध्वनि थी
"तुम आओगे, अवश्य आओगे"
जब
बसन्त आएगा
फूल खिलेंगे
और वायुमण्डल
सुगंध से भर जाएगा
टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों से होकर
तुम आओगे, अवश्य आओगे !
वर्षा ऋतु में
जब आकाश
काले बादलों से
घिरा होगा

चारों ओर अंधकार दिखाई देगा
उस समय
विजली के रथ पर बैठकर
तुम आओगे, अवश्य आओगे
जब विपत्तियाँ आती हैं
तुम्हारे चरण
भारी होकर
हृदय को दबाने लगते हैं
और जब
आनन्द की किरणें
चमकती हैं
वे ही
कोमल एवं सुखद
बन जाती हैं।

## आहट

भगवन् !
तुम आ रहे हो
पता नहीं कब से
तुम्हारी आहट सुनाई पड़ रही है।
सूरज और चाँद
तुम्हारी चमक लेकर आते हैं
प्रतिदिन
प्रातः और सायं
तुम्हारी पदध्वनि सुनता हूँ
दूत
तुम्हारा संदेश लेकर आता है

और
एकांत में छुपकर
संकेत करता है
आज जीवन सरिता में
तरंगें उठ रहीं हैं
पता नहीं क्यों ?
हृदय में आनन्द की लहरें
उमड़ रही हैं
प्रतीत होता है
मेरा काम पूरा हो गया
समीर में
मादकता भर रही है
लगता है तुम आगए

## मेरा जागरण

अंधेरी रात में
प्रतीक्षा करता रहा
किन्तु वे न आए
सूर्योदय हुआ
अब थकावट के कारण
नींद आ रही है
साथ ही डर लग रहा है
कहीं वे
वापस न लौट जायं
मित्रों !
उनका रास्ता छोड़ दो
रुकावट मत डालो

यदि
उनकी पदध्वनि से
नींद न खुले
तो तुम
अपनी ओर से
जगाने का प्रयत्न मत करना।
मैं
नहीं चाहता कि
अरुणोदय होने पर
पक्षियों का कोलाहल
और हवा के झोंके
मेरी निद्रा में विक्षेप डालें।
चाहता हूँ
मेरी स्वर्णिम निद्रा
उन्हीं के हाथों का
कोमल स्पर्श पाकर टूटे
जब वे मधुर स्वप्न के समान
निद्रा के
आवरण को चीर कर
मुस्कराते हुए
सामने खड़े हों
तभी पलकें ऊपर उठें।
आँखें सर्वप्रथम
उन्हीं का दर्शन करें
उन्हीं का प्रकाश, प्रथम प्रकाश हो
और

उन्हीं का रूप
प्रथम रूप !
उन्ही की स्नेहपूर्ण दृष्टि
उन्मीलित चेतना में
प्रथम आनन्द संचार करे
और वही चेतना
जब निमीलित हो
उन्हीं में
विलीन हो जाय

## तुम पास खड़े हो

प्रातः हुआ
पक्षी बोले
सागर में
तरंगें उठने लगीं
पथ के दोनों ओर
फूल मुस्कराए
और
स्वर्णिम जलधर
संपत्ति बिखेरने लगे ।
किन्तु मैंने ध्यान न दिया
और
व्यग्रता के साथ
चलता रहा
न गीत गाए
न क्रीड़ा की
न कोई मनोरंजन

गाँव में पहुँचा तो
लेनदेन भी नहीं किया
न कुछ बोला; न मुस्कराया
और न विश्राम किया
दिन चढ़ने लगा
और
कदम तेज होते गए
दोपहर होगई
सूर्य प्रचण्ड होकर
आकाश के मध्य में
चमकने लगा।
श्रांतविहग कूजन करने लगे
मध्यान्ह के उत्तप्त पवन में
क्षुब्ध होकर
सूखे पत्ते
लड़खड़ाने लगे
वृक्ष की छाया में
निद्रा-निमग्न ग्वाले
मधुर स्वप्न देखने लगे
मैं जलाशय के
समीप पहुँचा
और वृक्ष की शीतल छाया में
घास पर लेटगया
साथी तिरस्कार के साथ
मुस्कराए
और सिर ऊंचा उठाकर

गर्व के साथ आगे बढ़ गए
उन्होंने
न विश्राम किया
और न मुड़कर देखा ।
वेग के साथ
बढ़ते चले गये
और क्षितिज में
विलीन हो गये
उन्होंने
दुर्गम-वन
और
ऊँचे-ऊँचे पर्वत
पार किये ।
विचित्र देश देखे
अनंत के पथ पर
पदचिह्न अंकित किये ।
अपने प्रांगण में
सबका स्वागत करने वाले
हे विराट् !
यह सब तेरी महिमा है
उपहास ओर निंदा के
कंटक चुभे
और मुझे
उकसाने लगें
किंतु मैं न उठा
शांत होकर

उसी प्रकार
लेटा रहा
अभिमान छोड़कर
उत्तरोत्तर
नम्र होता चला गया
और उसी की सुखद गहराई में
डूब गया
मन ही मन
अस्फुट आनंद की अनुभूति होने लगी
सूर्य की कोमल किरणें
वृक्षों की स्निग्ध हरियाली को
चूमने लगी
शांत ज्योति की
हरियाली किरण
मेरे हृदय में
मुस्कराई
यात्रा का लक्ष्य
विस्मृत हो गया
संघर्ष समाप्त हो गए
मन
उस शीतल छाया और
मधुर संगीत में
विलीन हो गया
निद्रा समाप्त हो गई
आँखें खुली
तो

देखा, तुम पास खड़े हो
और मेरी निद्रा पर
अपने स्मित की
वर्षा कर रहे हो
मन में
चिंता थी
मार्ग कितना लंबा है
थका देने वाला
और तुम्हारे पास जाने के लिए
कठोर परिश्रम करना होगा

## हृदय की पुकार

भगवन् !
मैं अकेला
कोने में बैठकर
गा रहा था
फिर भी मेरा
स्वर तुम्हारे पास पहुँच गया
तुम
सिंहासन छोड़कर
चले आए
और
मेरे द्वार पर
खड़े हो गए
तुम्हारे दरबार में
अगणित
कलाकार हैं

निरन्तर संगीत चल रहा है
फिर भी इस अबोध के
क्षीण स्वरों ने
तुम्हें
प्रेम-विह्वल कर दिया
मेरा करुण स्वर
विश्व के महासंगीत में मिल गया
तुम
प्रसन्न हो गए और
पुष्पों का उपहार लेकर
चले आए

## कितना अच्छा होता

एक द्वार से दूसरे द्वार पर
भीख माँगता हुआ
गलियों में भटक रहा था
अकस्मात्
दूर से
सुनहले स्वप्न के समान
तुम्हारा दिव्य रथ
दिखाई दिया
मैं
चकित होकर देखने लगा
यह सम्राटों का सम्राट
कौन है ?
आशाएं उभरने लगी

मैंने सोचा
बुरे दिन समाप्त हो गए
एक ओर प्रतीक्षा में खड़ा हो गया
सोच रहा था
सम्पत्ति की वर्षा होगी
बिन माँगे सब कुछ मिल जाएगा ।
रथ आया
और मेरे पास रुक गया
तुमने मुझे स्नेह पूर्ण दृष्टि से देखा
और मुस्कराते हुए
नीचे उतरे
मैंने सोचा
जीवन में
नव प्रभात आ गया
अकस्मात्
तुमने दाँया हाथ फैलाया
और बोले—
"ला, तेरे पास क्या है ?"
सम्राट ने
भिखारी के सामने
हाथ फैला दिया
यह कैसा उपहास था ?
मैं घबरा गया
और
कर्तव्यमूढ़ होकर
खड़ा रहा

होश आया
तो झोली में हाथ डाला
और भिक्षा के कुछ दाने
तुम्हारे हाथ पर रख दिए
तुम
उन्हें लेकर
आगे बढ़ गए
और मैं
देखता रह गया
निराश तथा खिन्न।
संध्या के समय जब झोली उलटी
तो कुछ दाने
स्वर्ण के दिखाई दिए
मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।
फूट-फूट कर रोने लगा
कितना अच्छा होता
यदि
उन हाथों में सारी झोली उलट देता

## प्रभु का आगमन

सूरज छिप गया
अंधेरा बढ़ने लगा
दिन के काम पूरे हो गए
सोचा
अन्तिम अतिथि आ चुका
और मैंने
द्वार बन्द कर दिए

कुछ लोग
धीमे स्वर में कह रहे थे
'राजा आने वाला है'
मैंने उन पर हँसते हुए कहा
'नही, ऐसा नहीं हो सकता ।'
किसी ने
किवाड़ थपथपाए
किंतु
मैंने सोचा
यह केवल हवा का झोंका है
चिराग बुझा दिया
और
निश्चिन्त होकर
विस्तर पर लेट गया
किसी ने कहा—
यह आवाज उनके अग्र-दूत की है
मैंने उपेक्षापूर्वक उत्तर दिया—
'नहीं, हवा का झोंका है ।'
घनी रात में
फिर आवाज आई
मैंने
अर्द्धसुप्त अवस्था में सोचा
कहीं बिजली कड़क रही है
घरघराहट सुनाई दी
दीवारें हिली
और

नींद टूट गयी ।
किसी ने कहा
यह उनके पहियों की
आवाज है
मैंने
बड़बडाते हुए कहा—
'नहीं, बादल गरज रहे है ।'
अधेरा
अभी बाकी था
और नगारे की आवाज आई
किसी ने पुकारा—
'उठो, देर मत करो'
मैं छाती पर हाथ रखकर
भय से काँपने लगा
किसी ने कहा
वह देखो, पताका चमक रही है
मैं
घबराकर खड़ा हो गया
और
चिल्लाने लगा
'सवारी आ पहुँची
अब देरी नहीं करनी चाहिए'
किंतु
मेरे पास
न प्रदीप था, न पुष्पमालाएँ
न सिंहासन

और न मण्डप
लज्जा से सिर झुक गया
उसी समय
किसी ने कहा
चिन्ता क्यों कर रहे हो
खाली हाथ ही उनका स्वागत करो
उन्हें अपने सूने कमरे में ले जाओ
किवाड़ खोल दो
और शंख बजाओ
इस निविड़ अंधकार में
सूने घर का स्वामी आया है
आकाश गरज रहा है
बिजलियाँ चमक रही है
और
अंधेरा काँप रहा है
टूटी चटाई ले आओ और
आँगन में बिछा दो
भयानक रात्रि का स्वामी
तूफान लेकर आया हैं

## वंशीरव

तुम्हारे मन में
आलस्य भरा है
पलकें
ऊपर नही उठती।
शरीर भारी हो रहा है
क्या तुमने नहीं देखा

काँटों में फूल मुस्करा रहा है
उठो, तुम भी उठो
इस अमूल्य घड़ी को
व्यर्थ न जाने दो
पथरीले मार्ग के उस पार
शून्य और नीरव एकांत में
प्यारा साथी
अकेला बैठा है
उससे छलना मत करो
उठो, तुम भी उठो
मध्यान्ह हो गया
सूर्य आग बरसा रहा है
दिशाएँ उत्तप्त हैं
वातावरण त्रास और विह्वलता से भरा है
रजकण अशांत हैं
और
प्यास की ज्वाला
तीव्र होती जा रही है
तो क्या हुआ ?
क्या तुम्हारे अंतस्तल में
आनन्द का शीतल स्रोत नहीं हैं
प्रत्येक कदम पर
उनका
वंशीरव सुनाई पड़ रहा है ।

## मिलन

भगवन् !
तुम मेरे पास आगए
तुम्हारा प्रेम
हृदय में
हिलोरें ले रहा है
विश्वपति !
मुझसे अधिक
तुम्हारे प्रेम का पात्र कौन है ?
तुमने अपनी अपार संपत्ति में
मुझे अपना साथी
बना लिया
हृदय तुम्हारे आनन्द से नाच रहा है
जीवन में तुम्हारी इच्छा
साकार बन रही है
सर्वेश्वर !
मेरे मन को
अपनी ओर
आकृष्ट करने के लिए
तुमने यह अनुपम शृंगार रचा है
मेरा प्रेम
तुम्हारे प्रेम में
विलीन हो गया
दोनों के शाश्वत मिलन में
तुम्हारा
साक्षात्कार हो रहा है

### उल्लास

हे मेरे प्रकाश
तुमने अपनी प्रभा से
समस्त विश्व को
आलोकित कर दिया
तुम्हीं आँखों की ज्योति हो
तुम्ही हृदय का स्नेह
प्रिये !
मेरे जीवन में
उस दिव्य आलोक का नृत्य हो रहा है
हृदय वीणा से
झंकार उठ रही है
नभोमंडल विस्तृत हो रहा है
पवन का वेग बढ़ रहा है
पृथ्वी मुस्करा रही है
तितलियाँ
पंख फैला कर
आलोक के महासमुद्र पर
नौका के समान
तैर रही हैं
कमल तरगों पर
नाच रहे है
प्रिये !
वह देखो
बादलों में
स्वर्ण बिखर रहा है

चारों ओर
रत्नों की वर्षा हो रही है
कण-कण हँस रहा है
आनंद का सागर उमड़ रहा है
आकाशगंगा के तट डूब गए
हर्ष ने
समस्त सृष्टि को आप्लावित कर दिया

## अनंत का खेल

अनंत के तट पर
बालकों का मेला लगा है
ऊपर
शांत, आकाश है
और
नीचे
क्षुब्ध महासागर

अनंत के तट पर
बालकों का मेला लगा है
कोई गा रहा, कोई नाच रहा है
कोई चिल्ला रहा है
कोई
मिट्टी के घरौंदे बनाकर
टूटी सींपियों से खेल रहा है
कोई
सूखे पत्तों की नौका बनाता है
और उसे
विशाल समुद्र में डालकर

खुश हो रहा है
अनंत के तट पर
बालक खेल रहे हैं
न तैरना जानते हैं
और
न जाल बिछाना
मछुए मोती के लिए
डुबकी लगाते हैं
व्यापारी जहाज में यात्रा करते हैं
किंतु बालक कंकर इकट्ठे करते हैं
और
बिखेर देते हैं
वे न गुप्त धन खोजते हैं और न
षड्यंत्र रचते हैं
समुद्र में ज्वार आता है
और
अट्टहास के साथ
ऊपर उठता है
स्वर्णिम तट मुस्कराने लगता है
तरंगें
नृत्यगीत के समान भयंकर ध्वनि
करती हुई
उठतीं हैं
किंतु बालक कुछ नहीं सुनते
प्यार भरी माता के समान समुद्र
उनके साथ

LIBRARY

क्रीड़ा कर रहा है
अनंत के तट पर
बालकों का मेला लगा है
पथहीन आकाश में झंझा उठ रही है
नौकाएँ चट्टानों से टकरा रही हैं
समुद्र में प्रलय नृत्य हो रहा है
किंतु बालक खेल रहे हैं
अनंत के तट पर
बालकों का मेला लगा है

## इतनी ही प्रार्थना है

भगवन् !
जिन व्यक्तियों से कोई परिचय न था
तुमने मुझे उनका प्रिय बना दिया।
जिन ग्रहों का ज्ञान भी न था
उनका अधिपति बना दिया
दूरी समाप्त कर दी
अपरिचितों को
आत्मीय बना दिया
अब
छोड़ने में
कष्ट हो रहा है
इस बात को भूल जाता हूँ कि
प्रत्येक
नवीन में पुरातन की सत्ता है
तुम वहाँ विद्यमान हो
जन्म और मृत्यु,

यह लोक और परलोक
कहीं चला जाऊँ
तुम सर्वत्र हो
तुम्हीं मेरी अनंत यात्रा के
एकमात्र साथी हो
तुम्हीं मुझे
अपरिचित के साथ
आनंद के बधंन में बांधते हो
तुम्हें जान लेने पर
कोई पराया नहीं रहता
सभी द्वार खुल जाते हैं
भगवन् !
इतनी ही प्रार्थना है
कि जो एक अनेक रूपों में
नृत्य कर रहा है
उस पर दृष्टि बनी रहे

## मेरा गीत

भगवन् !
जब तुम
गाने के लिए कहते हो
लगता है
हृदय गर्व से विदीर्ण हो जायेगा
नम्र होकर
तुम्हारी ओर देखने लगता हूँ
आँखों में
कृतज्ञाता के आँसू भर आते हैं

मन की
कठोरताएँ और वैषम्य
पिघल जाते हैं
श्रद्धा का
मधुर स्रोत
बहने लगता है
अर्चना
अनंत सागर पर उड़ते हुए
विहगम के समान
पंख पसार लेती है
जानता हूँ
तुम्हें
मेरा गीत अच्छा लगता है
यह भी जानता हूँ
कि
तुम्हारे चरणों में
अर्पित करने के लिए
मेरे पास
इसके अतिरिक्त
कुछ नही है
मेरा गीत
पंख पसार कर
तुम्हारे
चरण स्पर्श
करना चाहता है
तुम्हें
अन्य प्रकार से प्राप्त करना

मेरी शक्ति के बाहर है
मैं
तुम्हारे संगीत में उन्मत्त होकर
अपने आप को भूल जाता हूँ
और
तुम्हें मित्र कहकर
पुकारने लगता हूँ
यह मेरी भूल है
तुम मेरे स्वामी हो

## तुम्हारी लीला

भगवन् !
जीवन का यह प्याला
किनारों तक भरा है
बताओ कहाँ घूँट भरना चाहते हो ?

हे मेरे कवि,
तुम अपनी ही सृष्टि को
मेरी आँखों से देखना चाहते हो ?

मेरे कर्णद्वार पर खड़े होकर
अपना ही संगीत
सुनना चाहते हो ?
तुम्हारी सृष्टि
मेरे मानस में
शब्द-रचना कर रही है
तुम्हारा आनंद
उसमें
संगीत भर रहा है

तुम प्रेम-विभोर होकर
अपने को अर्पित कर देते हो
और
अपने ही माधुर्य को
मुझमें भर कर
रसास्वाद करना चाहते हो

## वह किरण

भगवन् !
जो अंतर्ज्योति
मेरे अस्तित्व का शाश्वत आधार है
जो
प्रकाश और अंधकार की संध्या में
मेरे साथ रहती है
और
सूर्योदय की चकाचौंध में
छिप जाती है
भगवन् !
वही किरण
गीतों के परिधान में
तुम्हें मेरी
अंतिम भेंट है ।
शब्दों ने चाटुकारी की
किंतु
उसे प्राप्त न कर सके
अनुनय ने उत्सुक भुजाएँ
फैलायीं

किंतु
उसे न छू सका
मैं उसे हृदय में छिपाकर
घूमता रहा
चारों ओर उत्थान और पतन का
इतिहास खड़ा हो गया
वह दूर रहकर
मेरे विचार और व्यवहार
निद्रा और स्वप्न
सभी पर
नियंत्रण करती रही
लोगों ने किंवाड़ खटखटाए
और उसे देखना चाहा
किंतु निराश लौट गए
वह किसी के सामने न आई
और एकान्त में बैठी
तुम्हारी पहचान में लगी रही

## साकार और निराकार

हे सुन्दर
तुम्हीं अनन्त आकाश हो
और
तुम्हीं नीड़ !
आकाश जब नीड़ में
बन्द हो जाता है
तो तुम्हारा प्रेम
उसे नाम, रूप और गुणों का

वेश पहना देता है ।
प्रभात
हाथों में
स्वर्ण मंजूषा लेकर
पृथ्वी को मुकुट
और सौन्दर्य का हार
पहनाने आता है
और जब ग्वाले
वापस लौटते है
स्वर्णिम कलश में
पश्चिम के विश्राम सागर का
जल भर कर
संध्या आती हैं
शून्य वनस्थली में
पथहीन मार्ग से होती हुई
आत्मा की उड़ान के लिए
अनंत आकाश फैला हुआ है
निर्मल प्रभा चमक रही है
वहाँ न दिन है, और न रात
न रूप, और न आकार
शब्द भी नहीं है

## घूंघट

भगवन् !
तुम किरणों की
भुजाएं फैलाकर मेरे द्वार पर
आते हो

और
जब तक दिन
समाप्त नहीं होता
खड़े रहते हो
जब मेरे आँसू
मेरी आहें
और
मेरा क्रंदन
शुभ्र गगन में
बादल बनकर छा जाता है
तुम उन्हें अपने चरणों का
उपहार बना लेते हो
स्नेहपूर्ण
मुस्कान के साथ
धुंधले बादलों से
अपने को ढँक लेते हो
और वे
असंख्य रूपों में
तुम्हारा आवरण बन जाते हैं
कभी किसी रंग में चमकते हैं
और कभी किसी रंग में
वह पर्दा
इतना बारीक, इतना चंचल
इतना कोमल, इतना करुण
और
इतना धूमिल होता है कि

तुम भी उसके अनुराग में
फँस जाते हो

## अनुभूति

जीवन का वह स्रोत
जो
समस्त जगत को अनुप्राणित कर रहा है
वही
मेरे अग-प्रत्यंग में
स्फूर्ति भर रहा है
समस्त चराचर में
लय और ताल के साथ
उसी का नृत्य हो रहा है
वह
आनंद एवं उल्लास बनकर
रजकणों में कम्पन भरता है
पत्रों, पुष्पों
और झाड़ियों में
उसी का नर्तन है।
जन्म और मृत्यु
उसी की तरंगों का
उत्थान और पतन है।
उसी का स्पर्श
मेरे व्यक्तित्व में आलोक भर रहा है
और उसी का शाश्वत कम्पन
अहंकार बनकर
मेरे रक्त में
स्फूर्ति का संचार कर रहा है

## तुम्हारा खेल

भगवन,
मैं
अपने को महत्व देता हूँ
अपना विस्तार कर रहा हूँ
तुम्हारे शुभ्र प्रकाश को
अपनी छाया से ढक रहा हूँ
तुम यही चाहते हो
यह तुम्हारी माया है

तुम अपनी सत्ता को
स्वयं विभक्त करते हो
और अपने ही एक अंश को
असंख्य नाम और रूप दे देते हो
तुम्हारा वही अंश मेरा व्यक्तित्व है
आकाश में रहस्यपूर्ण संगीत
चल रहा है
रुदन और हास्य
भय और आशाएँ उसी के विविध रूप हैं
तरंगें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं
स्वप्न बनते और और बिखर जाते हैं
तुम्हारी पराजय ही, मेरा व्यक्तित्व है
तुमने अपने इस चित्रपट पर
रात्रि और दिवस की तूलिका द्वारा
असंख्य आकृतियाँ अंकित की
और
तुम्हारा सिंहासन उनकी ओट में

छिप गया
अनंत आश्चर्यों और रहस्यों से परिपूर्ण
असंख्य टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से परिमंडित
एक भी रेखा सीधी और सूनी नहीं है
मेरी और तुम्हारी यह यात्रा
समस्त विश्व का संचालन कर रही है
पवन उसी की ताल पर नृत्य कर रहा है
कभी तुम छिपते हो और मैं खोजता हूँ
कभी मैं छिपता हूँ और तुम खोजते हो
यही खेल अनादिकाल से चल रहा है
युगों का परिवर्तन उसी की
आंशिक अभिव्यक्ति है

## अंतर्ध्वनि

सर्व शक्तिमान परमात्मा ही मेरी अंतरात्मा है
मेरे अंतस्तल में छिपा है
और अपने कोमल स्पर्श द्वारा
मुझे अनुप्राणित कर रहा है
वही आँखों में
ममता के आँसू भरता है
और
हर्ष और विषाद के तार लेकर
हृदय वीणा को झंकृत करता है
वही स्वर्ण और रजत के रंग बिरंगे
तारों द्वारा
माया का जाल बुनता है
किंतु अपने चरणों को

तिरोहित नहीं होने देता
मैं उनका स्पर्श करके
अपने आपको भूल जाता हूँ
उन्हीं से प्रेरणा लेकर
यह मन
नाम और रूप, हर्ष और विषाद का जाल
बुनता रहता है

## आशा

भगवन्!
मैं मुक्ति चाहता हूँ
किन्तु
उसका अर्थ
संन्यास नहीं है
मुझे
कर्तव्य के
असंख्य बंधनों में
मुक्ति का सुख मिल रहा है
यह पात्र
तुम्हारी मदिरा से
किनारों तक भरा है
फिर भी तुम उंडेलते जा रहे हो
उसके विविध रंग
क्षितिज का शृंगार कर रहे हैं
सौरभ से दिशायें महक रही हैं
इस दिव्य ज्योति से
असंख्य दीप प्रज्वलित करूँगा

और
तुम्हारे ही मंदिर की वेदी सजाऊँगा।
मैं
इन्द्रियों के द्वार
बन्द नहीं करना चाहता
जब आँखें तुम्हारा रूप देखेंगी
कान तुम्हारा गीत सुनेंगे
और शरीर स्पर्श करेगा
हृदय में आनन्द की तरंगें उठने लगेंगी
भ्रम मिटेंगे
अंधेरा दूर होगा
चारों ओर प्रकाश फैलेगा
और इच्छाओं की बेल पर
नये फूल खिलेंगे।

## अनंत का संकेत

दिन पूरा हो गया
अँधेरा फैल रहा है
खाली घड़े को
पुनः भरने का समय आ गया
निर्झर का सांध्यगीत हवा में
उमड़ रहा है
और
घर से बाहर निकलने का
संकेत कर रहा है
आवागमन बंद है

गलियाँ सूनी पड़ गईं
पवन तेज हो रहा है
नदी में तरंगें उठ रही हैं
नहीं कह सकता
वापस लौटूँगा या नहीं
परिचितों से
पुनर्मिलन
होगा या नहीं
उस पार नौका में बैठा
कोई अपरिचित
बाँसुरी बजा रहा है।

## कवि के उद्गार

भगवन् !
तुम्हारे वरदानों की कहीं सीमा नहीं है
मेरी समस्त आवश्यकताएँ
पूरी हो जाती हैं,
किंतु
वे समाप्त नहीं होते
नदी
खेत और नगरों की
प्यास बुझाती हुई
निरंतर बह रही है
अन्त में
उसका शाश्वत श्रोत
तुम्हारे चरणों का प्रक्षालन करने के लिए
अनन्त सागर में

मिल जाता है।
पुष्प
मुस्कुराकर
पवन में सुगंध भरते हैं
और
तुम्हारे चरणों में अर्पित हो जाते हैं
तुम्हारी पूजा से कोई दरिद्र नहीं होता।
लोग
कवि के उद्‌गारों का
इच्छानुसार अर्थ लगाते हैं
किंतु
उनका वास्तविक अर्थ
एकमात्र तुम्हारी पूजा है

## शांति

हे मेरे जीवन-देवता
हे समस्त विश्व के स्वामी
चाहता हूँ
तुम्हारे सम्मुख
अकेला खड़ा रहूँ।
अनंत नीरवता में
आकाश मंडल के नीचे
नम्र और
मौन होकर
चाहता हूँ तुम्हारे सम्मुख
अकेला खड़ा रहूँ।
सारा जगत्

कोलाहल से भरा है।
लोग दौड़ रहे हैं
और
आपस में टकरा रहे हैं।

हे राजाओं के राजा!
चाहता हूँ
भीड़ से अलग होकर
तुम्हारे सम्मुख
अकेला
खड़ा रहूँ

## संकोच

भगवन्!
मैं
तुम्हें अपना आराध्य मानता हूँ
और दूर खड़ा रहता हूँ
प्रिय बंधु समझ कर
तुम्हारे पास आने का प्रयत्न नहीं करता
पिता मानकर
चरणों में झुकता हूँ
मित्र मानकर हाथ नहीं पकड़ता
जहाँ तुम्हारी क्रीड़ा होती है
वहाँ पहुँच कर
तुम्हारा हाथ नहीं पकड़ता।
प्रिय सखा समझ कर
छाती से नहीं लगाता
तुम समस्त बंधुओं के बंधु हो

किंतु, मैं
उनकी परवाह नहीं करता।
उनकी सारी आय
अपने पास रख लेता हूँ
वितरण नहीं करता
और इस प्रकार
तुम्हारे भाग पर अधिकार कर लेता हूँ
सुख-दुःख में दूसरों का साथी नहीं बनता।
परिणामस्वरूप
तुम्हें अपना साथी नहीं बना पाता।
जीवन का उत्सर्ग करने में
जितना हिचकिचाता हूँ
उतना ही
जीवन के अनंत सागर में
डुबकी के आनंद से वंचित रह जाता हूँ

## यह संवेदन बना रहे

भगवन्
यदि इस जीवन में तुम्हारा दर्शन
मेरे भाग्य में नहीं है
तो इतना अवश्य कीजिए
कि
मन में यह अनुभूति बनी रहे
'तुम्हारे दर्शन न कर सका'
एक क्षण भी इस बात को न भूलूँ
स्वप्न तथा जागरण, प्रत्येक अवस्था में

यह संवेदन बना रहे ।
भीड़ भड़क्के वाले विश्व के, इस
बाजार में
जब उत्तरोत्तर लाभ होने लगे
घर में संपत्तियों का
नृत्य हो रहा हो
उस समय भी यही अनुभव करूँ
कि मुझे कुछ नहीं प्राप्त हुआ
क्षण भर भी इस बात को न भूलूँ
स्वप्न तथा जागरण, प्रत्येक अवस्था में
यह संवेदन बना रहे ।
जब परिश्रम से थक जाऊँ
और हाँफता हुआ
पथ पर गिर पड़ूँ
उस समय भी मन में यही
अनुभूति बनी रहे कि यात्रा अभी शेष है
क्षण भर भी इस बात को न भूलूँ
स्वप्न तथा जागरण, प्रत्येक अवस्था में
यह संवेदन बना रहे ।
जब घर में उत्सव हो
चारों दिशाएँ
सजावट से जगमगाने लगें
बाजे बज रहे हों
हास्य उमड़ रहा हो
उस समय रह-रहकर मन में
यह कसक उठती रहे

कि तुम्हें निमंत्रित क्यों नहीं किया ?
क्षण भर भी इस बात को न भूलूं
स्वप्न तथा जागरण, प्रत्येक अवस्था में
यह संवेदन बना रहे

## रंग भर दो

भगवन् !
तुम सूर्य बनकर
समस्त विश्व को आलोकित करते हो
मैं
शरदऋतु की
छोटी सी बदलियाँ हूँ
पानी
समाप्त हो चुका है
और
अपना सफेद रंग लेकर
आकाश में
व्यर्थ ही चक्कर काट रही हूँ
अब भी कोहरा छाया है
तुम्हारी किरणों ने उसे दूर नहीं किया
और मैं
अपना पृथक अस्तित्व लेकर
व्यर्थ ही भटक रहा हूँ
तुम्हारी ज्योति में
विलीन न हो सका।
कितने महिने और वर्ष बीत गए
अंगुलियों पर

गिनते-गिनते थक गया
किंतु
वियोग का
अन्त नहीं हुआ।
यदि
इसी प्रकार
अपना मनोरंजन
करना चाहते हो
तो
उसी में प्रसन्न हूँ
मेरे इस सूनेपन को
समाप्त कर दो
सफेद बदलिया में
रंग भर दो।
आभूषण पहना दो
और
नया-श्रृंगार देकर
उसकी शोभा
चारों ओर बिखेर दो
संध्या आने पर
जब
अपना खेल समेटना चाहोगे
मैं अँधकार में विलीन हो जाऊँगा।
और
प्रातः मधुर मुस्कान लेकर
पुनः आजाऊँगा

## विश्राम

भगवन् !
उदास और
सूने दिन आए
मन में पश्चात्ताप होने लगा
कि
मैंने सारा समय
व्यर्थ ही खो दिया
किंतु
वह व्यर्थ नहीं गया
तुमने मेरे जीवन का
प्रत्येक क्षण
अपने हाथ में ले रखा है
छिपे-छिपे बीजों को अँकुर
कलियों को फूल
और फूलों को फल बना रहे हो
सोचा था
काम पूरा हो गया
और थककर
एकान्त में
सूनी शय्या पर सो गया
प्रातः उठा तो
आश्चर्य की सीमा न रही
मेरा समस्त उद्यान
सुगंधित पुष्पों से भरा था

## धर्म और पंथ

धर्म बहता हुआ स्रोत है और पंथ संचित जलाशय। ऐसा जलाशय जिसमें नए जल का आयात बंद हो गया। संचित जल में कीड़े पड़ गये और वे जल के आवश्यक तत्व मान लिए गये। पानी सूख रहा है और कीड़ों की वृद्धि हो रही है। सड़े पानी को पीकर भोली जनता अपना स्वास्थ्य नष्ट कर रही है। धर्म उन्मुक्त आकाश है और पंथ अवरुद्ध प्रकोष्ठ। धर्म वह वृक्ष है जिसमें प्रतिदिन नए-नए फूल खिलते रहते हैं और पंथ शुष्क काष्ठ।

धर्म बहता हुआ स्रोत है। किन्तु वह जीवन में बहता है, पुस्तकों में नहीं। धर्म को जितना जीवन में उतारा जायगा उतनी ही आपकी आयु लंबी होगी। सिद्धान्तों और ग्रन्थों में निबद्ध होने पर वह निर्जीव हो जाता है। हवा वही है जो श्वास-प्रश्वास के द्वारा जीवन का निर्माण करती है। रुकी हुई हवा प्राणदायी नहीं रहती। वह तो गैस बनकर मृत्यु का कारण बन जाती है। खड़े रहने वाले धर्म की भी यही स्थिति है। जो जीवन में नही उतरा वह धर्म पंथ बन जाता है और विकास के स्थान पर ह्रास की ओर ले जाता है।

## मानस-तीर्थ

**सत्यंतीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिंद्रियनिग्रहः।**
**सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थं मार्जवमेव च॥**

सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इंद्रियों पर नियंत्रण रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियों पर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है।

**दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थ मुच्यते।**
**ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥**

दान तीर्थ है, मन का संयम तीर्थ है, संतोष भी तीर्थ कहा जाता है। ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है और प्रिय वचन बोलना भी तीर्थ है।

ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ॥

ज्ञान तीर्थ है, धैर्य तीर्थ है, तप को भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थों में भी सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है अंतःकरण की आत्यंतिक शुद्धि।

न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः ॥

जल में शरीर को डुबा लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दम-रूपी तीर्थ में स्नान किया है—मन इंद्रियों को वश में रखता है, उसी ने वास्तव में स्नान किया है। जिसने मन का मल धो डाला, वही, शुद्ध है।

यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दांभिको विषयात्मकः ।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥

जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दय है, दँभी है और विषयासक्त है, वह सब तीर्थों में स्नान करके भी पापी और मलिन ही रह जाता है।

न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः ।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यंतः सुनिर्मलः ॥

केवल शरीर के मल को उतार देने से ही मनुष्य निर्मल नहीं हो जाता। मानसिक मल का परित्याग करने पर ही वह भीतर से अत्यंत निर्मल होता है।

जायंते च म्रियंते च जलेष्वेव जलौकसः ।
न च गच्छंति ते स्वर्गमविशुद्ध मनोमलाः ॥

जल में निवास करने वाले जीव जल में ही जनम लेते तथा मरते हैं, पर उनका मानसिक मल नहीं धुलता इससे वे स्वर्ग को नहीं जाते।

विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते ।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥

विषयों के प्रति अत्यंत आशक्ति को ही मानसिक मल कहा जाता है। और उन विषयों में वैराग्य होना ही निर्मलता कहलाती है।

**चित्तमंतर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति।**
**शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभांडमिवाशुचिः॥**

चित्त के भीतर यदि दोष भरा है तो वह तीर्थ स्थान से शुद्ध नहीं होता। जैसे मदिरा से भरे हुए घड़े को ऊपर से जल द्वारा सैंकड़ों बार धोया जाय तो भी वह पवित्र नहीं होता।

**दानमिज्यातपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा।**
**सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥**

भीतर का भाव शुद्ध न हो तो दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन, शास्त्र-श्रवण और स्वाध्याय ये सभी अतीर्थ हो जाते हैं।

**निगृहीतेंद्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः।**
**तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥**

जिसने इंद्रिय समूह को वश में कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ भी निवास करता है, वहीं उसके लिए कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं।

## बाह्य-तीर्थ

**१—भक्त तीर्थ—**

**भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।**
**तीर्थीकुर्वंति तीर्थानि स्वांतःस्थेन गदाभृता॥**

(श्रीमद्भागवत १।१३।१०

युधिष्ठिर भक्तश्रेष्ठ विदुर से कहते हैं—'आप जैसे भागवत—भगवान् के प्रिय भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं। आप लोग हृदय में विराजमान भगवान् के द्वारा सामान्य तीर्थों को महातीर्थ बना देते हैं।

## २—गुरु-तीर्थ

दिवा प्रकाशकः सूर्यः शशी रात्रौ प्रकाशकः ।
गृहप्रकाशको दीपस्तमोनाशकरः सदा ॥
रात्रौ दिवा गृहस्यांते गुरुः शिष्यं सदैव हि ।
अज्ञानाख्यं तमस्तस्य गुरुः सर्वं प्रणाशयेत् ॥
तस्माद् गुरुः परं तीर्थं शिष्याणामवनीपते ।

(पद्मपुराण, भूमिखंड ८५ । १२-१४)

सूर्य दिन में प्रकाश करता है, चन्द्रमा रात्रि में चमकता है और दीपक घर के अंधेरे का नाश करता है, परन्तु गुरु शिष्य के हृदय में सदा ही प्रकाश फैलाता रहता है । वह शिष्य के अज्ञान रूप अंधकार का सर्वथा नाश करता है । अतएव राजन् ! शिष्यों के लिए गुरु ही परमतीर्थ है ।

## ३—माता-तीर्थ ४—पिता-तीर्थ

नास्ति मातृसमं तीर्थं पुत्राणां च पितुः समम् ।
तारणाय हितायैव इहैव च परत्र च ॥
वेदैरपि च किं विप्र ! पिता येन न पूजितः ।
माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः ॥
एष पुत्रस्य वै धर्मस्तथा तीर्थं नरेष्विह ।
एष पुत्रस्य वै मोक्षस्तथा जन्मफलं शुभम् ॥

(पद्मपुराण, भूमिखंड ६३ । १४, १६, २१)

पुत्रों के इसलोक और परलोक के कल्याण के लिए माता-पिता के समान कोई तीर्थ नहीं है । माता-पिता का जिसने पूजन नहीं किया, उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है । पुत्र के लिए माता-पिता का पूजन ही धर्म है वही तीर्थ-यात्रा है, वही मोक्ष है, और वही जन्म का शुभ फल ।

## ५—पति-तीर्थ

सव्यं पादं स्वभर्तुश्च प्रयागं विद्धि सत्तम !
वामं च पुष्करं तस्य या नारी परिकल्पयेत् ॥

तस्य पादोदकस्नानात् तत्पुण्यं परिजायते ।
प्रयागपुष्करसमं स्नानं स्त्रीणां न संशयः ॥
सर्वतीर्थमयो भर्ता सर्वपुण्यमयः पतिः ।
(पद्मपुराण ४१ । १२-१४)

जो स्त्री अपने पति के दाहिने चरण को प्रयाग और बाँयें चरण को पुष्कर समझ कर पति के चरणोदक से स्नान करती है, उसे उन तीर्थों के स्नान का पुण्य होता है। ऐसा स्नान प्रयाग तथा पुष्कर में स्नान करने के सदृश है। इसमें कोई संदेह नहीं। पति सर्वतीर्थमय और सर्व-पुण्यमय है।

## ६—पत्नी-तीर्थ

सदाचारपरा भव्या धर्म साधनतत्परा ।
पतिव्रतरता नित्यं सर्वदा ज्ञानवत्सला ॥
एवंगुणा भवेद् भार्या यस्य पुण्या महासती ।
तस्य गेहे सदा देवांस्तिष्ठंति च महौजसः ॥
पितरो गेहमध्यस्थाः श्रेयो वांछंति तस्य च ।
गंगाद्याः सरितः पुण्याः सागरास्तत्र नान्यथा ॥
पुण्या सती यस्य गेहे वर्तते सत्यतत्परा ।
तत्र यज्ञाश्च गावश्च ऋषयस्तत्र नान्यथा ॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यानि विविधानि च ।
नास्ति भार्यासमं तीर्थं नास्ति भार्यासमं सुखम्
नास्ति भार्यासमं पुण्यं तारणाय हिताय च ॥

जो सब प्रकार से सदाचार का पालन करने वाली, प्रशंसा के योग्य आचरण वाली, धर्म साधन में लगी हुई, सदा पातिव्रत्य का पालन करने वाली तथा ज्ञान की नित्य अनुरागिणी है, ऐसी गुणवती पुन्यमयी महा सती जिसके घर में पत्नी हो, उसके घर में सदा देवता निवास करते हैं। पितर भी उसके घर में रहकर सदा उसके कल्याण की कामना करते हैं।

जिसके घर में ऐसी सत्यपरायण पवित्र हृदया सती रहती है, उस घर में गंगा आदि पवित्र नदियाँ, समुद्र, यज्ञ, गौएँ, ऋषिगण तथा संपूर्ण विविध पवित्र तीर्थ रहते हैं। कल्याण तथा उद्धार के लिए भार्या के समान कोई तीर्थ नहीं है, भार्या के समान सुख नहीं है और भार्या के समान पुन्य नहीं है।

सप्तम अध्याय

# ईश्वर प्रार्थना

## प्रातः स्मरण

### ब्रह्मस्तोत्र

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरद् आत्म-तत्वं
सत्-चित्-सुखं परमहंस-गतिं तुरीयम् ।
यत् स्वप्न-जागर-सुषुप्तमवैति नित्यम्
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न तु भूतसंघः ॥१॥

प्रातर्भजामि मनसा वचसामगम्यम्
वाचो विभांति निखिलागदनुग्रहेण ।
यन्नेतिनेति वचनैर्निगमा अवोचुस्
तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥२॥

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णम्
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदंजगदशेषमशेषमूर्तौ
रज्ज्वां भुजंगम इव प्रतिभासितं वं ॥३॥

श्लोकत्रयमिद पुण्यं, लोकत्रयविभूषणम् ।
प्रातः काले पठेत् यस्तु स गच्छेद्द परम् पदम् ॥

मैं प्रातः हृदय में प्रस्फुरित आत्मतत्त्व का स्मरण करता हूँ । जो सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है, जिसे परमहंस ही जानते हैं, जो तुरीय, है, जाग्रति, स्वप्न तथा निद्रा तीनों अवस्थाओं का ज्ञाता तथा जो शुद्ध ब्रह्म है । मैं वही हूँ पंच महाभूतों से बना देह नहीं हूँ ।

प्रातः उस ब्रह्म का स्मरण करता हूँ जो मन और वाणी का अगोचर है, जिससे चारों प्रकार की वाणी प्रकट होती है, वेद भी जिसका वर्णन नेति-नेति के रूप में करते हैं और जिसे ऋषियों ने देवाधिदेव, 'अजन्मा' 'अविनाशी' और 'सब का आदि' कहा है।

मैं प्रातः उस सनातन पद को नमन करता हूँ, जो अन्धकार से परे सूर्य के समान तेजस्वी है। जा पूर्ण, पुरुषोत्तम तथा अनादि है जिसके अनंत स्वरूप में यह सारा जगत् उसी तरह दिखाई देता है, जिस तरह रस्सी में साँप।

ये तीनों श्लोक अत्यन्त पवित्र तथा समस्त जगत की शोभा है। जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः उठकर इनका पाठ करता है, उसे परमपद प्राप्त होता है।

**गणेश स्तोत्र**

प्रातः स्मरामि गणनाथमनाथबंधुं
सिंदूरपूर्णपरिशोभितगंडयुग्मम् ।
उद्दण्डविघ्नपरिखंडनचंडदंड
माखंडलादिसुरनायकवृंदवंद्यम् ॥१॥
प्रातर्नमामि चतुराननवंद्यमान—
मिच्छानुकूलमखिलं च वरं ददानम् ।
तं तुंदिलं द्विरसनाधिपयज्ञसूत्रं
पुत्रं विलासचतुरं शिवयोः शिवाय ॥२॥
प्रातर्भजाम्यभयदं खलु भक्तशोक—
दावानलं गणिविभुं वरकुंजरास्यम् ।
अज्ञानकाननविनाशनहव्यवाह—
मुत्साहवर्धनमहं सुतमीश्वरस्य ॥३॥
श्लोकत्रयमिदं पुण्यं सदा साम्राज्यदायकम् ।
प्रातरुत्थाय सततं प्रपठेत् प्रयतः पुमान् ॥४॥

प्रातः होते ही मैं दीनबन्धु भगवान गणेश का स्मरण करता हूँ जिनके गंडस्थल पर सिंदूर शोभा दे रहा है। जो भयंकर से भयंकर विघ्नों को दूर करते हैं तथा इन्द्र आदि देवताओं द्वारा सुपूजित हैं।

प्रातः होते ही आत्म कल्याण के लिए ब्रह्मा द्वारा वंदित इच्छानुसार वर देने वाले, तुंदिल, सर्प का यज्ञोपवीत धारणा किए हुए, शिव और पार्वती के क्रीड़ाकुशल पुत्र का भजन करता हूँ।

प्रातः होते ही मैं सबको अभय देने वाले, भक्तों का शोक दूर करने वाले, गणनायक, गजमुख, अज्ञानरूपी जंगल को जलाने वाले तथा उत्साह बढ़ाने वाले भगवान शिव के पुत्र गणेश को नमस्कार करता हूँ।

ये तीन श्लोक परम-पवित्र और साम्राज्य अर्थात् प्रत्येक कार्य में सफलता प्रदान करते हैं। प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन प्रातः उठकर पूरे मनोयोग के साथ इनका पाठ करना चाहिए।

**गणेश द्वादशनाम**

**गणपतिर्विघ्नराजो लंबतुंडो गजाननः।**
**द्वैमातुरश्च हेरंब एकदंतो गणाधिप :॥**
**विनायकश्चारुकर्णः पशुपालो भवात्मजः।**
**द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।**
**विश्वं तस्य भवेद् वश्यं न च विघ्नं भवेत् क्वचित्॥**

प्रस्तुत प्रार्थना में गणेश के १२ नाम गिनाए गए हैं। फलश्रुति में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः उठकर इन बारह नामों का पाठ करता है, समस्त विश्व उसके वश में हो जाता है, किसी कार्य में विघ्न नहीं आता। वे नाम हैं—गणिपति, विघ्नराज, लंबतुंड, गजानन, द्वैमातुर, हेरंब, एकदंत, गणाधिप, विनायक, चारुकर्ण, पशुपाल तथा भवात्मज।

**वक्र-तुंड! महाकाय! सूर्य-कोटि-सम-प्रभ!**
**निर्विघ्नं कुरू मे देव! शुभकार्येषु सर्वदा॥**

हे वक्र-तुंड ( टेड़ी सूंड़ वाले ) हे महाकाय, तथा करोंड़ों सूर्यों के समान देदीप्यमान मेरे प्रत्येक अनुष्ठान को निर्विघ्न करो ।

## सूर्य स्तोत्र

प्रातः स्मरामि खलु तत् सवितुर्वरेण्यं
रूपं हि मंडलमृचोऽथ तनुर्यजूंषि ।
सामानि यस्य किरणाः प्रभवादि हेतुं
ब्रह्माहरात्मकमलक्ष्यमचिंत्यरूपम् ॥१॥
प्रातर्नमामि तरणिं तनुवाङ्मनोभि
र्ब्रह्मेंद्रपूर्वक सुरं नुतमर्चितं च ।
वृष्टिप्रमोचनविनिग्रहहेतुभूतं
त्रैलोक्यपालनपरं त्रिगुणात्मकं च ॥२॥
प्रातर्भजामि सवितारमनंतशक्ति
पापौघशत्रुभयरोगहरं परं च ।
तं सर्वलोककलनात्मककालमूर्ति
गोकंठबंधनविमोचनमादिदेवम् ॥३॥
श्लोकत्रयमिदं भानोः प्रातः प्रातः पठेत्तु यः ।
स सर्वव्याधिनिर्मुक्तः परं सुखमवाप्नुयात् ॥४॥

प्रातः होते ही मैं सूर्य के वरणीय रूप का ध्यान करता हूँ । जिसका मंडल ऋग्वेद है, शरीर यजुर्वेद, और किरणें सामवेद हैं । जो विश्व की उत्पति, स्थिति और प्रलय का कारण है । वही ब्रह्मा है और वही शंकर । जिसका रूप आँख और मन से परे है ।

प्रातः होते ही मैं शरीर, वाणी और मन तीनों के द्वारा भगवान सूर्य को नमस्कार करता हूँ । जिसे ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता प्रणाम और पूजा कर रहे हैं । जो बादलों को बरसाता है और रोकता भी है । तीनों लोकों का पालक और त्रिगुणात्मक है ।

प्रातः होते ही मैं अनन्तशक्ति सविता का ध्यान करता हूँ। जो पाप, शत्रुभय तथा रोगों को दूर करता है। सबसे परे है। जो काल के रूप में सारे विश्व का संचालन करता है। जो आदि देव किरण रूपी गउओं के गले की रस्सी को खोलता है।

जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः उठकर भगवान सूर्य के इन तीन श्लोकों को पढ़ता है, वह समस्त रोगों से मुक्त होकर परम सुख प्राप्त करता है।

## सूर्य द्वादश नाम स्तोत्र

आदित्यः प्रथमं नाम द्वितीयं तु दिवाकरः।
तृतीयं भास्करः प्रोक्तं चतुर्थं च प्रभाकरः॥
पंचमं च सहस्रांशुः षष्ठं चैव त्रिलोचनः।
सप्तमं हरिदश्वश्च अष्टमं च विभावसुः॥
नवमं दिनकृत् प्रोक्तं दशमं द्वादशात्मकः।
एकादशं त्रयीमूर्तिर्द्वादशं सूर्य एव च॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातः काले पठेन्नरः।
दुःस्वप्ननाशनं सद्यः सर्वसिद्धिः प्रजायते॥

सूर्य के निम्नलिखित १२ नाम हैं—१ आदित्य, २ दिवाकर, ३ भास्कर, ४ प्रभाकर, ५ सहस्रांशु, ६ त्रिलोचन, ७ हरिदश्व, ८ विभावसु, ९ दिनकर, १० द्वादशात्मक, ११ त्रयीमर्ति, और १२ सूर्य। प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः उठकर इन बारह नामों का पाठ करना चाहिए। इससे दुःस्वप्न नष्ट होते हैं और समस्त सफलताएं प्राप्त होती हैं।

## विष्णु स्तोत्र

प्रातःस्मरामि भवभीतिमहार्तिशान्त्यै
नारायणं गरूडवाहनमब्जनाभम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं
चक्रायुधं तरणवारिजपत्रनेत्रम् ॥१॥

प्रातर्नमामि मनसा वचसा च मूर्ध्ना
पादारविंदयुगलं परमस्य पुंसः ।
नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य
पारायणप्रवणविप्रपरायणस्य ॥२॥
प्रातर्भजामि भजतामभयंकरं तं
प्राक्सर्वजन्मकृतपापभयापहत्यै ।
यो ग्राहवक्त्रपतिताङ्घ्रिगजेन्द्रघोर—
शोकप्रणाशनकरो धृतशंखचक्रः ॥३॥
श्लोकत्रयमिदं पुण्यं प्रातः प्रातः पठेन्नरः ।
लोकत्रयगुरुस्तस्मै दद्यादात्मपदं हरिः ॥४॥

मैं सांसारिक भय तथा दुःखों की शांति के लिए नारायण का स्मरण करता हूँ। जो गरुड़ पर सवार हैं, नाभि में कमल है। हाथ में चक्र है, और कमल के समान लोचन हैं। जिन्होंने हाथी को मगर के फंदे से छुड़ाया।

प्रातः होते ही मैं मन, वाणी और मस्तक से परम पुरुष नारायण के चरण कमलों में वन्दन करता हूँ। जो नरक रूपी समुद्र से पार उतारते हैं और स्मरण करने वाले विप्रों की एकमात्र शरण हैं।

प्रातः होते ही मैं पूर्व जन्मकृत समस्त पापों का नाश करने के लिए भक्तों को अभय देने वाले शंख चक्रधारी भगवान् नारायण का स्मरण करता हूँ। जिन्होंने ग्राह के मुख में पड़े हुए गजेन्द्र को मुक्त किया।

जो मनुष्य इन पुण्य श्लोकों को प्रतिदिन प्रातः उठकर पढ़ता है। तीनों लोकों के स्वामी भगगान विष्णु उसे बैकुण्ठ प्रदान करते है।

**विष्णु द्वादश नाम**

अनिरूद्धं गजं ग्राहं वासुदेवं महाद्युतिम् ।
संकर्षणं महात्मानं प्रद्युम्नं च तथैव हि ॥

मत्स्यं कूर्मं च वाराहं वामनं तार्क्ष्यमेव च।
नारसिंहं च नागेन्द्रं सृष्टिसंहारकारकम ॥
विश्वरूपं हृषीकेशं गोविंदं मधूसूदनम् ।
त्रिदशैर्वंदितं देवं महाशक्तिमनुत्तमम् ॥
एतान् हि प्रातरुत्थाय संस्मरिष्यति ये नराः ।
सर्व पापैः प्रमुच्यते विष्णुलोकमवाप्नुयुः ॥

जो व्यक्ति भगवान विष्णु के बारह नामों का प्रतिदिन उठकर पाठ करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है और विष्णुलोक को प्राप्त करता है। वे इस प्रकार हैं – अनिरुद्ध, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, ताक्ष्र्य, नरसिंह, नागेंद्र, हृषीकेश, गोविंद और मधुसूदन।

## शिव स्तोत्र

प्रातःस्मरामि भवभीतिहरं सुरेशं
गंगाधरं वृषभवाहनमंबिकेशम् ।
खट्वांगशूलवरदाभयहस्तमीशं
संसार रोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥१॥

प्रातर्नमामि गिरिशं गिरजार्धदेहं
सर्गस्थितिप्रलयकारणमादिदेवम्
विश्वेश्वरं विजितविश्वमनोऽभिरामं
संसाररोगहरमौषधमद्वित्तीयम् ॥२॥

प्रातर्भजामि शिवमेकमनंतमाद्यं
वेदांतवेद्यमनघं पुरुषं महांतम् ।
नामादिभेदरहितं षडभावशून्यं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥ ३ ॥

प्रातः समुत्थाय शिवं विचिन्त्य
श्लोकत्रयं येऽनुदिनं पठंति ।
ते दुःखजालं बहुजन्मसंचितं
हित्वा पदं यांति तदैव शंभोः ।।४।।

प्रातः होते ही में संसार का भय दूर करने वाले देवाधिदेव उमापति महादेव का स्मरण करता हूँ । जिनके सिर पर गँगा है, वृषभ की सवारी है; हाथों में खट्वांग और त्रिशूल है । एक हाथ से अभयदान कर रहे हैं । जो संसार रूपी रोग को दूर करने के लिए अनुपम औषधि है ।

प्रातः होते ही मैं गिरीश को नमस्कार करता हूँ । जिनका आधा शरीर पार्वती का है । जो सबकी आदि हैं, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं, जो समस्त विश्व के स्वामी हैं, जिनका मन समस्त विश्व को जीते हुए है । जो संसार रूपी रोग को दूर करने के लिए अनुपम औषध है ।

प्रातः होते ही भगवान शिव का ध्यान करता हूँ जो अद्वितीय, अनंत तथा समस्त विश्व की आदि हैं, जो वेदांतवेद्य, निर्दोष तथा महान पुरुष हैं । जो नाम तथा रूप से परे हैं, सर्वथा पूर्ण हैं, जहाँ किसी प्रकार का अभाव नहीं है । जो संसार रूपी रोग को दूर करने के लिए अनुपम औषध है ।

जो लोग प्रतिदिन प्रातः उठकर शिव का ध्यान करते हैं और उपर्युक्त तीन श्लोकों का पाठ करते हैं वे जन्मजन्मांतरों में संचित दुःखजाल को समाप्त करके भगवान शंकर के पद को प्राप्त कर लेते हैं ।

## चंडी स्तोत्र

प्रातः स्मरामि शरदिंदुकरोज्वलाभां
सद्रत्नवन्मकरकुंडलहारभूषाम् ।

दिव्यायुधोर्जित सुनील सहस्त्रहस्तां
रक्तोत्पलाभचरणां भवतीं परेशाम् ॥१॥
प्रातर्नमामि महिषासुरचंडमुंड—
शुंभासुरप्रमुखदैत्यविनाश दक्षाम्।
ब्रह्मेंद्र रुद्र मुनिमोहनशीललीलां
चंडीं समस्तसुरमूर्तिमनेकरूपाम् ॥२॥
प्रातर्भजामि भजतामभिलाषदात्रीं
धात्रीं समस्तजगतां दुरितापहर्त्रीम्।
संसारबंधनविमोचनहेतुभूतां
मायां परां समधिगम्यपरस्य विष्णोः ॥३॥
श्लोकत्रयमिदं देव्याश्चंडिकायाः पठेन्नरः।
सर्वान् कामानवाप्नोति विष्णुलोके महीयते ॥४॥

प्रातः होते ही मैं शरद्चन्द्र के समान उज्ज्वल कांति वाले, रत्न-खचित, मकर, कुंडल तथा हार पहने हुए, हजारों हाथों में दिव्य शस्त्र धारण किए हुए, लाल कमल के समान सुन्दर चरणों वाली परमेश्वरी भगवती दुर्गा का स्मरण करता हूँ।

प्रातः होते ही मैं महिषासुर, चंड, मुंड, शुंभ आदि असुरों का नाश करने वाली अपनी लीला द्वारा ब्रह्मा, इंद्र, रुद्र, तथा मुनियों को मोहित करने वाली समस्त देवरूपा चंडी का स्मरण करता हूँ,

प्रातः होते ही मैं भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने वाली, समस्त जगत् का पालन करने वाली, पापों का नाश करने वाली, संसार बंधन को काटने वालो भगवती चंडी का भजन करता हूँ जो भगवान विष्णु की ही महामाया है

जो व्यक्ति चंडी के इन तीन श्लोकों को पढता है, उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं और मरकर वह बिष्णुलोक को प्राप्त करता है।

ये तीन श्लोक साम्राज्य देने वाले हैं, प्रत्येक मनुष्य को प्रातः उठकर एकाग्रता पूर्वक इनका पाठ करना चाहिए।

## स्तुतियाँ

### परब्रह्म स्तुति

**तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।**
**पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥**

हम उन प्रकाशस्वरूप, स्तुति करने योग्य, अखिल लोक पति भगवान् को जान गए हैं जो ईश्वरों के भी परम महेश्वर हैं, जो देवताओं के भी परमाराध्य देव हैं, जो स्वामियो के भी स्वामी हैं और जो महान् से भी अति महान् हैं।

**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**
**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥**

उस परमेश्वर का न तो कोई कार्य है, न कारण ही है; न तो कोई उसके समान है, न बढ़कर ही है। उसकी परमाशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, क्यों कि बह स्वाभाविक अर्थात् अनादिसिद्ध है और उस परमेश्वर के ज्ञान और बल के अनुसार उसकी क्रिया होती है।

**न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।**
**स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥**

उस परमेश्वर का इस संसार में न तो कोई पति है, न नियामक है, और न कोई कारण अथवा अनुमापक ही है। वह स्वयं ही सबका कारण है, वह इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं का भी अधिष्ठाता है, उसका न तो कोई उत्पादक है और न स्वामी ही है।

**यस्तूर्णनाभ इव तंतुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।**
**देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्॥**

जिस प्रकार मकड़ी अपने ही शरीर में से निकले हुए तंतुओं से अपने आपको वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार वह अद्वितीय परमात्मा अपनी ही प्रकृति से इस सृष्टि को उत्पन्न करके उसके द्वारा अपने को आवृत कर लेते हैं। वही परमेश्वर हमारा उस अक्षर ब्रह्म के साथ योग करें।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायो ऽस्ति कश्चित्॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक—
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वम्॥
तमीशान वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शांतिमत्यन्तमेति॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

एक ही परमात्मा सब प्राणियों में छिपा है। सर्वव्यापी है। वही सब प्राणियों की अंतरात्मा है। समस्त कर्मों का अधिपति है, समस्त प्राणियों का अधिष्ठान है। सब का साक्षी, चेतन, शुद्ध एवं त्रिगुणातीत है।

जिससे न कुछ पर है, न अपर, जो अणु से भी अणु हैं और महान से भी महान्। जो वृक्ष के समान आकाश में स्थिर है, समस्त विश्व उसी पुरुष से पूर्ण है।

जो परमेश्वर प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिसमें समस्त विश्व स्थिर है और जिसमें लीन हो जाता है। सबके स्वामी वर देने वाले तथा स्तुत्य देव का साक्षात्कार होने पर जीव परमशांति प्राप्त करता है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्, ब्रह्म
पश्चाद्, ब्रह्म दक्षिणतश् चोत्तरेण ।
अधश् चोर्ध्वं च प्रसृतं, ब्रह्मैवेदम्
विश्वं इदं वरिष्ठम् ।।

यह अविनाशी ब्रह्म ही हमारे आगे, पीछे, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर चारों तरफ फैला हुआ है । यह ब्रह्म ही विश्व है और सबसे श्रेष्ठ है ।

## आत्मा का साक्षात्कार

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अंतःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः ।।
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिंगात् ।
एतैर् उपायैर् यतते यस्तु विद्वांस्
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ।।
यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपेति दिव्यम् ।।
यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह ।
आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।।

एतं हि वाव न तपति 'किं अहं साधुनाकरवम् ।
किमहं पापमकरवम्' इति ।।

यह आत्मा सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है । निष्पाप एवं शुद्ध मन वाले निष्कलंक और प्रकाशरूप आत्मा को प्रयत्न द्वारा अपने अन्तकरण में देखते हैं ।

यह आत्मा वेदों के अध्ययन से नहीं मिलता, न बुद्धि की बारीकी और शास्त्र सुनने से । इसके विपरीत स्वयं आत्मा जिस व्यक्ति का वरण करता है, उसी को इसकी प्राप्ति होती है ।

यह आत्मा बलहीन को नही मिलता । आलसी और मनमाना तप करने वाले को भी नहीं । जो ज्ञानी समझ पूर्वक इन सब उपायों को लेकर प्रयत्न करता है उसी की आत्मा ब्रह्म में प्रवेश करती है ।

जिस प्रकार नदियाँ अपना नाम और रूप छोड़कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मुक्त होने पर नाम-रूप के घेरे तोड़कर दिव्य पुरुष में लीन हो जाता है ।

जहाँ मन और वाणी बिना पहूँचे वापिस लौट आते हैं, जिसे उस ब्रह्मानंद का अनुभव हो जाता है, वह भयमुक्त हो जाता है ।

उसे कभी पश्चात्ताप नही होता कि मैंने अमुक अच्छा कार्य नहीं किया अथवा अमुक पाप किया ।

स्वकर्म-फल-निर्दिष्टां यां यां योनिं ब्रजाम्यहम् ।
तस्यां तस्यां हृषीकेश ! त्वयि भक्तिदृढाऽस्तु मे ।।

ये ये हताः चक्रधरेण राजन् !
त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन ।
ते ते गता विष्णुपुरीं प्रयाताः
क्रोधीऽपि देवस्य वरेण तुल्यः ।।

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः ।
येषां इंदीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ।।

साहानिस्तन्महच्छिद्रं सा चांधजडमूढ़ता ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिंतयेत् ।।

भोजनाच्छादने चिंतां वृथा कुर्वंति वैष्णवा : ।
योऽसौ विश्वंभरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते ।।

श्रीवल्लभेति वरदेति दयापरेति
भक्तप्रियेति भवलुंठन कोविदेति ।
नाथेति नागशयनेति जगन्निवासे—
त्यालापिनं प्रतिदिनं कुरुमां मुकुंद !

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकांतक ! 'प्रकामम्' ।
अवधीरित शारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिंतयामि ।।

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुत-दुहितृ-कलत्र-त्राण भारावृतानाम् ।
विषम विषयतोये मज्जतां अप्लवानां
भवति शरणंएको विष्णु पोतोनराणाम् ।।

बद्धेनांजलिना नतेन शिरसा
गात्रै सरोमोद्गमैः ।
कंठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णवाष्पाबुंना ।
नित्यं त्वच्चरणारविंद-युगल—
ध्यानमृतास्वादिनाम् ।
अस्माकं सरसीरुहाक्ष ! सततं संपद्यतां
जीवितम् ।।

हे हृषीकेष, कर्मो के फलस्वरूप मेरा जन्म किसी भी योनि में हो, सर्वत्र तुम्हारे प्रति मेरी भक्ति बनी रहे ।

हे राजन् ! त्रिलोकपति, चक्रधारी, भगवान जनार्दन के हाथों से जो मारे गये सभी को बैकुण्ठ मिला। भगवान का क्रोध भी वरदान बन जाता है।

जिनके हृदय में नील कमल के समान श्याम कमलापति भगवान जनार्दन विराजमान हैं उन्हीं को सम्पत्ति प्राप्त होती हैं और उन्हीं की जीत होती है।

यदि दो घड़ी अथवा कुछ क्षणों के लिए भी भगवान का चिंतन नहीं किया तो उसे सबसे बड़ी हानि तथा सबसे बड़ी भूल समझना चाहिए। यहीं सबसे बड़ा अन्धापन, जड़ता तथा मूर्खता है।

भगवान के भक्त व्यर्थ ही अन्न और वस्त्र की चिन्ता करते हैं। जो भगवान सारी दुनिया को पालता है, वह क्या अपने भक्त की उपेक्षा करेगा ?

हे मुकुन्द, ऐसी कृपा कीजिए कि मैं दिन-रात, "हे श्री वल्लभ, हे वरद, हे दयानिधि, हे भक्त प्रिय, हे जन्म-मरण का नाश करने वाले हे नाथ, हे नागशयन, हे जगन्निवास," आदि रटता ही रहूँ।

हे नरकासुर का नाश करने वाले, मैं स्वर्ग पर रहूँ, पृथ्वी पर रहूँ अथवा नरक में। इतना करना कि मरते समय में शारद-कमल से भी सुन्दर तुम्हारे चरणों का चिंतन करता रहूँ।

भव सागर में निमग्न, सुख-दुःखादि आघातों से पीड़ित, सन्तान-पत्नी आदि की रक्षा के बोझ से दबे हुए विषम-विषय-सागर में गोते-खाने वाले मनुष्यों के लिए विष्णु रूपी नाव ही एक शरण है।

हे कमल नयन, हमारा सारा जीवन तुम्हारे सामने दोनों हाथ जोड़कर, सिर नवाकर, पुलकित होकर, गद्-गद् कंठ से, आँख में आँसू भरकर चरण कमल युग का ध्यान करते हुए बीते।

## अभीष्ट वर प्राप्ति के लिए प्रार्थना

**नमो विश्वस्य पतये महतां पतये नमः।**
**नमः सहस्रशिरसे सहस्रमुखबाहवे॥**

सहस्रनेत्रपादाय नमोऽसंख्येयकर्मणे ।
भक्तानुकंपिने नित्यं सिद्दयतां नो वरः प्रभो ॥
(महा० द्रोण० ८०।६३-६४)

समस्त विश्व के स्वामी को नमस्कार है। महान से भी महान परमात्मा को नमस्कार हैं। जिसके अनंत सिर, अनंत मुख, और अनंत भुजाएं हैं, अनंत नेत्र तथा अनंत पैर हैं जो अनंत कर्मों के अधिष्ठता और भक्तों पर अनुकम्पा करते हैं। हे प्रभो हमारी मनोकामना पूर्ण हो।

हे विश्व के स्वामी तुम्हें नमस्कार है। हे महान से भी महान तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारे हजारों सिर हैं, हजारों मुख, हजारों भुजाएं हजारों नेत्र, और हजारों पैर। तुम्हारे कर्मों की कोई संख्या नहीं है, तुम्हें नमस्कार है। भक्तों पर अनुकम्पा करने वाले तुन्हें नमस्कार है। हे प्रभो हमारे मन की कामना पूरी कीजिए।

## द्वितीय खंड

# ध्यान के सिद्धान्त

( १ )

**तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद योगी भवार्जुन ॥**

हे अर्जुन योगी तपस्वियों से बड़ा होता है। ज्ञानियों और कर्मियों से भी बड़ा होता है। इसलिए योगी बनो।

( २ )

**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।**
**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते ॥**

जिस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर अन्य कोई लाभ उससे बड़ा नहीं दिखाई देता। जहाँ स्थिर होने पर बड़े से बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर सकता।

—भगवद्गीता

अष्टम अध्याय

# राजयोग

## योग शब्द का अर्थ

भारतीय-दर्शनों ने हमारे व्यक्तित्व का विश्लेषण चार तत्त्वों में किया है। सर्व प्रथम आत्मा या पुरुष है, इसी को सच्चिदानन्द, परमात्मा ब्रह्म, परंशिव, चिच्छक्ति, आलयविज्ञान, शून्य आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। आत्मा ज्ञान, सुख और शक्ति का पुंज है, किंतु जब उसका सम्बन्ध बाह्य-जगत के साथ होने लगता है तो वे शक्तियाँ संकुचित या अभिभूत हो जाती हैं। यह दूसरा तत्त्व है। सम्बन्ध जितना निविड़ होगा, उतनी ही शक्तियां अधिक दबी रहेंगी। इसी को सांख्य-दर्शन में महत्, वेदान्त में अविद्या, बौद्ध दर्शन में तृष्णा, जैन दर्शन में मोहनीयकर्म, तंत्रसाधना में कंचुक तथा शैवसाधना में पाश, मल आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। इसी के फलस्वरूप परमात्मा या ब्रह्म जीवात्मा बन जाता है। परंशिव पशु हो जाता है तथा शुद्धपुरुष प्रकृति के बन्धन में फंस जाता है। इसे लिंग, करण या कार्माण शरीर कहा जाता है। वर्तमान मनोविज्ञान की परिभाषा में इसे अन्तर्मन (Subconciencous mind) कहा जायगा। तीसरा सूक्ष्म शरीर है। इसमें सत्रह तत्व हैं—पांच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच प्राण, मन और अहंकार। जानना, इच्छा करना और भले-बुरे की अनुभूति मन का ही काम है। सत्रहवां तत्त्व अहंकार है। जिसके द्वारा जीव अपने व्यक्तित्त्व को महत्त्व देने लगता है और उसकी रक्षा एवं विकास के लिए चिंतित रहता है। वर्तमान मनोविज्ञान की दृष्टि से भाव जगत का संचालन इस शरीर के द्वारा होता है। चौथा तत्त्व स्थूल शरीर है। यह हड्डी, मांस, रुधिर

आदि सात धातुओं का बना है इसके अतिरिक्त धन सम्पत्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा, परिवार आदि बाह्यतत्त्व भी हमारे व्यक्तित्व के घटक हैं। उनकी प्राप्ति के लिए भी संघर्ष चलता रहता है, कहीं सफलता मिलती है और कहीं विफलता। प्रत्येक घटना हमारे मन पर अच्छे या बुरे संस्कार छोड़ जाती है। योग की विविध पद्धतियाँ हमारे व्यक्तित्व के विविध अंगों से सम्बन्ध रखती है। हठयोग मुख्यतया शरीर का उपचार करता है। उससे वातपित्तादि के विकार दूर होते हैं। जैन योग रागद्वेष के निरोध पर बल देता है, जो कि मन के इच्छा रूप विकार हैं। साधना के रूप में वहाँ समता का विधान है। अद्वैत वेदांत, सांख्य आदि दर्शन अज्ञान को दूर करने पर बल देते हैं। बौद्ध दर्शन में तृष्णा के निरोध पर बल दिया गया हैं जो मन की राग रूप परिणति है। इसी के लिए शून्य की उपासना बताई गई है।

स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रियों का, इन्द्रियों की अपेक्षा मन का, मन की अपेक्षा बुद्धि का और बुद्धि की अपेक्षा आत्मा का अधिक महत्व है। साधना का मुख्य लक्ष्य आत्म शुद्धि या आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास है। फिर भी जब तक भौतिक अस्तित्व बना हुआ है, इनका परस्पर प्रभाव पड़ता रहता है। अतः आभ्यन्तर शुद्धि के लिए बाह्य शुद्धि को आवश्यक माना गया है। रोगी, अत्यन्त स्थूल, अत्यन्त दुर्बल या अन्य शारीरिक दोषों वाला व्यक्ति साधना का अधिकारी नहीं होता। जिस व्यक्ति में अत्यधिक चंचलता है, हाथ पैर आदि अंगों को व्यर्थ ही हिलाता रहता है, व्यर्थ बोलता रहता है, या क्रोधी, विषयासक्त, आलसी; दम्भी, ईर्ष्यालु, लोभी अथवा दीर्घसूत्री है, वह भी इस मार्ग में सफल नहीं हो पाता। अतः बाह्य अनुशासन अनिवार्य है।

इन तत्वों को लक्ष्य में रखकर योग की विविध प्रणालियाँ विकसित हुईं। प्रारंभ में भेद होने पर भी अन्त में सभी संपूर्ण व्यक्तित्व पर पहुँच जाती हैं और उसका परिष्कार करती हैं।

हठ योग शरीर शुद्धि से प्रारंभ होता है ! लय योग प्राणों की शुद्धि से। राजयोग मन की शुद्धि पर बल देता है और ज्ञानयोग बौद्धिक शुद्धि पर।

योग शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। जो परम्पराएँ ईश्वर और जीव को भिन्न-भिन्न मानती हैं, उनके मत में योग शब्द का अर्थ है, जीव का ईश्वर के साथ मिलन। मन्त्र आदि के द्वारा जब किसी देवी शक्ति का आह्वान किया जाता है, वहाँ भी योग शब्द का यही अर्थ है। यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि धर्मों में ईश्वर और जीव भेद में माना गया है। रिलीजन, (Religion) शब्द इसी भाव को प्रकट करता है। इसका अर्थ है दुबारा जोड़ना या पुर्नमिलन। जीव ईश्वर का पुत्र है और उससे बिछुड़ गया है। पिता से पुनः मिलने के लिए वह जो प्रयत्न करता है वे सब 'रिलीजन' हैं। किन्तु जो परम्पराएँ जीवात्मा और परमात्मा को एक मानती है वहाँ योग शब्द का यह अर्थ नहीं हो सकता। वहाँ मुख्यतया समाधि शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है लीन होना। ईश्वर से अभिन्न होने पर भी जीव स्वरूप को भूल कर अपने को उससे भिन्न मानता है। समाधि का अर्थ है इस भेद बुद्धि का समाप्त होना। इन परंपराओं में योग शब्द का अर्थ है वे अभ्यास जो समाधि प्राप्त करने में सहायक होते हैं। साधक मन की उन मलिनताओं को दूर करने का अभ्यास करता है जो भेद बुद्धि उत्पन्न करती है। ये अभ्यास शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के हैं। इन परंपराओं में योग परिणाम या फल न होकर लक्ष्य पर पहुँचने का उपाय है।

मायातंत्र में जीवात्मा और परमात्मा की एकता को योग कहा है (V. 51) और वह समाधि का साधन है।

शिव और आत्मा की एकता के ज्ञान को भी योग कहा गया है। आगमवादी शक्ति के ज्ञान को (शक्त्यात्मकं ज्ञानं) योग कहते हैं। पुराण पुरुष के ज्ञान को भी योग कहा गया है। प्रकृतिवादी शिव और शक्ति के

मिलन को योग कहते हैं। इन परिभाषाओं में शाब्दिक भेद होने पर भी तात्विक भेद नहीं हैं। सभी ने जीवात्मा और परमात्मा की एकता को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया है। हठयोग प्रदीपिका में आया है कि राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन मुक्ति, सहजावस्था एवं तुरीय सब एक हैं। सभी का अर्थ है क्रिया और चित्तवृत्ति का निरोध। जिसके फलस्वरूप सुख और दुख के द्वंद्व से छुटकारा और निर्विकार अवस्था प्राप्त हो जाती हैं। इस अवस्था को प्राप्त करके यदि शरीर पात होता हो तो विदेह कैवल्य या परममुक्ति प्राप्त हो जाती है। यही स्वरूपावस्था है।

## राज योग

धर्म, राजनीति, उद्योग वाणिज्य आदि प्रत्येक क्षेत्र में उन्ही व्यक्तियों ने सफलता प्राप्त की है जिनका मन शक्तिशाली है। मनोबल के सामने शारीरिक बल तुच्छ है। योगशास्त्र इसी बल को प्राप्त करने का उपाय बतलाता है। उसका कथन है कि हमारा मन जब चारों ओर बिखरा रहता है तो दुर्बल हो जाता है किन्तु वही जब किसी एक लक्ष्य पर स्थिर हो जाता है तो बड़े बड़े कार्य करने लगता है। बहुत से व्यक्तियों में यह स्थिरता स्वाभाविक होती है। वे बचपन से ही प्रतिभाशाली होते हैं। हम ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं और चारों ओर देखते है, मन इधर-उधर भटकने लगता है। यही चंचलता उसे दुर्बल बना देती है।

## हमारा व्यक्तित्व

योग विद्या को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि हम क्या हैं? हमारे व्यक्तित्व में कौन-कौन से तत्व मिले हुए हैं और योग के द्वारा किस पर क्या प्रभाव होता?

सांख्यदर्शन में हमारे व्यक्तित्व का विश्लेषण चार तत्वों में किया गया है—(१) पुरुष, (२) कारण शरीर, (३) सूक्ष्म शरीर और (४) स्थूल शरीर। विश्व का मूल दो तत्व है—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। दोनों एक दूसरे के बिना कुछ नही कर सकते।

इनका सम्बन्ध अंध और पंगु के समान हैं। प्रकृति अन्धी है, ज्ञान-शून्य है। उसमें करने की शक्ति है, देखने की नहीं। दूसरी ओर पुरुष चेतन है, किन्तु उसमें करने की शक्ति नहीं है। दोनो का मेल होने पर सारी प्रवृत्तियां प्रारंभ होती है, इसी मेल को कारण या लिङ्ग शरीर कहा जाता है। यहीं से सृष्टि प्रारंभ होती है। सांख्य दर्शन में इसे महत् या बुद्धि कहा गया है। यह चेतना का प्रथम स्फुरण है। उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है और अहंकार से पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। तन्मात्रा का अर्थ है पृथ्वी आदि शुद्ध महाभूत। अहंकार से लेकर तन्मात्राओं तक १७ तत्वों को सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। पांच तन्मात्राओं के मिश्रण से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं और उनसे स्थूल शरीर।

योग द्वारा इन शरीरों को शुद्ध किया जाता है। भिन्न-भिन्न योगों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ है। हठयोग तथा आसनों द्वारा स्थूल शरीर को शुद्ध किया जाता है, प्राणायाम द्वारा प्राणों को, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को, धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा चित्त को। इसकी तीन अवस्थायें हैं। प्रथम अवस्था को बुद्धि कहा जाता है, जो चेतन का जड़ के साथ प्रथम सम्बन्ध है। द्वितीय अवस्था को अहंकार, जहां उसमें "मैं और मेरी" की भावना आ जाती है, वह अपने आपको महत्व देने लगता है। तीसरी अवस्था मन है, जहां वह वाह्य विषयों की ओर दौड़ने लगता है। पहली दो अवस्थाओं में कर्तृत्व की भावना रहती है और तृतीय अवस्था में करण अर्थात् साधन की। तृतीय की अपेक्षा द्वितीय अवस्था सूक्ष्म है और द्वितीय की अपेक्षा प्रथम। साधक ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है इनका प्रभाव समाप्त होता जाता है. अंत में अभेद बुद्धि भी दूर हो जाती है, इसी को विवेकख्याति कहा जाता है। विवेक का अर्थ है जड़ और चेतन में भेद और ख्याति का अर्थ है ज्ञान। भेदज्ञान होते ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है अर्थात् पुरुष पुनः अपनी शुद्ध अवस्था

पर पहुँच कर, समस्त बंधनों से छूट जाता है, इसी का नाम मोक्ष है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन में इन सब भूमिकाओं का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

## चित्त की पांच अवस्थायें

योगशास्त्र में चित्त की ५ अवस्थायें बताई गई हैं:—

(१) **मूढ**—यह तमोगुण की प्रधानता से होती है, इस अवस्था में व्यक्ति अज्ञान तथा आलस्य से घिरा रहता है; न उसमें सत्य को जानने की इच्छा होती है और न उन्नति करने की, न धर्म की ओर न रुचि होती है और न धन-संपत्ति के संग्रह की ओर। अज्ञान तथा अनैश्वर्य में ही सारा जीवन व्यतीत होता है। यह अवस्था मुख्यतया पशुओं में पाई जाती है। अविकसित मनुष्य भी इसी अवस्था में होते हैं।

(२) **क्षिप्त**—यह अवस्था रजोगुण की प्रधानता से होती है। चित्त क्षिप्त अर्थात् वाह्य विषयों में फसा रहता है। कभी इधर दौड़ता है और कभी उधर। रजोगुण के कारण इच्छायें प्रबल हो जाती हैं और वे ही समस्त व्यवहार का संचालन करने लगती हैं। जब रजोगुण का तमोगुण के साथ मिश्रण होता है तो वे क्रूरता, कामांधता, लोभ आदि का रूप ले लेती हैं। जब वह सत्वगुण के साथ मिल जाता है तो अच्छी प्रवृत्तियां होने लगती हैं। यह अवस्था उस मनुष्य की है जो दुनियादारी में फंसा है और तरह-तरह की उधेड़बुन करता रहता है।

(३) **विक्षिप्त**—इस अवस्था में सत्वगुण प्रधान होता है, रज तथा तम दबे हुए गौणरूप से रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ और मोहादि के छोड़ने से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में सत्व गुण बना रहता है इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर होती है। परन्तु रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था ऊंचे मनुष्यों तथा जिज्ञासुओं की होती है।

इन तीन अवस्थाओं को योग में सम्मिलित नहीं किया जाता। क्योंकि उनमें चित्त की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है। विक्षिप्त अवस्था में कभी-कभी अंतर्मुखी होने पर भी स्थायी नहीं होती, मन पुनः भटकने लगता है।

(४) **एकाग्र**—मन का किसी एक विषय पर स्थिर होना। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव घट जाता है तो चित्त इधर-उधर भटकना छोड़कर एक ही बिषय पर स्थित हो जाता है। देर तक चिन्तन की एक सी धारा चलती रहती है, इससे बिचार शक्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता आती जाती है। साधक जिस बात को सोचता है उसकी गहराई में उतर जाता है। आँखें बन्द करने पर भी वह उसके सामने घूमती रहती है। इस प्रकार की एकाग्रता होने पर वह वस्तु वशीभूत हो जाती है। योग की शक्तियाँ इसी अवस्था में प्रकट होती है। इस भूमि को संप्रज्ञात या सबीज समाधि कहते हैं उसको चार अवस्थाएं हैं। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत और अस्मितानुगत। इनका निरूपण आगे किया जायगा। विवेकख्याति इसी समाधि का फल है।

(५) **निरुद्ध**—चित्त की पाँचवीं अवस्था निरुद्ध है इसमें वह सर्वथा शून्य हो जाता है। किसी विषय का चिन्तन नहीं रहता। इस अवस्था को असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहा जाता है। इसके प्राप्त होते पर पुरुष का चित्त के साथ संबंध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जिसे कैवल्य कहते हैं।

इसी का दूसरा नाम स्वरूपावस्थान है। अर्थात् दृष्टा या पुरुष वाह्य विषयों का चिन्तन छोड़ कर स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

उपर्युक्त पांच अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर चित्त के दो भेद किये जाते हैं। व्युत्थान चित्त और निरोधचित्त। प्रथम तीन अवस्थाओं का संबंध व्युत्थान चित्त के साथ है, और अन्तिम दो का निरोध चित्त के साथ।

## पांच वृत्तियाँ

व्युत्थान चित्त के बाह्य विषयों में प्रवृत्त होने को वृत्ति कहा जाता है। हम कभी घट पट आदि बाह्य वस्तुओं को जानते हैं, कभी सुख दुःख का अनुभव करते हैं, कभी पिछली बात को याद करते हैं, कभी स्वप्न देखते हैं, और कभी तरह तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं। इस प्रकार चित इधर-उधर भटकता हैं।

भटकने का यह कार्य पुरुष नहीं करता, वह तो शुद्ध तथा निष्क्रिय है, किन्तु उसका संपर्क प्राप्त करके प्रकृति दृष्टा और भोक्ता का रूप ले लेती है जिसे बुद्धि और अहंकार की दो अवस्थाओं द्वारा प्रकट किया गया है। इन्हीं को चित्त कहा जाता है। व्युत्थान अवस्था में चित्त तरह-तरह के आकारों में परिणत होता रहता है, जब घट को देखता है घटाकार हो जाता है, और पट को देखता है तो पटाकार; इसी को वृत्तिसारूप्य कहा जाता है।

**वृत्तियां ५ है :—**

(१) प्रमाण—वाह्य वस्तुओं का सच्चा ज्ञान।

(२) विपर्यय—मिथ्या ज्ञान या भ्रम।

(३) विकल्प—निरा कल्पना। उदाहरण के रूप में मनुष्य बैठा बैठा अपने भविष्य के विषय में कल्पना करता रहता है। कभी सुख की कल्पना करता है। सोचता है मेरे पास १ लाख रुपया हो जाय तो मोटर रखलूँ। कभी दुःख की कल्पना करता है, सोचता है यदि संपत्ति नष्ट हो गई या इष्टजन का वियोग हो गया तो क्या होगा ?

(४) निद्रा—सुप्त अवस्था—जहां केवल अभाव का भाव रहता है।

(५) स्मृति—पिछली बातों की याद। ये वृत्तियां कहीं क्लिष्ट होती है और कहीं अक्लिष्ट। क्लिष्ट का अर्थ है जहाँ उन्हें रागद्वेषादि मनोविकार घेरे रहते हैं। अक्लिष्ट वृत्तियां उनसे मुक्त होती हैं।

साधना द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह रोककर अक्लिष्ट प्रवाह को प्रारम्भ किया जाता है। उदाहरण के रूप में जब हम किसी बाह्य वस्तु को जानते हैं तो ज्ञान के साथ रागद्वेष भी मिले रहते हैं, वे हमारे ज्ञान को विकृत कर देते हैं, अतः सर्वप्रथम यह अभ्यास किया जाता है कि हमारा ज्ञान मन को मलिन करने वाले क्लेशों से दूर रहे। जब अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह भी रुक जाता है तब निर्बीज समाधि प्राप्त होती है, वह योग की उच्चतम भूमिका है।

## पांच क्लेश

क्लेश का अर्थ है मन को मलीन करने वाले संस्कार इन्हें। आवरण, अविद्या, कर्म, कँचुक आदि अनेक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। पतंजलि ने इनकी संख्या ५ बताई है।

(१) अविद्या (२) अस्मिता (३) राग (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश सारंव्यदर्शन में इन्हीं को क्रमशः तमस, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अंधतामिस्र कहा गया है।

(१) तम या अविद्या का अर्थ है अनात्मा या जड़ में आत्मा या चेतन की भ्रांति। पतँजलि ने इसके चार प्रकार बताये हैं—'(१) अनित्य को नित्य समझना (२) अपवित्र को पवित्र समझना (३) दुःख को सुख समझना और (४) अनात्मा को आत्मा समझना। सांख्य दर्शन में इसके आठ भेद हैं—प्रकृति, महत्त, अहंकार और पाँच तन्मात्राओं में आत्मतत्व की भ्राँति।

(२) मोह या अस्मिता—अस्मिता का शब्दार्थ है अहंकार 'मैं हूँ' यह अनुभूति। प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति साधना करता है और जब उसे कुछ विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं तो अहंकार आ जाता है। वह उन्हें महत्त्व देने लगता है और आगे की साधना बंद कर देता है। योगदर्शन में अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियाँ बताई गई हैं। इन्हीं के भेद से मोह या अस्मिता के भी आठ भेद हैं।

(३) महामोह—इंद्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श। प्रत्येक के दिव्य और लौकिक के रूप में दो भेद हैं। इस प्रकार इन दस विषयों में आसक्त होना महामोह है। विषय के भेद से भी इसके दस भेद हैं। मोह में योग विभूतियों के प्रति आसक्ति होती है, उसमें राग के स्थान पर अहँकार की मुख्यता होती है। महामोह में आसक्ति का आधार बाह्य विषय होते हैं वहाँ राग की मुख्यता रहती हैं।

(४) तामिस्र (द्वेष)—इच्छापूर्ति न होने पर मन में एक प्रकार की जलन होती है, इसी को यहाँ तामिस्र या द्वेष शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। यह राग या अहंकार पर चोट लगने से उत्पन्न होता है। इसलिए गीता में कहा गया है "कामात् क्रोधो भिजायते" अर्थात् काम से क्रोध उत्पन्न होता है। ऊपर अहंकार के आठ और राग के दस विषय बताये गये हैं। तदनुसार तामिस्र के १८ भेद हो जाते हैं

(५) अंधतामिस्र [अभिनिवेश]—अहंकार तथा राग की पूर्ति होने पर भी मन में एक प्रकार का भय बना रहता है कि उपलब्ध सामग्री नष्ट न हो जाय। इस प्रकार मन में चिन्ता बनी रहना अंधतामिस्र कहा जाता है। इसके भी उपर्युक्त १८ भेद हैं।

इन सब क्लेशों का मुख्य कारण अविद्या है। जैन-धर्म में उसको मोह कहा गया है और बौद्ध धर्म में तृष्णा।

## क्लेशों की पांच अवस्थाएँ

हमारे जीवन पर इन क्लेशों का प्रभाव प्रत्येक समय नहीं रहता; कभी वे सोये रहते हैं और कभी जागृत; कभी एक क्लेश दूसरे क्लेश को दबाये रहता है। उदाहरण के रूप में जब राग का उदय होता है द्वेष दबा रहता है, और जब द्वेष का उदय होता है तब राग दबा रहता है। इस दृष्टि से इन क्लेशों की पांच अवस्थायें बताई गई हैं :—

(१) प्रसुप्त—सोये हुए। जब क्लेश उपयुक्त विषय न मिलने के कारण संस्कार अवस्था में पड़े रहते हैं तब उन्हें प्रसुप्त कहा जाता है।

उदाहरण के रूप में बाल्यावस्था में काम वासना सोई रहती है वही युवा होने पर जागृत हो जाती है।

(२) तनु—क्षीण। प्रतिपक्ष भावना द्वारा वे संस्कार निर्बल या क्षीण हो जाते हैं। शत्रु के प्रति उपेक्षा या मित्रता की भावना करने से द्वेषवृत्ति घट जाती है, इस अवस्था को तनु कहते हैं।

(३) विच्छिन्न—जब एक क्लेश किसी दूसरे बलवान क्लेश से दबा रहता है और उसके अभाव में प्रबल हो जाता है तो उसे विच्छिन्न कहते हैं। जैसे द्वेष अवस्था में राग छिपा रहता है और राग अवस्था में द्वेष

४. उदार—उदय या जाग्रत अवस्था। इसमें क्लेश अपना कार्य करने की स्थिति में होते हैं।

५. दग्धबीज—पांचवीं अवस्था दग्धबीज है। समाधि द्वारा क्लेश तनु अर्थात् क्षीण होते चले जाते हैं। जब विवेक ख्याति अर्थात् जड़ और चेतन में भेद का साक्षात्कार हो जाता है तो उनमें अंकुरित होने की शक्ति नहीं रहती। इस अवस्था को दग्ध बीज कहते हैं।

**बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।**
**ज्ञानदग्धैंतथा क्लेशै र्नात्मा संपद्यते पुनः॥**

जिस प्रकार आग में जले हुए बीज नहीं उगते इसीप्रकार क्लेश जब ज्ञान रूपी आग में जल जाते हैं, दुबारा नहीं उगते।

**योग के आठ अंग**—उपर्युक्त वृत्तियों को रोकने के लिए—

महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग बताये हैं—

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६ धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि।

**१.** यम—पाँच हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका सम्बन्ध व्यवहार शुद्धि से है। हमारा जीवन कैसा होना चाहिए। दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसके लिए अहिंसा आदि पाँच बातें बताई गई हैं।

२. नियम—भी पाँच हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इनका प्रतिपादन वैयक्तिक जीवन की शुद्धि के लिये है।

३. आसन—शरीर को हिलाये डुलाये बिना देर तक सुख पूर्वक बैठने का अभ्यास। इसके द्वारा शरीर में स्थिरता आती है। और शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता में सहायक होती है।

४. प्राणायाम—श्वास को दीर्घ तथा स्थिर करने का अभ्यास। श्वास और मन का परस्पर संबंध है। एक के वश में होने पर दूसरा भी वश में होने लगता है। इसका विस्तृत विवेचन हठयोग में किया गया है।

५. प्रत्याहार—इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना। मन इद्रियों के द्वारा बाहर की ओर जाता है। इन्द्रियों के हट जाने पर वह भी हट जाता है।

इन पाँचों को वहिरंग योग कहा जाता है। अतिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग योग है, यहाँ उन्हीं का विवेचन किया जाएगा। इनका मानसिक एकाग्रता के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, तीनों को मिलाकर संयम कहा जाता है। जिसका अर्थ है मन को इधर उधर से हटाकर किसी एक वस्तु पर स्थिर करना।

६. धारणा—का अर्थ है मन को किसी एक स्थान में लगाना। इसके अनेकरूप हैं। शरीर के किसी अंग में मन स्थिर करने को पिंडस्थ-धारणा कहा जाता है। इसी प्रकार मूर्ति, सूर्य, चद्र, नक्षत्र, पुष्प, चित्र, रेखा, मंडल तथा बाह्य वस्तुओं की धारणा की जाती है। इसे रूपस्थ-धारणा कहते हैं। ओ३म् या परमात्मा के किसी नाम पर मन को एकाग्र करना पदस्थ-धारणा है। चौथी धारणा रूपातीत है। वहाँ निराकार का चिंतन किया जाता है।

७. ध्यान और समाधि—मन जब देरतक किसी एक ही विषय में स्थिर रहने लगता है तो उसे ध्यान कहते हैं। क्रमशः साधक अपने आपको भूल जाता है। यह भान भी नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। एकमात्र आलंबन का ध्यान रहता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

## समाधि की भूमिकाएँ

समाधि की उच्चतम भूमिका पर पहुँचने के लिए क्रमशः अभ्यास करना होता है, प्रारंभ में साधक स्थूल विषयों पर मन को एकाग्र करता है और धीरे-धीरे सूक्ष्मता की ओर बढ़ता हुआ विषय-रहित अवस्था पर पहुँच जाता है। ध्यान के तीन विषय हैं—(क) ग्राह्य अर्थात बाह्य विषय, (ख) ग्रहण अर्थात इन्द्रियाँ और (ग) ग्रहीता अर्थात पुरुष या आत्मा।

इन पर मन की एकाग्रता को क्रमशः ग्राह्य समापत्ति, ग्रहण समापत्ति तथा ग्रहीत्री समापत्ति कहते हैं। ग्राह्य और ग्रहण के स्थूल और सूक्ष्म के रूप में पुनः दो भेद हो जाते है। एकाग्रता भी दो प्रकार की हैं, शब्द तथा अर्थ आदि का भेद लिये हुये तथा उसके बिना। इस प्रकार सम्प्रज्ञान समाधि के नीचे लिखे भेद हो जाते हैं।

१. सवितर्क (ग्राह्य समापत्ति)—सूर्य, चन्द्र, मूर्त्ति, चित्र आदि स्थूल विषयों का ध्यान। उनके नाम, रूप, गुण आदि का चिन्तन। इस अवस्था में साधक को काल्पिक कहा जाता हैं।

२. निर्वितर्क (ग्राह्य समापत्ति)—उपर्युक्त विषयों का नाम, रूप आदि के बिना ध्यान रखना। यहाँ साधक निरंतर एक ही बात का ध्यान करता रहता है। उसके नाम, रूप या अन्य पहलुओं पर नहीं जाता। इस अवस्था को मधु-भूमि कहा जाता है। यहाँ साधक भूत तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ऋतम्भरा प्रज्ञा का अभ्यास करता है।

३. सविचार (ग्राह्य समापत्ति)– ऐसे सूक्ष्म विषयों का ध्यान करना जो इन्द्रियों के विषय में नहीं है। उनके नाम, रूप, गुण आदि का चिन्तन करना। इस अवस्था में साधक को प्रज्ञा-ज्योति कहा जाता है। वह भूत तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके स्वार्थ संयम द्वारा विशोका-भूमि का अभ्यास करता है।

४. निर्विचार (ग्राह्य समापत्ति)—सूक्ष्म विषय अर्थात् तन्मात्राओं के साथ शब्द अर्थ आदि का सम्बन्ध जोड़े बिना ध्यान करना। यहाँ

साधक को अतिक्रान्त भावनीय कहा जाता है। उसके लिए विचार की कोई वस्तु नहीं रहती।

५. आनन्दानुगत (ग्रहण समापत्ति)—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन पर ध्यान जमाना। इसमें भोक्ता के रूप में आनन्द का अनुभव होता है।

६. अस्मितानुगत (ग्रहीत्री समापत्ति)—बुद्धि-विशिष्ट-पुरुष या आत्मा पर ध्यान करना। इसमें आनन्द की अनुभूति भीं नहीं होती। केवल अस्मिता अर्थात् मैं हूँ कि अनुभूनि शेष रहती है।

निर्विचार समाधि के अभ्यास से बुद्धि उत्तरोत्तर निर्मल होती जाती है और साधक को सत्य का साक्षात् होने लगता है। इस अवस्था को ऋतम्भरा-प्रज्ञा कहते हैं। इसका उदय होने पर संसार के प्रति आसक्ति तथा तत्सम्बन्धी विचार अपने आप रुक जाते हैं। इसी को पर-वैराग्य कहते हैं। वहाँ मन के समस्त विकल्प बन्द हो जाते हैं। केवल संस्कार बाकी रहते हैं। इस अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है। इसी से विवेकख्याति का उदय होता है अर्थात् पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न मानने लगता है।

## निर्बीज समाधि के दो भेद

निर्वीज समाधि के दो प्रकार हैं—

१—भवप्रत्यय और २—अभ्यासप्रत्यय।

भवप्रत्यय का अर्थ है जन्म के साथ ही प्राप्त होने वाली समाधि। जो लोग पूर्व जन्म में विदेह अवस्था पर पहुँच चुके हैं अर्थात् शरीर के प्रति आसक्ति छोड़ चुके हैं अथवा जो प्रकृति में लीन हो चुके हैं किन्तु कैवल्य प्राप्त करने से पहले ही मृत्यु हो गई, उन्हें पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण नये जन्म के साथ ही समाधि प्राप्त हो जाती है, इसे भवप्रत्यय कहा जाता है।

अन्य साधक नीचे लिखे पांच साधनों द्वारा समाधि प्राप्त करते हैं :

१. श्रद्धा—मन में उत्साह तथा लक्ष्य के प्रति निष्ठा।

२. वीर्य—मन, इन्द्रिय तथा शरीर का पुरुषार्थ अर्थात अभ्यास में लगे रहना।

३. स्मृति—श्रद्धा और वीर्य के कारण उत्पन्न होने वाले संस्कार, जो साधना के लिए अधिकाधिक प्रेरणा देते रहते हैं।

४. समाधि—मन की एकाग्रता। यह ज्यों-ज्यों बढ़ती है, साधक आगे बढ़ता चला जाता है।

५. प्रज्ञा–सत्य का ज्ञान—जो साधक को आत्मा का साक्षात् करने की प्रेरणा देता है। साधक में वैराग्य की मात्रा जितनी उत्कट होती है, समाधि उतनी ही शीघ्र प्राप्त होती है। इसी की तरतमता के आधार पर उसके मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के रूप में अनेक भेद किये जाते हैं।

## समाधि के विघ्न

समाधि के नौ विघ्न हैं जिन्हें चित्तविक्षेप कहा जाता है—

१. व्यधि—मन, इन्द्रियाँ या शरीर में रोग।

२. स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् उत्साह की कमी।

३. संशय—"मैं योगसाधन कर सकूंगा या नहीं, करने पर भी सफलता मिलेगी या नहीं', इस प्रकार संदेह शील होना।

४. प्रमाद—साधना में लापरवाही करना, पूरा मनोयोग न देना।

५. आलस्य—शरीर या मन भारी होने के कारण अभ्यास न करना।

६. अविरति—विषय भोगों में तृष्णा बनी रहना।

७. भ्रान्तिदर्शन—मिथ्या ज्ञान।

८. अलब्ध—भूमिकत्व—रुकावट के कारण समाधि की भूमिकाओं का प्राप्त न होना। फलस्वरूप उत्साह का घट जाना।

९. अनवस्थितत्व—भूमिका प्राप्त होने पर भी उसमें चित्त का न ठहरना और ध्येय का साक्षात्कार होने से पूर्व ही अभ्यास छूट जाना।

इन अन्तरायों के उपस्थित होने पर साधक विचलित हो जाता है। परिणाम स्वरूप मानसिक तथा शारीरिक उपद्रव होने लगते हैं। वह इस प्रकार है—

१. दु:ख—मन में खेद।

२. दौर्मनस्य—निराशा के कारण मन में बुरे विचार आना।

३. अंगमेजयत्व—हाथ पैर आदि अंगों का फूल जाना।

४. श्वास—बिना इच्छा के बाहर के वायु का नासिका द्वारा अन्दर आना।

५. प्रश्वास—बिना इच्छा के भीतर के वायु का नासिका-छिद्रों द्वारा बाहर निकालना।

## चार भावनाएँ

इन विक्षेपों को दूर करने के लिए किसी ऐसे तत्त्व में मन लगाना चाहिये, जो हमें अच्छा लगता है। मन को द्वेष, घृणा आदि से बचाने और प्रसन्न रखने के लिए नीचे लिखी चार भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए।

१. मैत्री—मित्रता की भावना करना। इससे ईर्ष्या तथा राग मल दूर होता है। साधारणतया मनुष्य स्वजन को सुखी देखकर प्रसन्न होता है, और पराए को सुखी देखकर ईर्ष्या होने लगती है। प्रत्येक सुखी को देखकर उसे स्वजन या मित्र समझने से भावना बदल जाती है।

२. करुणा—दुःखी को देखकर उसके प्रति करुणा लाना और उसके दुःख दूर करने का प्रयत्न करना। इससे घृणा और द्वेष मल दूर होते हैं,

३. मुदिता—धर्मात्मा या सदाचारी व्यक्तियों को देखकर प्रसन्न होना। इससे असूया मल की निवृत्ति होती है, जिसका अर्थ है दूसरे में दोष निकालने की मनोवृत्ति।

. उपेक्षा—पापी या दुराचारी के प्रति उपेक्षा भाव रखना। इससे द्वेष मल की निवृत्ति होती है अर्थात् जब दूसरा व्यक्ति हमारे साथ दुव्य-

हार करे तो बदले में द्वेष न करके उपेक्षा या तटस्थ वृत्ति अपनानी चाहिए।

## राजयोगियों के चार भेद

योगी चार प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी के योगी 'प्रथम-कल्पित' कहलाते हैं। उन्हें केवल प्रकाश की झलक दिखलाई देती है। सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होती। वे सवितर्क समाधि का अभ्यास करते हैं। दूसरी श्रेणी के योगी 'मधुभूमिक' कहलाते हैं। ये लोग निर्वितर्क समाधि में प्रवेश कर ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर लेते हैं। इस भूमिका को 'मधुमती' कहते हैं। यहाँ जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह मधु के समान आनन्ददायक एवं तृप्तिकारक होता है। तीसरी श्रेणी के योगी 'प्रज्ञाज्योतिः' कहे जाते हैं, वे पांच महाभूतों और इद्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्था का नाम 'मधुप्रतीक' हैं। चौथीश्रेणी के योगियों का नाम है 'अतिक्रांत-भावनीय।' वे 'विशोका' और 'संस्कार शेषा' नामक भूमिकाओं पर होते हैं और कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं।

उच्चतम ज्ञान का नाम 'प्रसंख्यान' हैं जो विवेक ख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान से उत्पन्न होता है।

इस ज्ञान को प्राप्त योगी में 'धर्ममेघ' समाधि का उदय होता है। उसे परवैराग्य की प्राप्ति होती है। वह सब प्रकार की सिद्धियों से, यहाँ तक की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्व आदि से भी मुँह मोड़ लेता है। वह जानता है कि सिद्धियाँ सर्वोच्च समाधि की प्राप्ति में अन्तराय रूप हैं। तब उसे असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। उसमें जन्म-मृत्यु के कारणभूत सारे संस्कार निःशेष रूप से दग्ध हो जाते हैं।

## कैवल्य

अन्ततोगत्वा पुरुष अपने ऐश्वर्यमय अथवा कैवल्यात्मक स्वरूप की उपलब्धि कर लेता है। वह प्रकृति और उसके कार्यों से सर्वथा असंयुक्त

रहता है। अपने को सर्वथा स्वतन्त्र (मुक्त) अनुभव करता है और राज योगी के चरम लक्ष्य कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। समस्त क्लेश और कर्म नष्ट हो जाते हैं। भोग और अपवर्ग सिद्ध हो जाने के कारण गुणों का कार्य बन्द हो जाता है। सारा ज्ञान एक कालिक हो जाता है। भूत और भविष्य वर्तमान में मिल जाते हैं। प्रत्येक वस्तु वर्तमान हो जाती है। ऐसा योगी देश काल को अतिक्रमण कर जाता है। कैवल्य प्राप्त योगी के अनन्तज्ञान के सामने त्रैलोक्य का समग्र ज्ञान भण्डार तथा समस्त लौकिक विद्याओं का ज्ञान कुछ नहीं है।

## एकाग्रता के उपाय

पतं जलि ने मन को एकाग्र करने के नौ उपाय बताये है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार चुनाव कर सकता है। उनमें प्रथम दो हैं अभ्यास और वैराग्य।

### १—अभ्यास

मन को एकाग्र करने का सर्वप्रथम उपाय अभ्यास है। इसका अर्थ है स्थिर करने के लिए किया जाने वाला प्रयत्न। जब एक ही बात के लिये बार-बार कोशिश की जाती है तब वह हमारा स्वभाव बन जाती है। प्रारंभ करते समय मन उच्छृंखल होता है। जितना प्रयत्न किया जाता है उतना ही दूर भागता है, किंतु धीरे-धीरे प्रतिरोध घटता चला जाता है और स्थिरता उसका स्वभाव बन जाती है।

अभ्यास में सफलता प्राप्त करने के लिये पतंजलि ने तीन बातें बताई हैं।

(क) दीर्घकाल—जब तक सफलता न मिले अभ्यास जारी रखना चाहिए। मन में यह विश्वास रखना चाहिए कि सफलता अवश्य मिलेगी। मन में जन्म जन्मांतरों के कुसंस्कार इकट्ठे हो रहे हैं। उन्हें दूर करना सरल नहीं है। जिस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में साधना की है और वे संस्कार

क्षीण हो चुके हैं उसे एकाग्रता शीघ्र हो जाती है। किंतु जिस पर रजोगुण का प्रभाव है उसका मन चंचल रहता है। जिस पर तमोगुण का प्रभाव है वह आलस्य तथा अज्ञान से घिरा रहता है। उसकी उच्च लक्ष्य की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती। अभ्यास द्वारा मन को इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठाने की आवश्यकता है। रजोगुणी को अनाशक्ति अथवा बाह्य विषयों से विरक्त होने का अभ्यास करना चाहिए। उनमें दोष तथा हानि का चिंतन करना चाहिए। इसके लिये परमात्मा, जीव, संसार आदि का स्वरूप समझना और उसका चिंतन करना उपयोगी है।

(ख) नैरंतर्य—जो अभ्यास प्रारंभ किया जाय उसे लगातार करते रहना चाहिये। बीच में छोड़ने से उत्पन्न संस्कार लुप्त हो जाते हैं और साधक पुनः नीचे की भूमिका पर आ जाता है।

(ग) सत्कार—ध्यान और ध्येय वस्तु के प्रति आदर बुद्धि। साधक के मन में यह भावना रहनी चाहिये कि मैं जो अभ्यास कर रहा हूँ वह लाभदायक है, जीवन को ऊँचा उठाने वाला है।

२—वैराग्य

वैराग्य का अर्थ है वाह्य विषयों के प्रति मोह या आसक्ति का अभाव। जिस व्यक्ति का मन इन्द्रिय विषयों की ओर दौड़ता रहता है उसे एकाग्रता नहीं प्राप्त होती।

अभ्यास और वैराग्य की सर्वत्र आवश्यकता है अर्थात् अन्य उपायों के साथ भी इनका होना आवश्यक है। अभ्यास के द्वारा तमोगुण का नाश होता है। अर्थात् आलस्य, अकर्मण्यता, अज्ञान आदि दोष नहीं आते। वैराग्य रजोगुण का नाश करता है। इसके होने पर मन में राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि विचार नहीं आते। तमोगुण और रजोगुण के दरबाजे पर सद्गुण अपने आप प्रकट होने लगता है और उसके साथ ही मन में एकाग्रता तथा निर्मलता आने लगती है।

(३) ईश्वर प्रणिधान

तीसरा उपाय ईश्वर प्रणिधान है। इसका अर्थ है विविध प्रकार से परमात्मा का ध्यान। इसका विवेचन ॐ कार के ध्यान में किया गया है।

(४) प्राणायाम—

इसका विवेचन पिंडस्थ ध्यानों में किया गया है। पतंजलि ने बाह्य प्राणायाम पर बल दिया है। इसका अर्थ है—सांस को बाहर निकाल कर रोके रहना। पद्मासन से बैठकर सांस को बाहर निकाल देना चाहिए और ठुड्डी को कंठकूप अर्थात् गले के नीचे वाले गड्ढे में जमा देना चाहिए। इसप्रकार जितनी देर तक हो सके रोकने का अभ्यास करना चाहिए। इसके द्वारा शरीर हल्का और प्रफुल्लित हो जाता है।

उपनिषदों में प्राण के रूप में आत्मा के ध्यान का प्रतिपादन है।

श्वास-प्रश्वास पर भी मन को एकाग्र किया जाता है। इसे बौद्ध साधना में आना-पान स्मृति कहा गया है! इसमें बताया गया है कि साधक शरीर को ढीला छोड़कर सीधा लेट जाय या आराम से बैठ जाय। किसी प्रकार का तनाव नहीं रहना चाहिए। उसके पश्चात् मन को अपने श्वास पर जमा दे। कभी लंबा श्वास आता है, कभी छोटा। कभी वह नाभि तक पहुँचता है और कभी बीच में ही रुक कर बाहर निकलने लगता है। साधक उसे रोकने या लंबाने का कोई प्रयत्न न करे। केवल उसका निरीक्षण करता रहे। इस अभ्यास से सारी थकावट दूर हो जाती है, चिन्ताएं मिट जाती हैं—मन तथा शरीर में नई चेतना आती है।

(५) विषयवती प्रवृत्ति—

मन को एकाग्र करने लिए के विभिन्न इन्द्रियों पर उनके विषयों का ध्यान किया जाता है। अभ्यास के पुष्ट होने पर विषयों की अनुभूति होने लगती है, इसो को विषयवत्तो प्रवृत्ति कहा जाता है। उदाहरण के रूप में नासिका के अग्रभाग पर ध्यान लगाने से दिव्य गंध की अनुभूति होने

लगती है । इसी प्रकार जिह्वा के अग्रभाग पर ध्यान जमाने से दिव्य रस की । तालु में ध्यान जमाने से दिव्य रूप की ; जिह्वा के मध्य भाग पर ध्यान जमाने से दिव्य स्पर्श की ; जिह्वा के मूल में ध्यान जमाने पर दिव्य शब्द की । इन सब को विषयवती प्रवृत्ति कहा जाता है और वे मन को स्थिर करने में सहायक होती हैं । इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, पुष्प आदि वाह्य वस्तुओं पर मन को स्थिर किया जाता है ।

**६—विशोका ज्योतिस्मती प्रवृति**

यहाँ ज्योति का अर्थ है सात्त्विक प्रकाश । विशोका का अर्थ है शोक रहित अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट । हमारे शरीर में नाभि, हृदय, कंठ, भ्रूमध्य आदि कुछ स्थान हैं जहाँ ध्यान जमाने पर एक प्रकार का प्रकाश दिखाई देने लगता है और वह मन को स्थिर करने में सहायक होता है ।

हृदय कमल को अनाहत चक्र भी कहा जाता है । वहाँ ध्यान करने की प्रक्रिया इस प्रकार है :—

हृदय कमल में जो आकाश है उसमें महाकाश की धारणा की जाती है । अर्थात् यह ध्यान किया जाता है कि वही विस्तृत आकाश है । क्रमशः उसी में सूर्य, चद्र, नक्षत्र, मणि या प्रभाआदि का ध्यान किया जाता है । अभ्यास के परिपक्व होने पर वे ज्यों के त्यों दिखाई देने लगते हैं । इस अनुभूति को ज्योतिष्मती कहा जाता है, इसी का दूसरा नाम अस्मिता-ज्योतिष्मती है । वहाँ चित्त में किसी विषय का भान नहीं होता । वह निस्तरंग समुद्र के समान शांत प्रतीत होता है ।

हृदय कमल में ध्यान की प्रक्रिया नीचे लिखे अनुसार है—हमारे हृदय में एक बन्द कमल है । उसका मुँह नीचे की ओर है और नाल ऊपर की ओर । रेचक प्राणायाम द्वारा उसके मुँह को ऊपर की ओर कर दिया जाता है और उसकी पंखुड़ियाँ खिल जाती है । इस प्रकार इसके उर्ध्वमुख होने पर नीचे लिखा ध्यान करना चाहिये—

कमल के बीच 'ओ३म कार' है। उसका 'अकार' सूर्य मण्डल और जाग्रत स्थान है। उसके ऊपर 'उकार' चन्द्र मण्डल और स्वप्न स्थान है। उसके ऊपर 'मकार' वन्हिमण्डल और सुषुप्ति स्थान है। उसके ऊपर आकाश स्वरूप ब्रह्मनाद तथा अर्द्धमात्र तुरीय स्थान है। उस कमल की कर्णिकाओं में स्थित जो ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा नाडी है उसको ब्रह्मनाडी भी कहते हैं। यह नाडी आन्तरिक सूर्यादि मंडलों के बीच से होकर मूर्द्धा-पर्यंत चली गयी है। इसलिये यह नाडी बाह्य सूर्यादि मंडलों से भी सम्बद्ध है। यही चित्त का निवास स्थान है। जब योगी उसमें बुद्धि विषयक संयम करता है, तब वह सात्त्विक ज्योति स्वरूप आकाश तुल्य भासता है। चित्त में सूर्य, चन्द्र नक्षत्र मणि प्रभा आदि आकृतियों का भान होता है। ज्योति के रूप में परमात्मा का यह साक्षात्कार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहा जाता है। इसमें पूर्वोक्त सूर्यादि अनेक विषय रहते हैं, इसलिये यह भी विषयवती है और सत्त्वगुण प्रधान होने से रजोगुण तमोगुण से रहित होती है, इस लिये विशोका कहलाती है।

इसीप्रकार अस्मिता में धारण किया हुआ चित्त जब निस्तरङ्ग समुद्र के तुल्य शांत और अनंत होकर सत्त्व प्रधान हो जाता है, तब उस चित्त की दशा को अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहते हैं।

**७—वीतराग का ध्यान**

जिस महापुरुष ने रागद्वेष को जीत लिया है, जो सांसारिक बंधनों से ऊपर उठ चुका है, उसका ध्यान करने से मन में वैराग्य की वृद्धि होती है और चित्त में स्थिरता आती है। ध्यान के लिये उस महापुरुष का चित्र या मूर्ति सामने रखना बिशेष लाभदायक है। सर्वप्रथम उसके अंगों पर नीचे से लेकर ऊपर तक धीरे-धीरे दृष्टि घुमानी चाहिए। तीन चार बार नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे दृष्टि घुमाने पर ध्येय का समग्र-रूप मन में स्थिर हो जाता है। तत्पश्चात आँखें बन्द करके उस रूप को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह धुंधला हो तो आँखें खोलकर

पुनः चित्र का निरीक्षण प्रारंभ कर देना चाहिए। यदि वह विकृत या अपूर्ण हो तो उस अंग पर विशेष ध्यान देना चाहिए जो आँखें बन्द करने पर दिखाई नहीं दिया। इसप्रकार रूप एवं आकार स्पष्ट होने पर ध्येय के गुणों का चिंतन करना चाहिए, मन में यह सोचना चाहिए कि वह किस प्रकार राग-द्वेष, मोह आदि विकारों से ऊपर उठा हुआ है और अपने में उन गुणों के विकास का संकल्प करना चाहिए। इसप्रकार रूप, आकार और गुणों का प्रतिभास उत्तरोत्तर उज्ज्वल होता जायेगा। और वह ज्यों ज्यों उज्ज्वल होगा, साधक की आत्मा ऊँची उठती जाएगी।

**८—विश्व को स्वप्न या निद्रा समझना**

व्यक्ति जिन बातों को वास्तविक मानता है उसकी ओर मन आकृष्ट होता है। संसार को वास्तविक मानने से चित्त उस ओर जाता है। किंतु जब हम उसे स्वप्न ज्ञान के समान मिथ्या मानने लगते हैं, अथवा सारे संसार को एक महानिद्रा समझते हैं तो मन उधर भटकना बन्द कर देता है। बाह्य वस्तुओं का आकर्षण नहीं रहता।

पतंजलि का सूत्र है **'स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा'** जिसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से भी की जाती है। स्वप्न में जिन वस्तुओं की प्रतीति होती हैं उन पर मन को एकाग्र करना। इसी प्रकार निद्रित अवस्था में जो शून्यता का भान होता है, उस पर ध्यान जमाना। जाग्रत अवस्था में प्रतीति जितनी स्पष्ट होती है, स्वप्न अवस्था में उतनी स्पष्ट नहीं होती, उस समय वह धुंधली सी रहती है और निद्रा आने पर समाप्त प्रायः हो जाती है। इसी प्रकार यदि हम जाग्रत् अवस्था में बाह्य वृत्ति को उत्तरोत्तर अस्पष्ट और क्षीण करते जाये तो मन एकाग्र हो जायेगा।

एक बात और है। जहाँ वस्तु इंद्रियों द्वारा स्पष्ट दिखाई देती हैं वहाँ कल्पना की गुंजायश नहीं रहती। फलस्वरूप मन इधर-उधर भटकने लगता है। उसके विपरीत जहाँ वस्तु स्पष्ट नहीं होती वहाँ बहुत

सी बातें कल्पना द्वारा जोड़ी जाती हैं। यह कार्य मन को करना होता है। ऐसी स्थिति में वह उस वस्तु पर स्थिर हो जाता है। दक्षिण के प्राचीन मन्दिरों में मूर्ति को अंधेरे कमरे में स्थापित कर दिया जाता है। उसके पास क्षीणप्रभा वाला दीप टिमटिमाता है। जिससे इतना ही प्रकट होता है कि वहाँ कोई मूर्ति है। शेष कार्य कल्पना को करना होता है। यह भी मन को स्थिर करने का एक सफल प्रकार है।

**६—इष्ट वस्तु का चिंतन**

जो वस्तु हमें अच्छी लगती है उसका चिंतन करने से भी मन में एकाग्रता आती है। वह वस्तु सांसारिक भी हो सकती है। अभ्यास प्रारंभ करने के लिये उसका सहारा लिया जा सकता है। एक बार स्थिरता का अभ्यास होने पर मन को अन्य आलम्बन पर भी लगाया जा सकेगा।

नवम अध्याय

# भक्तियोग

## भक्तियोग

राजयोग का प्रतिपादन मुख्यतया ऐसे व्यक्तियों के लिये किया गया है जिनका चित चंचल है, जिनमें रजोगुण की प्रधानता है। भक्तियोग का प्रतिपादन तमोगुणी साधकों के लिये किया गया है, जिनके मन में न महत्त्वाकांक्षाऍं हैं, न रागद्वेष और न उधेड़ बुन। ऐसे व्यक्तियों का मन सुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। उसे एकाग्रता के स्थान पर जागृत करने की आवश्यकता होती है। इसके लिये उसके समाने ऐसी वस्तु उपस्थित करनी होती है, जो मन को आकृष्ट कर सके। भक्तियोग परमात्मा को इसी रूप में उपस्थित करता है। वहाँ परमात्मा का वर्णन विभिन्न ऐश्वर्य एवं विभूतियों के साथ किया जाता है। उसे समस्त सुख एवं संपत्तियों का स्वामी भक्तवत्सल बताया गया। साथ ही उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिये सख्य, दास्य आदि भाव बताये गये हैं। प्रत्येक साधक अपनी अभिलाषा के अनुसार रूप चुन कर मनोभावना के अनुसार सम्बन्ध जोड़ता है।

भक्तिमार्ग में भगवान् की उपासना पाँच प्रकार से बताई गई है—

(१) शांतभाव : निर्गुण ब्रह्म के रूप में भगवान् की उपासना। इसमें साधक भावावेश में न आकर तटस्थ रूप में परमात्मा का ध्यान और चिंतन करता है। उपनिषदों में परमात्मा का स्वरूप सच्चिदानंद बताया गया है अर्थात वह शक्ति, ज्ञान और सुख का केन्द्र है, साधक इसी रूप का चिंतन करता हुआ उसमें लीन हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान, दुर्ब-

लता और कष्टों पर विजय प्राप्त करता है। यह ध्यान निराकार और साकार दोनों रूपों में किया जाता है। भक्तिवाद में साकार रूप पर विशेष बल है। साकार आलंबन पर मन को स्थिर करना अपेक्षाकृत सरल होता है। आराध्य के रूप के राम, कृष्ण, शिव आदि किसी को चुनकर परब्रह्म के रूप में ध्यान किया जाता है। इसमें भावों का आवेश नहीं रहता। बुद्धि शांत और स्थिर होती है। बुद्धि प्रधान साधकों के लिये अनुकूल होने पर भी भावुक साधकों के लिए यह उतना अनुकूल नहीं है। उनके लिये दूसरे भाव अधिक उपयोगी हैं। शांत भाव द्वारा की जाने वाली भक्ति को शांता कहा जाता है।

(२) दास्यभाव : इसमें साधक भगवान को स्वामी और अपने को दास मानता है। प्रत्येक कार्य को उनकी सेवा या आज्ञा मानकर करता है। ऐसे किसी कार्य को नहीं करता जिसे उनकी इच्छा के प्रतिकूल समझता है। भोजन, वस्त्र आदि भोग्य सामग्री को भगवान का दिया हुआ वेतन मानता है। इस भाव में भक्त का अहंकार क्षीण होता चला जाता है। भक्ति साधना में आया है—

**तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।**
**अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥**

साधक अपने को तिनके से भी तुच्छ समझे। वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बने। स्वयं किसी प्रकार का अभिमान या अहकार न रक्खे। दूसरे से आदर सत्कार तथा प्रशंसा को आशा न करे किंतु स्वयं सभी को आदर सत्कार दे। इस प्रकार भगवान् की सेवा करता रहे। इस भाव द्वारा की जाने वाली भक्ति का नाम प्राता है।

(३) सख्य भाव : इसमें साधक भगवान् को मित्र मान कर उपासना करता है। दास्यभाव में अपने को छोटा समझता है और भगवान् को बड़ा। अपने को सेवक और भगवान् को सेव्य। यहाँ दोनों समकक्ष हो जाते हैं। छोटे-बड़े की भावना नहीं रहती। किंतु आकर्षण और प्रेम

बढ़ जाता है। सेवक में भेदबुद्धि होती है। सकोच रहता है। यहाँ उनकी उत्तरोत्तर न्यूनता होती चली जाती है। अर्जुन ने भगवान् की उपासना इसी रूप में की थी।

मित्रता में तीन बातें आवश्यक होती हैं।

(१) **साहचर्य**—हम मित्र को अधिक से अधिक साथ रखना चाहते हैं, जिसकी उपस्थिति में आनंद आता है। उसके साथ भोजन, वार्तालाप, क्रीड़ा, यात्रा आदि से सुख की वृद्धि होती है।

(२) **समर्पण**—हम मित्र के लिए जितना त्याग करते हैं, उतनी ही अधिक प्रसन्नता होती है। उसके लिए कष्ट उठाने में आनंद आता है। सभी दुःख, सुख बन जाते हैं।

(३) **परामर्श**—मित्र का तीसरा कार्य परामर्श है। हम यह अनुभव करते हैं कि भगवान् हृदय में पथप्रदर्शक के रूप में विराजमान हैं। जीवन रूपी रथ की लगाम उनके हाथ में है। फिर भय कैसा? जो कार्य लाभदायक है वे स्वयं उसके लिए प्रेरणा देंगे और जो हानिकारक है उसे रोक देंगे। प्रतिदिन प्रातः तथा सायं इस प्रकार की अनुभूति करने से मन की गति अपने आप भलाई की ओर हो जाती है। कुमार्ग की ओर झुकाव बंद हो जाता है।

इस भाव द्वारा की जाने वाली भक्ति को प्रेयसी कहते हैं।

(४) **वात्सल्य भाव**—इसमें भगवान् की उपासना पुत्र या प्रियजन के रूप में की जाती है। सख्यभाव की अपेक्षा इसमें प्रेम उत्कट होता है। माता अपने पुत्र के लिए विह्वल रहती है। उसे हँसते तथा खेलते देखकर प्रसन्न होती है। उसे खिलाने-पिलाने, नहलाने आदि में आनन्द आता है। दिनरात उसकी स्मृति बनी रहती है। इस भाव द्वारा की जाने वाली भक्ति को अनुकंपा कहा जाता है।

(५) **मधुर भाव**—इसमें भगवान की उपासना प्रेमी के रूप में की जाती है। यहाँ अनुभूति उत्कटतम हो जाती है। साधक भगवान को अपना पति या प्रेमी मानता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल

रहता है । विरह जब उत्कट हो जाता है तो पागल की तरह घूमने लगता है। उसके गीत गाता है, रिझाने की चेष्टाएँ करता है । ऐसा अनुभव करता है जैसे वह सामने खड़ा हो किन्तु आलिंगन के लिए हाथ फैलाते ही भाग जाता हो । भारतीय साधना में यह उपासना राधा और कृष्ण के रूप में मिलती है । व्रज की गोपियाँ इसी रूप में उपासना करती थीं।

इस्लाम में इस भाव का वर्णन सूफी साधना के रूप में है । किन्तु वहाँ साधक अपने को प्रेमी और भगवान् को प्रेमिका मानता है । भारतीय साहित्य में विरह की अनुभूति का सम्बन्ध मुख्यतया नारी के साथ बताया गया है । इसलिए यहाँ भगवान को पुरुष और साधक को स्त्री का रूप दिया गया है । उर्दू तथा फारसी साहित्य में इस अनुभूति का सम्बन्ध मुख्यतया पुरुष के साथ है। वहाँ मजनूँ लैला के लिए तड़फता है । फरहाद शीरीं के लिए । साधना में भी उसी रूप को सामने रखा गया।

वैष्णव साधना में इस भाव को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है । इसके दो रूप हैं—पतिभाव और जारभाव । पहले में भगवान् को पति मानकर उपासना की जाती है और दूसरे में जार या उपपति । पहले की अपेक्षा दूसरे में अनुभूति अधिक उत्कट होती है । उसमें सामाजिक मर्यादाओं और कर्तव्य का भाव नही रहता । जबतक प्रेम पर उनका आवरण रहता है वह निखरने नहीं पाता ।

इन भावों को लेकर वैष्णव परंपरा पर बहुत से आक्षेप किए गए । निस्संदेह इन के दुरुपयोग से दुराचार को प्रोत्साहन मिला । किंतु इस आधार पर साधना पद्धति को छोड़ नहीं दिया जा सकता । प्रत्येक साधना के लिए योग्यता का निरूपण किया गया है उसे प्राप्त किए बिना किसी मार्ग में प्रवेश करना वास्तव में भयपूर्ण है । ईसाई परंपरा में बहुत से संत नग्न स्त्री के साथ सोकर अपने मनोबल की परीक्षा लेते थे । तंत्र साधना में इस प्रकार के बहुत अनुष्ठान बताये गए है । किंतु वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं है ।

जब हमरा मन वाह्य विषयों की ओर दौड़ता है तो उसे रोकने का अभ्यास किया जाता है। स्त्री और पुरुष से परस्पर प्रेम को रति कहते हैं। जब इसका आलंबन वाह्य होता है तो वह पतन का कारण बन जाती है। उस समय उसे वैराग्य द्वारा रोकने का अभ्यास किया जाता है। ऐसी स्थिति में शांत भाव सबसे उत्तम है। और दास्य-सख्य आदि में प्रेम उत्तरोत्तर हीन होता चला जाता है। रति उसकी निकृष्टतम अवस्था है। किंतु जब लक्ष्य परमात्मा बन जाता है तो बात उलटी हो जाती है। वहाँ रति मधुर रस बन जाती है जो प्रेम का सर्वोत्तम रूप है। इस प्रकार परिर्वतन होने पर शांत भाव निम्नतम श्रेणी पर आ जाता है। शास्त्रों में बताया गया है कि विश्व दर्पण या पानी में पड़ने वाली परछाँई के समान है। माया में भगवान् का प्रतिबिंब ही विश्व है। किंतु परछांई उलटी पड़ा करती है। मुख में जो वस्तु दायीं ओर होती है, परछांई में वांई ओर हो जाती है। इसी प्रकार संसार में भगवान् का प्रतिबिंब उसके उल्टे रूप को प्रकट करता है। अध्यात्मिक लक्ष्य होने पर जो वस्तुएँ उपादेय हैं वे ही सांसारिक लक्ष्य होने पर हेय हो जाती हैं इसी प्रकार वहां जो हेय है, वे यहां उपादेय हो जाती हैं।

मधुर भाव की तीन अवस्थाएँ हैं। श्रद्धा, भक्ति और रति। इनमें प्रेम उत्तरोत्तर उत्कट हो जाता है। श्रद्धा में हम अपने उपास्य को आदर की दृष्टि से देखते हैं। उसकी बातों पर विश्वास करते हैं। वही उत्कट होने पर भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। यह श्रद्धा का क्रियात्मक रूप है। जहाँ हम श्रद्धेय की सेवा, पूजा, बंदना आदि करना चाहते हैं। प्रेम के उत्कट होने पर वह रति के रूप में परिणत हो जाती है। जहाँ हम सदा उसके पास रहना चाहते हैं, उसके दर्शन तथा स्पर्श से सुख का अनुभव करते हैं।

इन भावों की परिणति दो प्रकार से होतीं है। प्रथम प्रकार में प्रत्येक भाव अपनी विशेषता को कायम रखते हुये परिपाक की ओर बढ़ता है।

उदाहरण के रूप में दास्य भाव अंत तक उसी रूप में रहता है और भक्त उसी के द्वारा भगवान् का साक्षात्कार करता है। वह सख्य वात्सल्य आदि अन्य भावोंकी ओर नहीं भुकता। उन्हें दास्य भाव की तुलना में हेय मानता है। इतना ही नहीं उनके सामने मोक्ष को भी तुच्छ समभता है।

दूसरा प्रकार क्रमिक विकास का है। ज्यों-ज्यों घनिष्टता बढ़ती है भावों में उत्तरोत्तर परिणति होती जाती है दास घनिष्ठता बढ़ने पर मित्र का रूप ले लेता है और दास्यभाव सख्य भाव का। उस समय भक्त और भगवान् समकक्ष हो जाते हैं। आगे बढ़ने पर भक्त अपने को बड़ा समभने लगता है। स्वयं पोषक बन जाता है और भगवान् को पोष्य बना देता है। इस प्रकार सख्य वात्सल्य का रूप ले लेता है। आगे बढ़ने पर जब अनुभूति प्रबल हो जाती है तो वह बात भी नहीं रहती। उस समय प्रेम पात्र की प्रत्येकलीला आनंद देने लगती है। प्रेमी उसके सहवास में रहना चाहता है। समस्त भेद तथा संकोच दूर हटा देना चाहता है। उसके दर्शन, स्पर्श, वाणी तथा प्रत्येक बात से आनन्द आने लगता है। वहाँ वात्सल्य माधुरी का रूप ले लेता है। जारभाव में यह भावना और उत्कट हो जाती है। पति के प्रति प्रेम में कर्तव्य भावना छिपी रहती है। सामाजिक मर्यादाओं का प्रभाव भी रहता है। किंतु जार-भाव में वे सब टूट जाती है। प्रेमी समस्त मर्यादाओं, बन्धनों और कर्त्तव्य बुद्धि से ऊपर उठ जाता है। एकमात्र प्रेम की प्रेरणा में डूब जाता है। यह रसानुभूति की अन्तिम अवस्था है। और वही भक्ति का परिपाक है।

जहाँ भावों का स्वतन्त्र परिपाक होता है, वहां मुक्ति भी तदनुरूप होती है। इसीलिए उसके सालोक्य सामीप्य, सायुज्य आदि अनेक भेद हो गए हैं। दास्यभाव वाला भक्त सालोक्यमुक्ति प्राप्त करता है। वह भगवान् के दरबार में रहना चाहता है। सख्यवाला सामीप्य मुक्ति पसंद करता है। वह भगवान के समीप रहना चाहता है। वात्सल्य वाला उसके साथ किसी सम्बन्ध में जुड़कर सायुज्य चाहता है और माधुर्यवाला उसी में लीन होजाना चाहता है।

## भक्ति के तीन रूप

भक्ति के तीन रूप हैं। (१) क्रिया (२) भाव और (३) महाभाव। क्रिया का अर्थ है साधक के द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठान। जब वे संस्कार का रूप ले लेते हैं तो उसे भाव भक्ति कहा जाता है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि विभिन्न अवस्थाएँ इसी के भेद हैं। ये भाव उत्कट होकर जब एक ही रस में परिणत हो जाते हैं तो उसे महाभाव कहा जाता है। वहां शांत, दास्य आदि का पृथक् अस्तित्त्व नही रहता। क्रिया भक्ति प्रयत्नसाध्य है उसे प्रारम्भ करने के लिए भक्त के मन में इच्छा होती हैं और वह गुरु या शास्त्र द्वारा बताई गई पद्धति के अनुसार आचरण करता है। उसकी चेष्टाएं स्वाभाविक नहीं होती। भाव भक्ति प्रयत्नसाध्य नहीं होती, उसकी अभिव्यक्ति साधक के हृदय में परमात्म भाव का स्फुरण होने पर होती हैं। वहाँ जीव भाव अर्थात् पृथक अस्तित्त्व नष्ट होता चला जाता है। साधक का परमात्मा में उत्तरोत्तर विलय होता जाता है।

भाव-भक्ति ह्लादिनी शक्ति का परिणाम है। ह्लाद का अर्थ है -सात्त्विक आनंद। साधक परमात्मा की अनुभूति से आनंदित होने लगता है। उस समय वह जो चेष्टाएं करता है उनके लिए किसी आदेश की आवश्यकता नहीं होती। वे उसका स्वभाव बन जाती है। महाभाव में विलय पूर्ण हो जाता है।

क्रिया भक्ति का मुख्य संबंध स्थूल देह के साथ है। हाथ जोड़ना, नमस्कार, वाणी द्वारा नामोच्चारण, पूजन आदि स्थूल क्रियाएं भौतिक देह के साथ संबद्ध हैं। भाव भक्ति का संबंध सूक्ष्म शरीर के साथ हैं इसके सत्रह अवयव हैं - पांच ज्ञानेंद्रियाँ, पांच कर्मेंद्रियाँ, पांच प्राण, मन और अहंकार। भावों का उदय मुख्यतया मन में होता है और उसका प्रभाव अन्य तत्त्वों पर भी पड़ता है। उदाहरण के रूप में परमात्मा की उत्कट

अनुभूति होने पर इंद्रियाँ भी तद्रूप हो जाती हैं। आँखें उसी को देखने लगती हैं। कानों को उसकी ध्वनि सुनाई देने लगती है और नासिका को सुगंध। प्रत्येक श्वास उसकी स्मृति से ओतप्रोत हो जाता है। उस समय बाह्य जगत् से संबंध टूट जाता है। स्थूल शरीर निष्प्राण होकर पड़ा रहता है। अन्तर्चेतना में इस अनुभूति को भावदेह कहा जाता है।

मायिक शरीर भावग्रहण के लिए उपयोगी नहीं होता; भाव का आविर्भाव वहीं होता है जहाँ उसके उपयुक्त आधार हो। यह आधार शुद्ध होकर अन्त में प्रकट होता है। भौतिक देह का अवलंबन करके यदि भाव का विकास हो तो भावदेह मिश्ररूप में अवस्थित हो सकता है। इस अवस्था में वह अपने पृथक् स्वरूप में कार्य करता है। अथवा भाव के विकास के साथ-साथ प्राकृत देह का मोह छूट जाता है और विशुद्ध भावदेह प्राप्त हो जाता है। भावदेह के पूर्व ही यदि मृत्यु हो जाय अर्थात् कृत्रिम भक्ति की अवस्था में ही शरीर छूट जाय तो भाव-जगत् में गति नहीं होती। भाव का उदय होने पर समझना चाहिये कि भावदेह कार्य कर रहा है। उस समय प्राकृत देह जड़वत्, स्थिर तथा निष्प्राण होकर पड़ा रहता है। यदि भाव तीव्र न हो तो प्राकृत देह में उसका उतना प्रभाव नहीं दिखाई देता। फिर भी वह स्वरूपस्थ होकर कार्य करता रहता है।

जब तक प्राकृत-देह में कृत्रिम साधना होती रहती है, तब तक भाव का विकास नहीं होता। अतएव उस अवस्था में शास्त्र, गुरू, महापुरुषों के वचन आदि बाह्य आदेशों को मानकर चलना पड़ता है। उन्हीं के अनुसार प्रवृत्ति या निवृत्ति की जाती है। किंतु भावदेह प्राप्त होने पर बाह्य आदेशों की आवश्यकता नहीं रहती। उस समय स्वभाव ही गुरु तथा शास्त्र बन जाता है। उसी के संकेत विधि-निषेध हो जाते है। गम्भीर आंतरराज्य की नीरवता में वाह्य जगत् का स्थान नहीं होता। किंतु वहाँ भी कोई शक्ति अन्तर्यामी रूप से भक्त से आदेश देती रहती है। इसी को स्वभाव कहते है।

भावदेह सदैव बाह्य देह के अनुरूप नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि बाहर से जो वृद्ध दीख पड़ते है, जिनके बाल पक गए हैं, दाँत गिर गए है और दृष्टि क्षीण हो गयी है. वे भावदेह में इसके विपरीत हों। हो सकता है, भावदेह उज्ज्वल, ज्योतिर्मय, किशोर, सर्वांग सुन्दर और माधुर्यमय हो।

किंतु यह प्रथमावस्था की बात है। आगे चलकर दोनों देहों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। भक्त वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि जिस भाव को लेकर उपासना करता है उसका भावदेह उसी प्रकार का होगा। स्वभावसिद्ध भाव-देह का आश्रय लेकर स्वभाव की साधना चलती हैं। यदि कोई मातृभाव का साधक हो तो उसका भावदेह शिशु की आकृति ले लेता है। आकृति और प्रकृति परस्पर अनुरूप हुआ करती हैं। जो प्रकृतितः अर्थात स्वभावतः शिशु हैं और इस शिशुभाव से ही 'मा-मा' कहकर पुकारते है, उनकी आकृति भी शिशु के समान हो जाती है। बाह्य शरीर जरा-जीर्ण होने पर भी उनका भावदेह शिशु ही रहता है। शिशु को शिक्षा नहीं दी जाती कि वह किस प्रकार माँ को पुकारे अथवा व्यवहार करे। स्वभाव ही उसका संचालन करता है। उसी प्रकार जो भक्त भावदेह में शिशु हैं, उसे' मातृभक्ति सिखानी नहीं पड़ती है। वह स्वभाव की संतान है, स्वभाव ही उसका संचालन करता है। वह अपने आप जो करता है, वही भजन हो जाता है। रागात्मिका भक्ति में शास्त्र या वाह्य नियमावली की आवश्यकता नहीं होती है।

प्राणियों में अनेक भाव दिखाई देते हैं। महाभाव के एक होने पर भी खंड भाव असंख्य हैं। प्रत्येक भाव की अपनी विशेषता है, और सार्थकता भी। भावों की परस्पर शबलता अथवा सांकर्य निषिद्ध हैं। स्वाभाविक रूप में इनकी संभावना नहीं रहती। परंतु जो व्यक्ति कृत्रिम भाव द्वारा साधना करते हैं, उनमें भूल या भ्रांति हो सकती है। वह साधना अभिनय मात्र होता है। और अभिनय में एक ही व्यक्ति विविध

पात्रों का रूप ले सकता है। एक स्त्री एक ही व्यक्ति के प्रति माता और पत्नी दोनों का अभिनय कर सकती है। किंतु वास्तव में दोनों रूप नहीं ले सकती। इसी प्रकार क्रिया भक्ति के समय भक्त दोनों प्रकार की चेष्टाएं कर सकता है, किंतु भावभक्ति आने पर सांकर्य नही हो सकता।

वृक्ष के हजारों पत्तों में साम्य होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक में अपनी विशेषता है, उसी प्रकार प्रत्येक भाव में अपनी विशेषता होती है। इस की मर्यादा किए बिना भावसाधना में प्रगति नहीं होती। जिस प्रकार बाल्य, यौवन, वार्धक्य पृथक्-पृथक् होते हैं, उनमें आचरण और तन्मूलक व्यक्तित्व भी भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक अंगोपांग और चेष्टाएं परस्पर भिन्न हैं।

भाव-साधक के लिए गुरु की आज्ञा की आवश्यकता नहीं होती है। अंतः स्थित प्रेरणा ही उसका परिचालन करती है। एक भाव के साथ दूसरे भाव का व्यक्तिगत भेद तो है ही, गुण और मात्राओं का भी भेद होता है।

## भाव और प्रेम

भाव का विकास ही प्रेम है। भाव-साधना करते-करते स्वाभावतः प्रेम का आभिर्भाव हो जाता है। जब तक उसका उदय नहीं होता ध्येय का साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रेम भाव की ही परिपक्व अवस्था है। भाव जगत् में प्रवेश करते समय भक्त अपने ही विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करता है। साधना का विकास होने पर भगवत्स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। जिस प्रकार भाव अनंत हैं, उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी अनंत हैं। प्रत्येक भाव के साथ भक्त का स्वरूप संश्लिष्ट रहता है, भगवान का रूप भी तदनुरूप होता है। जब तक प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होतीं, इष्टरूप का आविर्भाव नहीं होता।

## भक्ति-साधना की अवस्थाएं

भक्ति के विकास को स्थूल रूप से तीन अवस्थाओं में विभक्त किया

जा सकता है—(१) प्रवर्तक (२) साधक और (३) सिद्ध। प्रवर्तक अवस्था के पुनः दो भेद हैं—कर्म और कृपा। प्रवर्तक अवस्था में भावरहित शरीर को भाव शरीर में परिणत करने की चेष्टा की जाती है। नाम और मंत्र—उसमें सहायक होते हैं। क्रियाभक्ति क्रमशः फल भक्ति में परिणत हो जाती है। प्रवर्तक अवस्था में जो कुछ किया जाता है, वह क्रिया भक्ति के अन्तर्गत है। इसे साधन-भक्ति भी कहते हैं। परन्तु यह वास्तविक साधन-भक्ति नहीं है; यह कृत्रिम साधन भक्ति है ; क्योंकि प्राकृतिक—देहाभिमान के रहते प्राकृत साधना-भक्ति का उदय नहीं हो सकता। नवधा भक्ति प्रवर्तक अवस्था के अन्तर्गत है। इन सब अनुष्ठानों के पीछे देहात्म-बोधमूलक अहंभाव विद्यमान रहता है।

भाव की प्रथम अभिव्यक्ति दो प्रकार से हो सकती (१) कर्म और (२) कृपा। कर्म का अर्थ है जप पूजा आदि अनुष्ठान। जिन्हें कृत्रिम साधन भक्ति कहा जाता है। यह भाव भक्ति नहीं होती। किन्तु दीर्घ-काल तक अनुष्ठान करने पर संस्कार बदलते जाते हैं और एक दिन कृत्रिम भक्ति, भाव भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। बहुत से साधक ऐसे भी होते हैं जिन्हें अनुष्ठानों की आवश्कता नहीं होती। उनका हृदय स्वभावतः भक्ति से ओतप्रोत होता है। उन्हें जो भक्ति प्राप्त होती है उसे भगवत्कृपा कहा जायेगा। कृपा के दो रूप है। कहीं वह साक्षात् भगवान् से प्राप्त होती हैं और कहीं सिद्ध भक्ति के द्वारा। कुछ लोगों की धारणा है कि कृत्रिम साधना को भक्ति का वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। वास्तविक कारण भगवान या भगवद्भक्त की कृपा ही है। कृत्रिम भक्ति उसी की बाह्य अभिव्यक्ति है।

प्रवर्तक-अवस्था में दो आवरण रहते हैं एक प्रमाता को आच्छन्न करता है और दूसरा प्रमेय को। इस अवस्था के अन्त में जब भावदेह का विकास होता है तो प्रथम आवरण हट जाता है, परन्तु दूसरा आवरण बना रहता है। फलस्वरूप भावदेह के जाग्रत होने पर भी इष्टवस्तु नहीं

प्राप्त होती। जब तक भाव का अपेक्षित विकास नहीं होता, प्रमेय का आवरण नहीं हटता। भाव के विकास से ही अनुसंधान और अन्वेषण आरम्भ होता है। प्रमेय का आवरण हट जाने पर अन्वेषण समाप्त हो जाता है, और लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। यही प्रेम अवस्था है।

भावरहित स्थूल जगत् से ज्योतिर्मय भावजगत् में प्रवेश होने पर विशिष्ट अवस्था प्राप्त होती है। यहीं से इष्ट का अन्वेषण प्रारम्भ होता है ओर अन्तर्जगत् में अधिकाधिक गुह्य स्थान प्राप्त होता चला जाता है। चरम अवस्था प्राप्त होने पर अन्तरतम विन्दु में प्रवेश हो जाता है। आवरण हट जाते है और इष्ट का साक्षात्कार हो जाता है। अन्तर्जगत् में प्रवेश के पश्चात् अन्तिम विन्दु प्राप्त होने तक अनवच्छिन्न भाव से अग्रसर होना पड़ता है। इसी को साधना का क्रम विकास कहते हैं।

**धाम**

शुद्ध सत्वमय भावदेह का दूसरा नाम भगवद्धाम है। भाव के विकास से पहले धामतत्त्व अभिव्यक्त नहीं होता। जब तक काया का विकास नहीं होता, तब तक उस काया की स्थिति और क्रिया के लिए उपयोगी धाम का आविर्भाव कैसे होगा? भाव रहित भक्त बहिरंग होने के कारण धाम के बाहर रहता है। प्रवर्तक अवस्था में धाम में प्रवेश नहीं होता। इसके लिए शुद्ध भाव देह आवश्यक है। भाव रहित मायिक देह अथवा अज्ञानमय देह भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का अधिकारी नहीं है। मायिक देह का त्याग होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि धाम में अवश्य प्रवेश हो जायगा। ऐसी अवस्था भी होती है जब मायिक देह निवृत्त हो जाता है, किन्तु विशुद्ध भावदेह की प्राप्ति नहीं होती। यह कैवल्य की अवस्था है। इस अवस्था में भगवद्धाम में प्रवेश की संभावना नहीं होती, क्यों कि यह विदेह स्थिति है। केवली भगवद्धाम के बाहर विशाल प्रान्तर में सुप्तवत् रहता है। यह मायातीत अवस्था होते हुए भी वस्तुतः पाशविक अवस्था है। इसमें भगवद्धाम में प्रवेश का अधि-

कार नहीं मिलता। क्योंकि भगवदनुग्रहीत जीव ही धाम में प्रवेश कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

भगवद्धाम एक होने पर भी भाव के अनुसार अनंत हैं। कुंठाहीन होने के कारण वैष्णव लोग इस धाम को वैकुंठ कहते हैं। यह विशुद्ध सत्वमय है। रजस्, तमस् तथा मलिन सत्व इस स्थान में नहीं रहते। जिस काल के प्रभाव से प्राकृतिक जगत की सृष्टि, स्थिति, संहार और नाना प्रकार के परिणाम होते हैं, वह काल भी भगवद्धाम में कार्य नहीं करता। वहाँ जो काल है, वह शाश्वत है। वह भगवान की लीला-सहचर और भगवदिच्छा का अनुवर्ती होता है। ज्योतिर्मय विशुद्ध सत्व भगवद्धाम का उपादान है। वहाँ लीला की उपकरणभूत अनंत वस्तुएं— भोग्य, भक्त और भगवान के लीला विग्रह सभी विशुद्ध सत्वमय होते हैं। इसी को आगमशास्त्र में बिन्दु कहा जाता है। इस धाम का नाम 'बैंदव जगत' है। विशुद्ध सत्व माया से सर्वथा विलक्षण है। माया अशुद्ध है और यह शुद्ध। माया अनादि और सांत है, परन्तु विशुद्ध सत्व सादि और अनंत है। भगवद्धाम और भगवद्विग्रह तथा भक्त का निजी विग्रह सभी अन्तहीन हैं।

## भाव के दो प्रकार

भाव स्थायी और संचारी भेद से दो प्रकार का होता है। संचारी भाव अपना कार्य करके तिरोहित नही होता। इसी को स्वभाव कहते हैं। स्थायी भाव से ही रसास्वादन की संभावना होती है, वह भावदेह प्राप्त होने से पहले भी जीव के हृदय में कार्य करता है, परन्तु वह बीज शक्ति संपन्न नहीं होता उससे फलोद्‌गम की संभावना नहीं होती। वास्तविक भक्त वही है, जो भाव की संचारी अवस्था में पहुँच सकता है। इसके लिए नाम और मंत्र उपयोगी हैं।

स्थायी भाव वस्तुतः भावदेह का ही नामांतर है। भाव के विकास के साथ-साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरंग हृदय-

कमल अष्टदलों वाला है। स्थायी भाव भी आठ भावों में विवर्तित होता है। अष्टदल कमल का प्रत्येक दल एक-एक भाव का प्रतीक है। भाव में प्रविष्ट होकर उसे महाभाव में परिणत करना पड़ता है। यही भाव-साधना का रहस्य है। भाव महाभाव की पूर्वावस्था है। वही प्रस्फुरित होकर महाभाव बन जाता है।

आलंकारिक भावों का नामकरण अपनी-अपनी परिभाषा के अनुसार करते हैं। परन्तु भाव का साधक अपनी दृष्टि से उन्हें प्राप्त करता है। उसके लिए दूसरों की दृष्टि का अवलंबन आवश्यक नहीं होता। प्रत्येक भक्त इन आठ भावों को एक-एक करके जगाता है। इसके बिना जिस किसी भाव को उसके चरम विकास की अवस्थापर्यन्त अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कमल के विकास के लिए पृथ्वी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार—ज्योतिर्युक्त तेजोमंडल तथा उसके साथ आकाश भी आवश्यक होता है। नीचे रस और ऊपर रविकिरण—दोनों का संयोग होने पर कमल विकसित होता है, अन्यथा नहीं। भाव के लिए भी उसी प्रकार एक ओर लक्ष्योन्मेषरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप चिदाकाश में स्थित सूर्यमंडल आवश्यक होता हैं। दूसरी ओर रसोद्गम का मूल कारण स्थायी भाव। इसी का विकास होता है, संचारी का नहीं। भाव विकास के पहले तदुपयोगी क्षेत्र-निर्माण किया जाता है। नाम-साधना के पश्चात् तथा मंत्र साधना की समाप्ति से पहले धीरे-धीरे यह क्षेत्र तैयार होता रहता है। तैयार होते समय यह लक्षित नहीं होता। किंतु जैसे ही दृष्टि का उन्मेष होता है यह दिखायी देने लगता है। तब यह समझ में आ जाता है कि कब और किस ढंग से उसकी रचना हुई है। यह क्षेत्र ही कुण्ड या सरोवर है, परन्तु वह जलहीन सरोवर है। जब तक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तब तक खेचरी भांड अथवा अमृतभांड से अमृतक्षरण नहीं होता। लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ अमृतक्षरण प्रारम्भ हो जाता है। तब पूर्वोक्त कुंड सलिलपूर्ण सरोवर के रूप में परिणत हो

जाता है। भक्ति साधना में इसका वर्णन काम-सरोवर के रूप में भी किया गया है। यहाँ 'काम' का अर्थ शुद्ध प्रेम है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उस अवस्था में भी वह शुद्ध प्रेम नहीं होता। उपर्युक्त लक्ष्योन्मेष काम-सूर्य का ही उदय है। कामकला-तत्वज्ञ ही इसका रहस्य जानते हैं। भाव-सरोवर में पहले भाव कलिका के रूप में प्रकट होता है। सूर्य की किरणें उसे प्रेम-कमल के रूप में विकसित कर देती हैं। जब भाव का विकास होता है अर्थात् कमल प्रस्फुरित हो जाता हैं, तब वह सरोवर के ऊपर उठ जाता है, फिर सरोवर के अन्दर नहीं रहता है। केवल नाल मृणाल के द्वारा सम्बन्ध रह जाता है। यह नाल भी जब छिन्न हो जाता है, तब भाव में प्रवेश होता है।

अब तक जो हुआ वह आभासमात्र था, वास्तविक नहीं। अन्तंजगत् में प्रवेश के पश्चात् आभास समाप्त हो जाता है और वास्तविक अष्टदल की प्राप्ति होती है। इसकी रचना अद्‌भुत है। मध्यकर्णिका के रूप में जो बिंदु है, वही अष्टदल का सार है। यही 'महाभाव है। वस्तुतः देखा जाय तो अष्टदल महाभाव का ही विभक्त रूप है।

ये आठ भाव महाभाव के अंग मात्र हैं, उसी के अन्तर्गत है। इन की समष्टि ही महाभाव है। प्रत्येक भाव महाभाव के साथ सश्लिष्ट है। प्रत्येक भाव का पूर्ण विकास महाभाव है।

**दो क्रम**

भाव से महाभाव की ओर जाने के दो मार्ग है—(२) आवर्त क्रम तथा (२) सहज क्रम। आवर्त क्रम से वृत्त के मध्य बिंदु में पहुँचने पर बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का भेद मिट जाता है। इसी को रसोदय कहते हैं। उच्चकोटि के भक्तों मे इसे सिद्धावस्था कहा जाता है। आवर्त्तमार्ग में प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा करते हुए भाव से भावान्तर में चलते-चलते क्रमशः महाभाव में पहुँचा जाता है इस मार्ग से महाभाव में उपस्थित होने पर महाभाव का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है। आवर्त्तमार्ग

से न जाकर सरल गुप्त मार्ग से भी महाभाव में पहुँचा जाता है। किंतु इस मार्ग से महाभाव का पूर्ण स्वरूप अधिगत नहीं होता। क्योंकि इस मार्ग से बिंदु के साथ केवल उस विशिष्ट दल का ही सम्बन्ध होता है, अन्य दलों का नही होता।

उदाहरणस्वरूप एक माता की आठ संतान हैं। माता प्रत्येक संतान की जननी है। उसका सम्बन्ध प्रत्येक के साथ समान है। एक ही मातृत्व आठ संतानों में विभक्त हो गया है। माता का स्नेह प्रत्येक संतान को प्राप्त होने के कारण आठ भागों में विभक्त हो जाता है। दूसरी ओर संतान के लिए माता के अतिरिक्त दूसरा लक्ष्य नहीं होता। माता जानती है कि उसकी एक ही माता है। सतान यदि अपने को आठ भाइयों में एक मानकर माता को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह संपूर्ण माता को न प्राप्त करके उसके एक देश को ही प्राप्त करेगा। उसमें संपूर्ण माता को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं होती क्योंकि वह अपने को आठ में से एक समझता है। सम्पूर्ण माता को प्राप्त करने के लिए उसे आठ में से एक न बनकर आठों के समष्टि रूप को प्राप्त करना होगा। यह क्रम विकास का मार्ग है। अर्थात् उसे क्रमशः प्रत्येक संतान के भाव में प्रस्फुरित होते हुए आठों का समन्वय करना होगा। तभी वह आठ संतानों के समष्टि रूप को प्राप्त कर सकेगा। इसी प्रकार आठों भावों के मध्यबिंदु महाभाव को प्राप्त कर सकेगा जो विभिन्न भावों की माता है। आधार पूर्ण होने पर ही माता को समग्ररूप में प्राप्त किया जा सकता है।

यह एक मार्ग है। दूसरी दृष्टि से यदि कोई अपने को ही माता की एक मात्र संतान मानता है तो वह आवर्त्तमार्ग में नही जाता। साथ ही पूर्णता भी नहीं प्राप्त कर सकता। क्योकि वह एक ही भाव तक सीमित रहता है। वह सहज मार्ग को अपनाता है जो गुप्त है। इसे योग-माया का मार्ग भी कहा जाता है। वह साक्षात् अपने स्थान पर रहता हुआ

ही माता को प्राप्त कर सकता है। उसे विभिन्न संतानों के भाव ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वह जहां अवस्थित है, वहीं से माता का दर्शन और वात्सल्य उसे प्राप्त हो सकता है। उसका बाधक या प्रतिबंधक नहीं होता। वह अपने को ही एक मात्र माता की संतान समझता है।

इसे विभिन्न संतानों के भाव ग्रहण करने को आवश्यकता नहीं है। वह जहाँ अवस्थित है, वहीं से माता का दर्शन और उसे प्राप्त कर सकता है। उसका कोई बाधक या प्रतिबंधक नहीं होता। वह अपने को ही एक मात्र माता की संतान समझता है। माता के पूर्ण स्नेह और प्यार का दावा करता है और प्राप्त भी कर लेता है। इस स्नेह और प्यार में अन्य संतान का भाग नहीं होता। माता और संतान का यह विचित्र सम्बन्ध और आनुषांगिक लीला योगमाया के आच्छादन में प्रकाशित होते हैं। प्रत्येक संतान के लिए यह व्यवस्था एक सी है। किंतु विकास होने में समय लगता है।

पहला रूप वैयक्तिक दृष्टि को लिए रहता है। उसमें प्रत्येक संतान माता को अपने तक सीमित कर लेती है। यह भाव अपने आप में पूर्ण होने पर भी माता के सर्वजननी या समग्र रूप को नहीं प्राप्त करता। यह रूप तभी प्राप्त होता है जब वह आवर्तक्रम से प्रत्येक भाव की अनुभूति करे। सहजक्रम लीला आस्वादन की एक दिशा है।

इसमें और भी अनेक रहस्य हैं। प्रथम दृष्टांत में जो संतान के विषय में उल्लेख किया गया है, उसकी आवर्तगति के मूल में आत्मलोप की भावना रहती है। द्वितीय अवस्था में जाने पर प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्था में परिणत हो जाती है। आवर्तन पूर्ण होने पर उत्तरोत्तर परि-णति द्वारा प्रथम अवस्था ही अष्टम अवस्था में परिणत हो जाती है। उसी अवस्था में माता को पूर्ण रूप में प्राप्त किया जा सकता है।

समष्टि प्राप्ति की एक प्रणाली और है। वह आत्मविकास की है, आत्मलोप की नहीं। यहाँ द्वितीय अवस्या प्रथम अवस्था में लीन हो

जाती है, और इस प्रकार आत्मविकास के साथ उत्तरवर्ती अवस्थाएं प्रथम अवस्था में लीन होती जाती हैं। इस प्रकार अष्टम भाव के लीन हो जाने पर जिस अवस्था की अभिव्यक्ति होती है, वही समष्टि संतान भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस क्रम में माता की प्राप्ति भी तदनुरूप होती है। वस्तुतः देखा जाय तो समष्टि-मार्ग के समन्वय के द्वारा ही प्रकृत समष्टि-पथ की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार व्यष्टि भाव की प्राप्ति भी समझनी चाहिए। इसमें भी दो बातें हैं। एक ओर मातृ प्रेम से आकृष्ट होकर संतान का आना और दूसरी ओर वात्सल्य से आकृष्ट होकर माता द्वारा संतान को गोद में उठा लेना। प्रकृष्ट पथ इन दोनों भावों के समन्वय पर प्रतिष्ठित है।

इससे समझा जा सकता है कि साधक विकास की समस्त भूमियों का स्पर्श किए बिना भी महाभाव को प्राप्त कर सकता है। उसे अपना व्यक्तिगत स्थान छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। लीला-आस्वादन की दिशा से व्यक्तिगत दिशा में यही वैशिष्ट्य है। यदि व्यक्तित्व का भेद स्वाभाविक माना जाए तो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति का स्थान नही ले सकता ; क्योंकि एक व्यक्ति में जो वैशिष्ट्य होता है वह दूसरे में नहीं हो सकता। क्रम विकास का मार्ग व्यक्तित्व विकास का मार्ग नहीं है, प्रत्युत उसके विलय का मार्ग है। व्यक्तित्व का त्याग करके ही क्रम-विकास किया जाता है। किंतु वास्तव में देखा जाय तो समष्टि में विलय होने पर भी व्यक्तिगत वैशिष्ट्य सर्वथा लुप्त नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव में विद्यमान रहते हुए भी, समष्टि में आत्मप्रसार कर सकता है। समष्टि अथवा उसके एक देश के साथ तादात्म्य की प्राप्ति भी हो सकती है, तब भी व्यक्तिगत स्वभाव अक्षुण्ण रहता हैं। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विकासाभिमुख व्यक्तित्व का विसर्जन स्थायी नही होता, अनिर्दिष्ट काल के लिए व्यक्तित्व का लय अनिवार्य हो जाता है। भाव से महाभाव पर्यन्त लीला राज्य का विस्तार

है। महाभाव से भावातीत का योग हुए बिना लीला का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। खंड भाव से भावातीत में स्थिति प्राप्त नही होती। अतः खंड भाव का महाभाव में विलय करके ही भावातीत अवस्था में पहुँचा जाता है।

प्रत्येक भाव भक्ति के पृथक् रूप को प्रकट करता है, तदनुसार उपास्य अर्थात् भगवान् का रूप भी पृथक्-पृथक् हो जाता है। जो भक्त शांत भाव को लेकर उपासना करता है उसके सामने भगवान् का ब्रह्म या सच्चिदानंद रूप प्रकट होता है। उसके भी अवांतर असंख्य रूप हैं। प्रत्येक भक्त अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार जिस रूप को चुनता है उसके सामने उसी की अभिव्यक्ति होती है। अतः शांत भक्ति एक होने पर भी उसके अनेक प्रकार हो जाते हैं। जो जितना विश्लेषण करेगा उतने ही सूक्ष्म भेद करने में समर्थ होगा। परन्तु समस्त सूक्ष्म भेदों को मान लेने पर भी व्यक्तित्व को समस्या का समाधान नहीं होता। क्योंकि भेद चाहे जितने प्रकार के हों सर्वत्र व्यक्तिगत भेद के लिए स्थान रहेगा। अतः प्रश्न यह है कि एक दृष्टि से जैसे शांत भाव अन्य निरक्षेप एवं पूर्ण है, दूसरी दृष्टि से पूर्णता के लिए भांत्रातर की अपेक्षा रखता हैं। शिशुरूप में शिशु निरपेक्ष एवं पूर्ण होता है; तथापि उसकी परिणति क्रमिक होती है। फलस्वरूप वह बालक, किशोर और युवक रूप में परिणत होता जाता है। इसीप्रकार शांतभाव की परिणति में दास्य भाव का विकास और दास्य भाव की परिणति में सख्य भाव का विकास होता रहता है। दूसरे भावों की भी यही बात है। प्रत्येक भाव के विकास के साथ उसके विशिष्ट गुण की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रणाली से महाभाव में परिणति होने पर सभी गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रत्येक भाव की अवांतर श्रेणियों में भी यही क्रमविकास संनिहित है। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि साधक का व्यक्तित्व इस समस्त विकास में अक्षत रहता है। व्यक्तित्व की महिमा अतुलनीय है। लीलास्वादन के अन्तर्गत रसवैचित्र्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

दृष्टान्त के रूप में 'क' एक व्यक्ति है और 'ख' दूसरा। दोनों भक्त हैं। एक श्रेणी तथा एक पर्याय में होते हुए भी दोनों के वैयक्तिक भाव परस्पर पृथक् होते हैं। यह पार्थक्य चिरकाल तक अक्षुण्ण रहता है। शांतभक्ति के पश्चात् यदि 'क' और 'ख' दास्य भक्ति के स्तर में पहुँचते हैं, तो वहाँ भी दोनों का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बना रहेगा। क 'ख' या अन्य नहीं बनेंगा; और 'ख' भी 'ख' ही रहेगा। इतना ही नहीं, माधुर्य भाव के अन्तर्गत अवांतर विभागों का भेद करके महाभाव में प्रवेश करने पर भी व्यक्तिगत पार्थक्य समाप्त नहीं होता। वृत्त के अन्तर्गत प्रत्येक बिन्दु केन्द्र में प्रविष्ट होने पर भी अपने-अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। ऐसा न करने पर लीलास्वादन का माधुर्य नहीं रहता। एक जिस प्रकार एक रूप में सत्य है, इसी प्रकार अनंत रूप में भी सत्य है। एक ही अनंत रूपों में खेल करता है। एक में जैसे अनंत है, वैसे ही अनंत में एक है—यही लीला का रहस्य है।

पहले कहा जा चुका है कि भाव ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति-विशेष है ; यही भक्ति का स्वरूप है। परिपक्व अवस्था में इसका नाम प्रेम है। यह अनंत प्रकार का है—इन अनंत प्रकारों में पुनः व्यक्तिगत अनंतत्व रहता है। उसके बिना लीला या खेल नहीं चल सकता। इस व्यक्ति में ही स्वातंत्र्य रहता है और इसी कारण कोई एक व्यक्ति अपने सजातीय अन्य व्यक्ति के समान नहीं होता। कुछ स्वातंत्र्य उसमें अनिवार्य रूप में रहता है जो स्वरूप शक्ति और तटस्थ-शक्ति का संयोग है। भक्ति या भाव ही स्वरूप-शक्ति है, परन्तु उस भक्ति का आश्रय स्वरूप शक्ति की वृत्ति नहीं, तटस्था शक्ति का कार्य अर्थात् जीव है। रागात्मिका भक्ति जब जीव-विशेष में अभिव्यक्त होती है तब उसे जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, अन्य जीव में उसी भावविशेष के अभिव्यक्त होने पर उसे वही वैचित्र्य नहीं प्राप्त होता। यही व्यक्तित्व की महिमा है। इसी के कारण लीला है; अन्यथा वह अनुकरणात्मक कृत्रिम अभिनय मात्र होगा।

भाव का आश्रय जीवरूपी अणु है । देह के साथ संबंध होने पर वह अन्तःकरण से परिच्छिन्न हो जाता है । चाहे जिस कारण से हो, सांसारिक अवस्था में जीव और अन्तःकरण तादात्म्यसूत्र में आबद्ध हैं । परन्तु जीव अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, वह अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर समस्त देह को अनुप्राणित करता है । लौकिक भाव का वही नियम है । परन्तु प्रवर्तक अवस्था में देह और अन्तःकरण शुद्ध हो जाते हैं और स्वभाव का विकास हो जाता है, तब स्थूलदेह के साथ सांकर्य नहीं रहता । उस समय यह भाव स्थूलदेह से पृथक् होकर भावदेह के रूप में अभिव्यक्त होता है । भावदेह भावरूपी अर्थात् शुद्ध सत्तात्मक कार्य एवं जीवरूपी चिदणुस्वरूप प्राण—दोनों का सम्मिलित स्वरूप है ।

भाव अथवा भक्ति-साधना की चरम परिणति में एक ओर रस की अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर महाभाव का विकास । रस के विशुद्ध और पूर्णतम स्वरूप प्राप्ति अथवा उपलब्धि महाभाव के विकास के बिना नहीं हो सकती । परन्तु महाभाव का विकास भाव की विशिष्ट अभिव्यक्ति पर निर्भर है । भाव के अनेक भेद हैं और उनमें क्रमानुगत संबंध है—साथ ही प्रत्येक भाव स्वतंत्र और निरपेक्ष हैं । यह भेद सृष्टि-कालीन जीव के स्वरूपगत भेद के कारण होता है ।

भाव की उत्पत्ति क्रम विकास द्वारा हो अथवा अक्रमविकास द्वारा । शांत का मधुर में परिणाम हुए बिना, स्वभावसिद्ध मधुरभाव के बिना महाभाव का मार्ग प्राप्त नहीं होता । मधुरभाव प्राप्त होने पर भी, यदि प्रतिबंधक दूर न हो तो भाव विकास के मार्ग से महाभाव तक नहीं पहुँचता मधुरभाव के रूप में सामंजस्य अथवा साधारणीकरण हुए बिना सामर्थ्य नहीं आता ।

भाव-साधना की दो दिशाएं हैं । एक में गुण-वृद्धि के साथ-साथ शांत से दास्य, दास्य से वात्सल्य इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्ण गुणोदय के साथ माधुर्य भाव का विकास होता है । माधुर्य प्राप्त करके सामंजस्य और साधारणत्व

का विकास आवश्यक होता है। उसके पश्चात् इसी के अनुरूप साधन-क्रम के अवलंबन द्वारा महाभाव की ओर अग्रसर होना संभव होता है। व्यक्तिविशेष में कृपादि निमित्त से अथवा स्वभावतः उत्कर्ष प्राप्त होने पर उपयुक्त साधन क्रम का काठिन्य कम हो जाता है। दूसरी दिशा में गुण वृद्धि की चेष्टा न करके अपने गुण में आबद्ध रहने तथा अपनी भूमि में रहते हुए ही भाव को प्रेम में परिणत करने की चेष्टा की जाती है। शांत भाव शांत रहते हुए ही प्रेम में परिणत हो सकता है। इसके लिए दास्यभाव में अथवा तदनुरूप अन्य भाव में विकास आवश्यक नहीं होता। प्रेमावस्था का परिपाक होने पर भगवान् के दर्शन प्रत्येक भाव के द्वारा हो सकते हैं। भावांतर का आश्रय आवश्यक नहीं है। परन्तु यह सत्य है कि भगवान् के दर्शन होने पर भी तथा भविष्य में रस की अभिव्यक्ति और लीला में अधिकार होने पर भी उसे एक ही भाव की सीमा में बँधे रहना पड़ेगा।

अष्टदल कमल बाह्य और आंतरभेद से दो प्रकार का है। आभ्यंतर कमल 'बिन्दु' स्वरूप है और बाह्य आठ दिशाओं में विकसित आठ पंखुरियां। बाह्य कमल ही भावराज्य है। इसमें निरंतर आठ भावों का खेल चल रहा है। ये ही अष्टकालीन लीला के कालातीत आठ विभाग हैं। प्राकृतिक नियमों से इन आठ दलों की परिक्रमा पूर्ण कर लेने पर मध्य बिंदु में प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यबिंदु माधुर्यमय है। विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि वह भी आठ भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग मध्य बिन्दु का अवयव है जिसे 'कला' कहा जाता है। यही आठ सखियाँ हैं। इनमें भी बाह्य और आभ्यंतर का भेद है। आठ भावों का निष्कर्ष या निर्यास महाबिन्दु अर्थात् महाभाव है। उसमें भी उत्कर्षगत तारतम्य रहता है। वैष्णव दर्शन में इसकी चरम परिणति को राधातत्त्व कहा गया है। भावसाधना के फलस्वरूप जीव बाह्य अष्टदलों के प्रथम दल से आवर्तित होते हुए क्रमशः महाभाव के चरम विकास तक पहुँचता है। उस

समय पूर्णतम मिलन और सामरस्य हो जाता है। वाह्य अष्टदल तथा अष्टकला रूपी भीतर के अष्टदल के बीच असंख्य अवांतर स्तर है। जिस रस के विषय में कहा गया है, उसकी अभिव्यक्ति भावराज्य में सर्वत्र हो सकती है, परन्तु भाव के अन्तमु‍र्खी विकास की आवश्यकता अवश्य स्वीकार करनी होगी। अर्थात् यदि कोई भाव अपने विशुद्ध रूप में है तो उसके प्रेमरूप में परिपक्व होने पर तथा अपने स्वभाव के अनुसार भगवान् के दर्शन और रस की उपलब्धि होती है। क्रमशः तदनुरूप लीलाभाव का आविर्भाव होता है। परन्तु रस का पूर्णत्व और मधुरत्व तभी संभव है जव भावों की गुणवृद्धि से होने वाले एवं अन्यान्य प्रकार के विकास भी संपन्न हों।

# हठयोग

## हठयोग

हठयोग में मुख्यतया प्राणायाम तथा शारीरिक अभ्यास बताए गए हैं। लय अर्थात् कुंडलिनी योग में शरीर और मन शिव में लीन हो जाते हैं। तंत्रशास्त्र इसे सर्वश्रेष्ठ योग मानता है। राजयोग और ज्ञानयोग में मन की एकाग्रता पर बल है। किंतु वहाँ अन्य उपाय भी सहायक के रूप में स्वीकार किए गए हैं। मंत्रयोग में पूजा और भक्ति की प्रधानता है। प्रत्येक पद्धति में अन्य पद्धतियों को सहायक माना गया है। हठ और लय योग में क्रिया ज्ञान मुख्य है। राजयोगी तथा ज्ञानयोगी परमात्मा का सात्क्षात्कार मन की एकाग्रता तथा बौद्धिक विश्लेषण द्वारा करते हैं। कुंडलिनी का सहस्रदल पद्म में पहुँच कर शिव के साथ मिलन वास्तव में देखा जाय तो स्वरूपज्ञान ही है। प्रत्येक पद्धति में नैतिकता, जीवन-शुद्धि तथा अनुशासन को आवश्यक माना गया है। यम, नियम आदि के रूप में इन्हीं बातों का प्रतिपादन है।

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित आठ अंगों में प्रथम पाँच अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को बहिरंग योग कहा गया है। अंतरंग योग के तीन भेद हैं—धारणा, ध्यान और समाधि। ये तीनों मिलकर मानसिक नियंत्रण के अभ्यास को पूरा करते हैं। धारणा का अर्थ है मन को एक विषय पर जमाना। ध्यान का अर्थ है, उसी पर लंबे समय तक स्थिर रखना। समाधि का अर्थ है मन का ध्येय में लीन हो जाना। तंत्रसाधना में पांच महाभूतों के देवताओं की धारणा की

जाती है अर्थात् उन पर मन को स्थिर किया जाता है। ध्यान में अन्य सब विचारों को हटाकर एक मात्र उन्हीं का चिंतन किया जाता है। ध्यान के द्वारा ध्येय विषय मानासिक प्रत्यक्ष होने लगता है। अर्थात् जिस विषय का ध्यान किया जाता है, आंखें बंद करने पर भी ज्यों का त्यों दिखाई देने लगता है। समाधि का अर्थ है पानी में नमक के समान मन का आत्मा में लीन होना। वहाँ दोनों मिलकर एक हो जाते है। पूर्ण समाधि को परा-संवित् कहा जाता है अर्थात वहाँ एक मात्र शुद्ध चेतना का भान रह जाता है। इसके दो भेद हैं - सविकल्प और निर्विकल्प। पहले में ग्राह्य-ग्राहक आदि का भेद रहता है। दूसरे में नहीं रहता। अद्वैत वेदांत में समाधि की तीन श्रेणियां हैं—ऋतंभरा, प्रज्ञालोक और प्रशांतवाहिता। ऋत का अर्थ है सत्य या परमात्मा। मनमें तदाकारवृत्ति होना ऋतंभरा-समाधि है। इसमें ज्ञाता को स्व का भान रहता है। प्रज्ञा का अर्थ है ज्ञान और आलोक का अर्थ है प्रकाश। जब समस्त आवरण हट जाते हैं और साधक को सत्य का साक्षात्कार होने लगता है, उस अवस्था को प्रज्ञालोक कहते हैं। इस प्रकाश के होते ही मन के सारे विक्षेप दूर हो जाते हैं। वह शांत होकर एक ही धारा में बहने लगता है। प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। इस अवस्था को प्रशांत-वाहिता कहते हैं। चित के प्रशांत होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का विषय एक होने पर उसे संयम कहा जाता है।

ये तीनों मानसिक एकाग्रता की उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। हठयोग के अनुसार वे प्राणायाम का ही विकसित रूप हैं। इनमें प्राण का उत्तरोत्तर अधिक समय के लिए निरोध किया जाता है। सविकल्प समाधि के द्वारा मन की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। केवल बुद्धि का व्यापार शेष रहता है। सुख और दुख में समता एवं वैराग्य के अभ्यास से बुद्धि का भी लय हो जाता है और योगी आत्मा की शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर

लेता है। बुद्धि से परिच्छिन्न आत्मा का नाम ही जीव है। उसका विलय होने पर जीव का भी विलय हो जाता है।

हठयोग में स्थूल शरीर पर नियंत्रण का अभ्यास किया जाता है। उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर अर्थात् इन्द्रियां, मन और बुद्धि पर नियंत्रण हो जाता है। यहाँ अधिकारी का निर्णय शारीरिक योग्यता के आधार पर किया जाता है। ऐसे नियमों का विधान है जिनके द्वारा शरीर को स्वस्थ एवं शक्तिशाली बनाया जा सकता है। हठयोग में भ्रूमध्य के अंतर्गत ज्योति का ध्यान किया जाता है। इसके फलस्वरूप जो समाधि प्राप्त होती है उसे महाबोध कहते हैं। हठयोग का मुख्य साधन प्राणायाम है। प्राण के निरुद्ध हो जाने पर मन अपने आप निरुद्ध हो जाता है।

हठयोग का प्रारम्भ स्थूल शरीर से होता है जो सूक्ष्म शरीर का आधार है। स्थूल शरीर पर जो प्रभाव होते हैं वे सूक्ष्म शरीर पर भी असर डालते हैं। उदाहरण के रूप में शरीर के अस्वस्थ होने पर हमारी इच्छा और बुद्धि में भी अन्तर आ जाता है। स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर का भोग-साधन माना गया है। उसमें जिन कर्म या संस्कारों का संचय होता है, वे स्थूल शरीर द्वारा भोगे जाते हैं। दूसरी ओर स्थूल शरीर जो क्रियाएँ करता है, वे सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करती रहती है।

हठ शब्द में दो अक्षर है। 'ह' और 'ठ'। 'ह' का अर्थ है प्राण और 'ठ' का अर्थ है अपान। प्राण का स्थान हृदय है और अपान का मूलाधार। दोनों एक दूसरे को आकृष्ट करते रहते हैं। जिस प्रकार डोरी से बंधा पक्षी ऊपर उड़ने की कोशिश करता है, किंतु डोरी उसे खींचे रखती है। दूसरी ओर पक्षी डोरी को खींचे रहता है। परस्पर आकर्षण के कारण कोई भी सीमा से आगे नहीं जा पाता। इसी प्रकार प्राण और अपान एक दूसरे को खींचे रहते हैं। दोनों की गति परस्पर विरुद्ध होने के कारण कोई भी शरीर से बाहर नहीं निकल सकता। किंतु जब दोनों की गति

एक ही दिशा की ओर हो जाती है तो वे शरीर को छोड़ देते हैं। दोनों का यह सम्बन्ध या योग सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश होने पर होता है।

हठयोग का ही दूसरा नाम प्राण-विद्या है। जो प्राण को शक्तिशाली बनाने का मार्ग है। व्यष्टि प्राण, समष्टि प्राण का अंश है। अर्थात् प्रत्येक शरीर में जो प्राण है, वह समस्त विश्व का संचालन करने वाले महाप्राण के साथ जुड़ा है। सर्वप्रथम व्यष्टि या पिंड प्राण को समष्टि या ब्रह्मांड प्राण के साथ जोड़ने का अभ्यास किया जाता है। उससे शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त होते है। प्राणों पर नियंत्रण एवं नियमितता आने पर मन में भी नियमितता आती चली जाती है। जिस प्रकार अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव एक हैं, उसी प्रकार मन, प्राण और वीर्य भी परस्पर सबद्ध हैं। एक पर नियंत्रण होने से दूसरे पर अपने आप नियंत्रण हो जाता है। मन पर नियन्त्रण होने पर प्राण और वीर्य अपने आप नियंत्रित हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राण पर नियन्त्रण होने पर मन और वीर्य नियंत्रित हो जाते हैं। जब वीर्य पर नियन्त्रण हो जाता है और वह स्थूल होकर ऊपर की ओर उठने लगता है, उस समय योगी को उर्ध्वरेता कहा जाता है। उसके मन और प्राण अपने आप नियन्त्रित हो जाते हैं। प्राणायाम से वीर्य सूखने लगता है और उसकी गति ऊपर की ओर होने लगती है। मस्तक में पहुँचने पर वह 'अमृत' बन जाता है इसी को शिव-शक्ति का मिलन कहा जाता है।

प्राणायाम को योग की समस्त पद्धतियों ने स्वीकार किया है। किंतु हठयोग में इसी की मुख्यता है। यहाँ इसी के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है। हठयोग की मान्यता है कि मन प्राण का अनुसरण करता है। प्राण के चंचल होने पर चंचल हो जाता है और स्थिर होने पर स्थिर। जब प्राण और अपान सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरध्र में पहुँच जाते हैं समाधि अपने आप लग जाती है। शरीर और मन परस्पर बँधे हैं। एक की हलचल दूसरे में हलचल तथा एक की स्थिरता दूसरे में स्थिरता उत्पन्न

करती है। हठयोग शरीर और प्राण के निरोध द्वारा मन के निरोध का अभ्यास है। इसमें आसन एवं मुद्राओं के रूप में पहले शारीरिक अभ्यास किये जाते हैं। फिर प्राणायाम द्वारा मन को एकाग्र किया जाता है। अन्त में समाधि प्राप्त हो जाती है।

हठयोग की सात भूमिकाएं हैं, जो उत्तरोत्तर प्राप्त की जाती हैं।

(१) शोधन—नेती-धोती आदि षट्कर्मों द्वारा शरीर शुद्धि।

(२) दृढ़ता—विविध आसनों द्वारा शरीर को मजबूत बनाना।

(३) स्थिरता—मुद्राओं द्वारा शरीर को स्थिर रखने का अभ्यास।

(४) धैर्य—प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रिय निग्रह द्वारा मन को स्थिर करना।

(५) लाघव—प्राणायाम द्वारा शरीर को हल्का बनाना।

(६) प्रत्यक्ष—ध्यान द्वारा ध्येय वस्तु का साक्षात्कार।

(७) निर्लिप्तता—समाधि द्वारा समस्त विषयों से निर्लिप्त होना।

वात, पित्त और कफ सम्बन्धी विकार दूर करने के लिए षट्कर्म किए जाते हैं। त्रैधातुक विकार दूर होने पर प्राणायाम सरल हो जाता है। जिनके शरीर में ये विकार नही है उन्हें षट्कर्म की आवश्यकता नहीं है। कुछ आचार्यों का यह भी मत है कि प्राणायाम ही सब विकारों को दूर कर देता है। हठयोग में षट्कर्म पहली भूमिका है। शरीर और नाड़ियों का शोधन होने पर स्वास्थ्य प्राप्त होता है, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है और कुंभक की योग्यता प्राप्त होती है। आवश्यकता पड़ने पर औषधि का सेवन भी किया जाता है। षट्कर्म नीचे लिखे अनुसार है—

(१) **धौति** : अर्थात् धोना। इसके चार भेद हैं—(क) अन्तर्धौति—कपड़े आदि के द्वारा शरीर को अन्दर से शुद्ध करना, (ख) दंतधौति—दाँत आदि की सफाई, (ग) हृद्धौति—कंठ और छाती को शुद्ध करना, (घ) मूलधौति—मल द्वार को शुद्ध करना।

अन्तर्धौति के भी चार प्रकार हैं—(क) वातसार-उदर में हवा भर कर निकालना, (ख) वारिसार-गुदा में पानी भरकर निकालना (ग)

वन्हिसार—नाभि का मेरुदंड से स्पर्श करना, (घ) बहिष्क्रत—काकिनी मुद्रा द्वारा शरीर को वायु से भरकर कुछ देर रोकना और फिर निकाल देना।

दन्त धौति के भी चार प्रकार हैं—(क) मसूड़े साफ करना, (ख) जिह्वामूल को साफ करना, (ग) कर्ण विवर साफ करना, (घ) कपाल-रंध्र को साफ करना।

हृद् धौति में दांतुन कपड़े या मन द्वारा कफ और पित्त को दूर किया जाता है।

मूल धौति में अंगुली या वृक्ष की कोमल शाखा द्वारा गुदा द्वार को साफ किया जाता है।

(२) **बस्ति**—बस्ति के दो भेद हैं—प्रत्येक के पुनः दो भेद हैं। शुष्क और आर्द्र। आर्द्र बस्ति में योगी घुटनों के बल पानी के बर्तन में बैठ जाता है, पानी का स्तर नाभि तक होता है। योगी आश्विनी मुद्रा द्वारा उसे ऊपर खींचता है। पश्चिमोत्तानासन द्वारा भी ऐसा किया जाता है। इसमें उदर को धीरे-धीरे हिलाते हैं।

(३) **नेति**—डोरा डालकर नासिका द्वार को शुद्ध करना।

(४) **लौलिकी**—पेट को ऊपर से नीचे की ओर दाएँ से बाएँ हिलाना।

(५) **त्राटक**—पलकों को बिना झपकाए लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करना। जब आँखों में पानी आने लगे तो इसे बन्द कर देना चाहिए। तंत्रशास्त्र का कथन है कि इससे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

(६) **कपालभाति**—इसके द्वारा कफ को दूर किया जाता है। इसके तीन भेद हैं—(क) वातक्रम—सांस लेना और छोड़ना, (ख) व्युत्क्रम—नाक से पानी पीकर मुंह से निकालना, (ग) सीत्क्रम—मुंह से पानी पीकर नाक से निकलना।

इन उपायों द्वारा शरीर शुद्ध हो जाता हैं।

### आसन

हठयोग का दूसरा अंग आसन है। इसके द्वारा दृढ़ता प्राप्त होती है, जो हठयोग की दूसरी भूमिका है। जितनी जीवयोनियाँ हैं, उतने ही आसन हैं। इस आधार पर उनकी संख्या ८४ लाख है। उनमें से १६०० उत्तम माने गए हैं। पुरुषों के लिए ३२ प्रशस्त बताये गए हैं। इनमें से दो हैं — मुक्त पद्मासन और बद्ध पद्मासन। कुंडलीनी योग में सिद्धासन तथा ऐसी मुद्राएं लगाई जाती हैं जिनमें एक पैर की एडी गुदाद्वार का निरोध करती है, और दूसरी शिश्न के ऊपर रखी जाती है। कर्ण, नासिका, चक्षु, तथा मुख के विवर अंगुलियों द्वारा रोक दिए जाते हैं। इसी को योनिमुद्रा कहा जाता है। दाँये पैर की एडी गुदा द्वार पर जमा दी जाती है और बाँये पैर की जननेंद्रिय पर। शिश्न को संकुचित्त करके दोनों के बीच दबा दिया जाता है, जिससे दिखाई न दे, साथ ही खेचरी मुद्रा द्वारा जीभ को उलट कर कंठ द्वार रोक लिया जाता है।

तत्रसाधना में अन्य आसनों का भी विधान है—जैसे मुंडासन, चितासन, तथा शवासन। मुंडासन में खोपड़ियों का आसन बनाकर अभ्यास किया जाता है। चितासन में चिता को और शवासन में में मृत शरीर को। इन आसनों का लक्ष्य सांसारिक कामनाओं की पूर्ति है। किंतु आध्यात्मिक साधना के रूप में भी इनका महत्व कम नही है। इनके द्वारा भय तथा घृणा पर बिजय प्राप्त होती है। समत्व बुद्धि का विकास होता है।

इसी उद्देश्य को सामने रखकर साधना के लिए एकांत पर्वतशिखर सूना घर, नदीतट और श्मशान आदि स्थान बताए गए हैं। श्मशान के दो प्रकार हैं—वाह्य और आभ्यंतर। बाह्य श्मशान वह है जहाँ मृत शरीरों को जलाया जाता है। आभ्यंतर श्मशान हृदय में है वहाँ समस्त कामनाओं और इच्छाओं का दाह किया जाता है।

विचार शुद्धि के लिए आसन की स्थिरता भी आवश्यक है। शारीरिक हलचल मन में हलचल उत्पन्न करती है। पंतजलि ने बताया है कि जिस

अवस्था में स्थिरता और सुख पूर्वक बैठा जा सके उसी का नाम आसन है। इसका निर्णय प्रत्येक साधक स्वयं करता है कि उसके लिए कौन सा आसन उपयुक्त है। जब आसन के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती, वह स्वाभाविक हो जाता है। तब समझना चाहिये कि वह सिद्ध हो गया है। आसन स्थिर होने पर रजोगुण से होने वाली मन की चंचलता रुक जाती हैं। और संतुलन प्राप्त होता है।

कुछ आसन विभिन्न अंगों में प्राणवायु का संपर्क स्थापित करते हैं और प्राणायाम में सहायक होते हैं। जिस प्रकार यमों में अहिंसा, नियमों में मिताहार मुख्य हैं, उसी प्रकार आसनों में सिद्धासन है। इसका अभ्यास होने पर उन्मनी अवस्था अनायास ही प्राप्त हो जाती है और तीन बंध लगने लगते हैं।

**मुद्राएं**

स्थिरता के लिए मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है। हठयोग में इनका अर्थ है शारीरिक संस्थान। वे एक प्रकार का व्यायाम है जिनसे रोग का नाश और स्वास्थ्य प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप जालन्धर बंध तथा अन्य मुद्राओं को उपस्थित किया जा सकता है। हठयोग का दावा है कि मुद्रा सिद्ध होने पर योगी को आग नहीं जला सकती। वह पानी में नहीं डूबता। आंधी तथा तूफान उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। शारीरिक शक्ति एवं स्वास्थ्य का मन पर प्रभाव पड़ता है और मन तथा शरीर के एकसूत्र होने पर सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं।

मुद्रा के द्वारा कुंडलिनी शक्ति का द्वार खुल जाता है। प्रत्येक साधक को समस्त मुद्राओं या आसनों का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने स्वभाव तथा योग्यता के अनुसार कुछ साधन चुन लेने चाहिए।

घेरंड संहिता में अनेक मुद्राओं का वर्णन है। उनमें दस कुंडलिनी योग के लिए उपयोगी बताई गई हैं। खेचरी मुख्य हैं।

योनि-मुद्रा में योगी सिद्धासन से बैठ जाता है और अंगुलियों से कान, आँख, नाक तथा मुँह को बंद कर लेता है, जिससे उन पर किसी बाह्य विषय का प्रभाव न हो। सिद्धासन का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उसमें गुदाद्वार को एड़ी से बन्द कर लिया जाता है और शिश्न को दोनों पैरों के बीच दबा दिया जाता है। इसके पश्चात् योगी काकिनी मुद्रा द्वारा प्राणवायु खींचता है और उसे अपानवायु के साथ जोड़ देता है। क्रमशः षट्चक्रों का ध्यान करता है और 'हुँ हंसः' मंत्र द्वारा कुल कुंडलिनी को जागृत करता है। 'हं' सूर्य का बीजाक्षर है। उसके द्वारा शरीर में उष्णता आती है और उसका कुंडलिनी शक्ति पर प्रयोग किया जाता है। 'सः' के द्वारा इच्छा शक्ति को जागृत किया जाता है। मूलाधार में स्थित प्राणवायु दो प्रकार की है—एक का नाम चन्द्र है, दूसरी का सूर्य। 'हंसः' के उच्चारण द्वारा उसे जागृत किया जाता है। 'हं' अपनी उष्णता के द्वारा उसे जागृत करता है और 'सः' ऊपर की ओर चलाता है।

क्रमशः वह सहस्रार में पहुँच जाती है। वहां कुंडलिनी शक्ति का शिव के साथ मिलन हो जाता है और शक्ति तथा आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी को ब्रह्म भाव कहा जाता हैं।

अश्विनी मुद्रा से बार-बार गुदा का संकोच और प्रसार किया जाता है। यह मलशुद्धि के लिए उपयोगी है। षट्चक्रभेद में इसका उपयोग अपानवायु के अवरोध के रूप में किया जाता है।

### शक्तिचालन मुद्रा

इसके पश्चात् शक्ति-चालन नाम की मुद्रा की जाती है। इसके द्वारा वायु का सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराया जाता है। इस मुद्रा में उदर को दांए से बांए और बांए से दांए हिलाते हैं। इस चालन का उद्देश्य भी कुंडलिनी को जाग्रत करना है। इसके साथ सिद्धासन में बैठकर पूरक प्राणायाम किया जाता है और प्राण तथा अपान मिला दिया जाता है।

शक्ति चालन मुद्रा के साथ योनिमुद्रा भी करनी चाहिए। किन्तु ऐसा करने से पहले उसका अच्छी तरह अभ्यास होना आवश्यक है।

अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा एवं उपस्थ का संकोच किया जाता है। जिससे वायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। उस समय विचित्र प्रकार का शब्द सुनाई देता है। तत्पश्चात् 'हं हंस:' मंत्र के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत किया जाता है और कुंभक के द्वारा वह सहस्रार में पहुँच जाती है। उस समय योगी शिव और शक्ति के मिलन का ध्यान करता है। अपने आपको आनन्द तथा ब्रह्म स्वरूप मानने लगता है।

महामुद्रा तथा महावेध का अभ्यास महाबंध के साथ किया जाता है। इसमें साधक बांए पैर की ऐड़ी को मूलाधार पर जमा देता है और दांए पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़ लेता है। उसके पश्चात् जालंधरबंध लगाकर सिर को फैले हुए पैर के घुटने पर दबा दिया जाता है। कुंडलिनी के जाग्रत होने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। इड़ा और पिंगला प्राण निकल जाने के कारण निर्जीव सी हो जाती है। श्वास को धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए। इस मुद्रा का अभ्यास दांए और बांए पैर के साथ बारी-बारी से करना चाहिए। जितनी बार दांए से किया जाये उतनी ही बार बांए से भी करना चाहिए।

## महावेध

महावेध में योगी महाबन्ध लगाकर पूर्वोक्त प्रकार से प्राण और अपान की गति को रोक देता है। तत्पश्चात हथेलियाँ भूमि पर जमा कर अधोभाग से उसका ताड़न करता है। इस प्रकार प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश होने पर चन्द्र, सूर्य और आग्नि अर्थात् इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियाँ, सम्मिलित हो जाती हैं। शरीर मृत के समान हो जाता है। शनैः शनैः श्वास का परित्याग करने पर पुनः चेतना में आता है। कुंडलिनी को जागृत करने का दूसरा प्रकार है—योगी वज्रासन से बैठकर पैरों को टखनों से ऊपर दृढ़ता से पकड़ लेता है और उनके

द्वारा धीरे-धीरे कांड का ताड़न करता है। भस्त्रिकाकुंभक द्वारा उदर को संकुचित कर लिया जाता है

## खेचरीमुद्रा

जीभ को ऊपर की ओर उल्टी ले जाकर तालु-कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गढ़ा ) में लगाए रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके लिए जिह्व को लंबाया जाता है उसके तीन उपाय हैं—

१. छेदनः जीभ के नीचे के भाग में एक भूताकार नाड़ी उसे नीचे वाले दाँतों की जड़ के साथ बांधे हुए हैं और नीचे की ओर खींचती रहती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। इसके लिए स्फटिक द्वारा उसका छेदन किया जाता है, इस प्रकार क्रमशः जिह्वामूल तक काट देना चहिए। स्फटिक फेरने के पश्चिात् माजूफल का कपड़छान चूर्ण ( Tayirinacid टेरिन एसिड ) जीभ के ऊपर-नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किए हुए स्थान पर लगावें।

यह छेदन-विधि सुगम है और इससे हानि पहुंचने की संभावना नहीं है, साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा को बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगा कर करते है। छेदन और खाल छीलने के लिए तीक्ष्ण यंत्रों की आवश्यकता होती है, नाड़ी के संपूर्ण अंश के एक साथ कट जाने पर वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से करना चाहिये। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती हैं, जिनकी जीभ और नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लंबी और नाड़ी पतली होती है, छेदन की आवश्यकता नहीं।

चालन व दोहन—अंगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों को अंगुली से जीभ का गाय के स्तन-दोहन जैसे पुनः पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अंतिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुँच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओं के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आए हैं। किसी जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है इसे काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न नाड़ी होती है, न मांस। उसे छेदन की आवश्यकता नहीं है।

## शांभवी मुद्रा

मूल और उड्डीयान बंध के साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शांभवीमुद्रा है। इस मुद्रा के लगने पर मन सर्वथा वृत्तिशून्य हो जाता है। बंधों का निरूपण आगे किया गया है।

## बंध

बंधों का अन्तर्भाव भी मुद्राओं में किया जाता है। इनके द्वारा प्राणों का निरोध होता है। उनमें तीन मुख्य है। (१) उड्डीयान, (२) मूल, और (३) जालंधर।

## उड्डीयान बंध

दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बल पूर्वक खींचकर मेरुदंड (रीढ़ की हड्डी) से ऐसा लगा दे जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा

सा दिखे। जितना पेट को अन्दर को ओर अधिक खींचा जाएगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बंध का नाम उड्डीयान रखा गया है, यह बंध पैरों के तलुओं को बिना भिड़ाए हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मंदाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि का प्रदीप्त और फेफड़े ता शक्तिशाली होना।

## मूलबंध

मूल गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बंध है। वामपाद की ऐड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कंद के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक सकोचन द्वारा अधोगत अपानवायु को धीरे-धीरे ऊपर को ओर खींचने को मूलबंध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बंध अच्छा लगता हैं अन्य आसनों के साथ ऐड़ी को सीवनी पर बिना लगाए भी मूलबंध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायु का ऊर्ध्वगमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। कुंडलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठ-बद्धता दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने, और वीर्य को ऊर्ध्व-रेतस् बनाने में बंध अति उत्तम है।

## जालंधर बंध

कंठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढता पूर्वक कंठकूप में स्थापित करे। हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल रहे, सीना आगे की ओर तना हो। यह बंध कंठ के नाड़ी-जाल को बाँधे रखता है, इसलिए इसका नाम जालंधर बंध रखा गया हैं।

फल—कंठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कठ के संकोच द्वारा इढ़ा, पिंगला नाड़ियों के बन्द होने पर प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएं मूलबंध और उड्डीयान बंध के साथ किए जाते है। राजयोग में ध्यान के समय जालंधरबंध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

अपान की स्वाभाविक गति नीचे की ओर होती है, किन्तु मूलबंध लगाकर जब गुदा संकोचन किया जाता है तो गति ऊपर की ओर हो जाती है और वह प्राण के साथ मिल जाती है। अपान नाभि के नीचे अग्नि के पास पहुँचकर उसे उद्दीप्त करती है, और अधिकाधिक उज्ज्वल और शक्तिशाली होती जाती है। अग्नि के प्रदीप्त होने पर शरीर में उष्णता बढ़ जाती है और वह सुप्त कुंडलिनी को जगा देती है। जाग्रत कुंडलिनी सुषुम्ना में प्रवेश करती है।

जालंधर-बंध प्राण शक्ति के १६ आधारों अर्थात् नाड़ियों को बाँध लेता है। इसके फलस्वरूप तालुमूल से अमृत झरने लगता है और प्राण का सुषुम्ना में लय हो जाता है। जब कंठ द्वार को रोककर प्राणवायु का तथा गुदासंकोचन द्वारा अपानवायु का निरोध किया जाता है तो दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाते हैं।

## महाबंध

महाबंध के द्वारा भी तीनों नाड़ियों के प्रवाह को एक ही दिशा में परिवर्तित किया जा सकता है। इसमें अन्य क्रियाओं के साथ मन को आज्ञा चक्र पर स्थिर करना होता है।

**पहली विधि**—बाएं पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में जमाकर बायी जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारंध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालंधर बंध लगावे। फिर मूलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबंध लगावे। मन को मध्यनाड़ी में लगाये हुए यथाशक्ति कुंभक करे! तत्पश्चात् पूरक के विपरीतवाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकाओं से अनुलोम-विलोम-रीति से प्राणायाम करे।

**दूसरी विधि**—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठकर योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़ कर अपानवायु को ऊर्ध्वगामी करके नाभिस्थ समान-वायु के साथ मिलादे और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़रूप कुंभक करे।

**फल**—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम, बल की वृद्धि इत्यादि।

ध्यानबिन्दु उपनिषद में आया है कि मन प्राणों के साथ ऊपर तथा नीचे गति करता। कभी विश्रांति नहीं लेता।

**हठ योग के आठ अंग**—राजयोग के समान हठयोग के भी आठ अंग हैं।

**यम**—तंत्रसाधना में यम के १० भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच। शौच के दो भेद हैं। शारीरिक या बाह्य शोच, हठयोग के द्वारा प्राप्त होता है और आभ्यंतर शौच अध्यात्म विद्या के द्वारा।

**नियम**—नियम के भी दश भेद हैं—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर पूजा, शास्त्र श्रवण, ह्री अर्थात् पाप करने में लज्जा, मति अर्थात् शास्त्रविहित ज्ञान तथा कर्म के प्रति श्रद्धा, जप, होम और व्रत अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान। पंतजलि ने पाँच ही यम बताए हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा अन्य सब यमों का मूल है। पतंजलि ने शौच का समावेश नियमों में किया है। उनकी संख्या पाँच है। शोच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। यम और नियमों के अभ्यास से सांसारिक भोगों के प्रति विरक्ति होने लगती है और साधक का झुकाव आत्म साक्षात्कार या मोक्ष की ओर हो जाता है।

यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ चित्त शुद्धि हैं। जो कर्तव्य पालन, शुद्ध-विचार, वैराग्य तथा एकाग्रता से प्राप्त होती है। इन अभ्यासों से मन उन सब वृत्तियों से मुक्त हो जाता है जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में प्रकट

नहीं होने देती। अभ्यास द्वारा मन अंतर्मुख हो जाता है और उसका बुद्धि अर्थात विवेक शक्ति में विलय हो जाता है। क्रमशः बुद्धि का प्रकृति में, और प्रकृति का आत्मा में।

**धारणा**—इष्ट मंत्र का हृदयकमल में ध्यान। धारणा से इन्द्रियों का निग्रह होता है। इसका अर्थ है इष्टमंत्र का हृदयकमल मे ध्यान। उसकी एक रत्न के रूप में भावना और उसे प्राणबिंदु पर स्थापित किया जाता है। धारणा का श्रद्धापूर्वक दीघकाल तक अभ्यास करने पर 'निमित्त' अथवा चमत्कारपूर्ण चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में मरीचिका का चिह्न चित्ताकाश के सामने प्रकट होता है। दूसरी भूमिका में धूम का और तीसरी में खद्योत का। चौथा चिह्न अस्थिर प्रकाश के रूप में दिखाई देता है और अन्त में निरभ्र गगन के सदृश स्थिर प्रकाश।

**अनुस्मृति**—आलोकित का अनवच्छिन्न ध्यान, इस का चिरकाल तक अभ्यास करने पर साक्षात्कार होने लगता है। अर्थात् जिस वस्तु का ध्यान करते है आँखें बन्द करने पर भी वह ज्यों की त्यों दिखाई देने लगती है। 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के संयोग से समस्त पदार्थ एक पिंड के रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं। उस पिंड के रूप में समस्त बाह्य प्रपंच का ध्यान करने से समाधि अविलंब उपलब्ध हो जाती है।

**प्रत्याहार**—मन को बाह्य विषयों की ओर जाने से रोकना।

शरीर शुद्धि तथा स्थिरता के पश्चात प्रत्याहार का अभ्यास किया जाता हैं। अर्थात् मन की स्थिरता संपादित की जाती है। इस अवस्था में योगी स्थूल शरीर से आगे बढ़कर सूक्ष्म शरीर पर पहुँचता है और उसकी शुद्धि एवं स्थिरता का अभ्यास करता है।

**प्राणायाम**—मुख तथा नासिका के द्वारा जो श्वास-प्रश्वास लिए जाते हैं, वे स्थूल वायुरूप होते हैं। वे प्राणवायु की बाह्य अभिव्यक्ति

हैं। स्थूल वायु पर नियंत्रण होने पर सूक्ष्म वायु पर भी नियंत्रण हो जाता है।

प्राणायाम शब्द प्राण और आयाम का मिलकर बना है। आयाम का अर्थ हैं, लंबाना। इस क्रिया के द्वारा श्वास को उत्तरोत्तर दीर्घ करने का अभ्यास किया जाता है। यह अभ्यास इड़ा और पिंगला से प्रारम्भ होता है, धीरे-धीरे प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश होने लगता है। इसे प्राण-स्फूर्ति कहा जाता है अर्थात् प्राण अपनी क्रिया पूर्णरूप से करने लगता है। जब निरन्तर अभ्यास द्वारा शरीर शुद्ध हो जाता हैं तो प्राण अपने आप सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है। छोटे-छोटे श्वासप्रश्वासों के स्थान पर प्राण शक्ति सुषुम्ना के महापथ पर अग्रसर हो जाती है। फलस्वरूप कुंडलिनी जाग्रत होकर ऊपर की ओर गति करने लगती है। प्राण के निकल जाने के कारण इड़ा और पिंगला निर्जीव हो जाती है। जाग्रत कुंडलिनी सुषुम्ना में प्रवेश करती है और छः चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाती। अन्त में उसका महाप्राण में विलय हो जाता हैं, जो इस योग का अन्तिम लक्ष्य है।

प्राणायाम का अभ्यास करते समय पौष्टिक आहार का सेवन करना चाहिए। किंतु उसकी मात्रा अधिक नही होनी चाहिए। इन्द्रियों पर नियत्रण रखना चाहिए।

**नाड़ी शोधन**—प्राणायाम के पहले नाड़ी शोधन आवश्यक है। अशुद्ध नाड़ियों में प्राण का संचार नहीं होता। इस क्रिया में कई महीने ओर वर्ष लग जाते हैं। नाड़ी शोधन दो प्रकार का है—समंत्र अर्थात् बीजमंत्र के साथ और अमंत्र अर्थात् बीजमंत्र के बिना। प्रथम में साधक पद्मासन से बैठकर सर्वप्रथम गुरुन्यास करता है। ध्यानस्थ होकर इड़ा बीज का १६ बार जप करता है और ६४ बीज मंत्र के साथ कुंभक। इसके पश्चात् ३२ जप करते हुए पिंगला से श्वास को बाहर निकालता है। अग्नि को मणिपूर से उठाकर पृथ्वीतत्व के साथ जोड़ दिया जाता है।

उसके पश्चात् वन्हिबीज 'रं' का १६ बार जप करते हुए सूर्यनाड़ी से श्वास ग्रहण करना चाहिए। बीजमंत्र का ६४ बार जप करते हुए कुंभक और ३२ बार जप करते हुए चन्द्रनाड़ी से रेचक करना चाहिए। उसके पश्चात् नासिकाग्र पर दृष्टि जमाकर चन्द्रमा के प्रकाश का ध्यान करना चाहिए और 'थं' बीजाक्षर का १६ बार जप करते हुए चन्द्रनाड़ी से पूरक करना चाहिए। कुंभक में ६४ बार 'वं' बीज का जप करना चाहिए। उसके पश्चात् साधक यह ध्यान करता है कि नाड़ियों में अमृत का स्रोत बह रहा है और वे शुद्ध हो रही हैं। तत्पश्चात् 'लं' बीज का ३२ बार जप करते हुए रेचक करता है और शरीर में बल के संचार का ध्यान करता है। उसके पश्चात् कुशासन या मृगचर्म पर पूर्व या उत्तराभिमुख बैठकर प्राणायाम करता है।

नाड़ीशुद्धि की इस प्रक्रिया में स्थान, समय और आहार का पूरा ध्यान रखना चाहिए। भोजन शुद्ध और निर्मांस होना चाहिए। न अधिक उष्ण और न अधिक शीत। वह कसैला, खारा तथा कटु भी नहीं होना चाहिए। सर्वथा भूखे रहना भी ठीक नहीं है। लम्बी यात्रा तथा थकावट लाने वाला व्यायाम नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। योगाभ्यास का प्रारम्भ बसन्त या शरदऋतु में करना चाहिए।

साधक पद्मासन से बैठकर इड़ा अर्थात् वाम नासिका से पूरक करता है और पिंगला अर्थात् दक्षिण नासिका से रेचक। बीच में कुंभक करता है और समय को बढ़ाता चला जाता है। पूरक के देवता ब्रह्मा हैं, रेचक के रुद्र और कुंभक के विष्णु।

योग की पुस्तकों में अनेक प्रकार के प्राणायाम बताए गए हैं। कोई रेचक से प्रारम्भ किया जाता है और कोई पूरक से। इसी प्रकार कुंभक के भी अनेक भेद हैं। श्वास को भरकर रोकना आभ्यंतर कुंभक है। बाहर निकालकर रोकना बाह्य कुंभक, बीच में रोकना मध्य कुंभक

इत्यादि। (क) सहित-कुंभक रेचक और पूरक के साथ किया जाता है। जब तक प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश नहीं होता, इसका अभ्यास किया जाता है। (ख) केवल-कुंभक में रेचक और पूरक के बिना ही श्वास की गति को रोका जाता है। बहुत से प्राणायाम वात, पित्त एवं कफ के विकारों को दूर करते हैं। भस्तृका प्राणायाम तीनों दोषों को दूर करता है और सुषुम्ना स्थित तीन ग्रंथियों को खोल देता है।

प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर मन में भी स्थिरता आने लगती है, फलस्वरूप, धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्थाएं प्राप्त हो जाती है। राजयोग के अनुसार ये मन की अवस्थाएँ हैं। किंतु हठयोग इन्हें प्राण की अवस्थाएँ मानता है।

कुछ ग्रंथों में राजयोग को हठयोग की ही विकसित अवस्था बताया गया है। उनमें आया है कि प्राणायाम ही कालमर्यादा के उत्तरोत्तर अधिक होने पर प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि का रूप ले लेता है।

हम साधारणतया दिन रात में २१,६०० साँस लेते हैं। इसे हंसः का अजपाजप कहा जाता है। अर्थात् सांस लेते समय 'हंस' और छोड़ते समय 'सः' का ध्वनिरहित उच्चारण निरन्तर चलता रहता है।

साधारणतया साँस निकलते समय १२ अंगुल की दूरी तक जाता है। विभिन्न कार्यों में उसके तीव्र होने पर दूरी बढ़ती चली जाती है। तन्त्र-शास्त्र में इसे नीचे लिखे अनुसार बताया गया है—

संगीत में १६ अंगुल, भोजन करते समय २० अंगुल, चलते समय २४ अंगुल, सोने समय ३० अंगुल, मैथुन करते समय ३६ अंगुल। व्यायाम करते समय यह दूरी और भी अधिक हो जाती है और ९६ अंगुल तक पहुँच जाती है। श्वास की दूरी ठीक होने पर आयुष्य की वृद्धि होती है।

लाभ की दृष्टि से प्राणायाम के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। रेचक, पूरक तथा कुंभक जितने लम्बे होंगे, लाभ उतना ही

अधिक होगा । अधम प्राणायाम में पूरक ४ क्षणों तक, कुंभक १६ क्षणों तक और रेचक ८ क्षणों तक किया जाता है । कुल मिलाकर एक प्राणायाम के २८ क्षण होते है । मध्यम में इनका परिणाम दुगुना अर्थात् ८,३२, व १६ हो जाता है और उत्तम में चौगुना । क्षणों की गणना प्रणव अर्थात् ॐ के उच्चारण द्वारा की जाती है । इन्हीं के आधार पर साधना की तीन अवस्थाएँ हैं । अधम को सौ बार करने पर पसीना आता है, मध्यम में कँपकँपी और उत्तम में आह्लाद ।

**प्राणायाम और ध्यान**

ऊपर प्राणायाम के अनेक भेद बताए हैं । ध्यान के लिए सहित विशेष उपयोगी है । इस के दो भेद हैं—सगर्भ और निगर्भ ।

सहित-सगर्भ : इसमें साधक ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा के रजोगुणी रूप का ध्यान करता है । जिसका रंग लाल और बीजाक्षर 'अ' है । इसमें इड़ा द्वारा छः मात्राओं वाला पूरक किया जाता है । कुंभक से पहले उड्डीयान मुद्रा लगा लेनी चाहिए । कुंभक लगाकर परमात्मा के सत्वगुणी रूप विष्णु का ध्यान किया जाता है । जिनका रंग कृष्ण है । बीजाक्षर 'उ' इसका ६४ बार जप करना चाहिए । इसके पश्चात् शिव का ध्यान किया जाता है जो परमात्मा का तमोगुणी रूप है, इनका वर्ण श्वेत है, बीजाक्षर 'म' । इसका ३२ बार जप करते हुए पिंगला द्वारा रेचक किया जाता है । इसके पश्चात् पिंगला से पूरक किया जाता है तथा कुंभक के बाद इड़ा से रेचक । प्राणायाम को एकबार अनुलोम तथा दूसरी बार प्रतिलोम किया जाता हैं ।

**समाधि**

घेरंड संहिता में समाधि के ६ भेद बताए गए हैं—

(१) **ध्यान योग**—इसका अभ्यास शांभवी मुद्रा के द्वारा होता है और बिंदु ब्रह्म का ध्यान किया जाता है । साक्षात्कार होने पर जीवात्मा का महाकाश अर्थात् ब्रह्म में विलय हो जाता है ।

(२) **नाद योग**—इसका अभ्यास खेचरी मुद्रा के द्वारा होता है। अभ्यास द्वारा जिह्वा को लम्बी किया जाता है जिससे वह भ्रूमध्य तक पहुँच जाय। उसके पश्चात उलटकर मुख में प्रवेश कराया जाता है। इसके लिये जिह्वा के नीचे का मांसपिंड काट दिया जाता है। कोई-कोई साधक उसे काटे बिना भी अभ्यास करते हैं।

(३) **रसानन्द योग**—इसका अभ्यास कुंभक द्वारा किया जाता है। साधक शांत स्थान में बैठकर दोनों कानों में अंगुली लगा लेता है। तत्पश्चात पूरक और कुंभक करके अन्तर्नाद का श्रवण करता है। यह नाद विविध प्रकार का होता है। सर्वप्रथम टिट्टिभ (ततैया) की आवाज के समान ध्वनि सुनाई पड़ती है। धीरे-धीरे वह नगारे की ध्वनि सी जान पड़ती है। निरन्तर अभ्यास से अनाहत ध्वनि सुनाई देने लगती है और हृदयस्थ ज्योति दिखाई देती है। अन्त में वह तेजोमय विष्णु में विलीन हो जाती है।

(४) **लयसिद्धि योग**—इसका अभ्यास योनिमुद्रा के द्वारा किया जाता है। साधक अपने को शक्ति समझता है और परमात्मा को पुरुष या शिव। शिव और शक्ति का यह मिलन स्त्री और पुरुष के मैथुन के रूप में चित्रित किया जाता है जिससे शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति होती है। शिव के साथ मिलकर जीवात्मा स्वयं शिव या ब्रह्म हो जाता है।

(५) **भक्ति योग**—इसमें भक्ति के साथ देवता का ध्यान किया जाता है। आनन्द का उद्रेक होने पर साधक की आंखों से आंसू बहने लगते है। समाधि में वह चेतना शून्य हो जाती है।

(६) **राजयोग**—इसका अभ्यास मनोमूर्च्छा कुंभक की सहायता से किया जाता है। कुंभक के साथ मन को समस्त बाह्य विषयों से हटाकर आज्ञा चक्र में स्थिर किया जाता है।

अभ्यासियों को सूचनाएं—योग की समस्त पद्धतियों में प्राणायाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन को एकाग्र करने का व्यावहारिक उपाय है।

मन और प्राण एक दूसरे के साथ बंधे हैं। एक के वश में होने पर दूसरा भी वश हो जाता है। यहाँ प्रणायाम के संबंध में कुछ व्यावहारिक बातें लिखी जाएंगी।

जिन साधकों ने आसनों का अभ्यास करके नाड़ीसमूह को मृदु बना लिया हो, वही प्रणायाम के अभ्यास के अधिकारी हैं। उपनिषदों और अनेक ग्रंथकारों ने लिखा हैं—अथासने हठे योगी प्राणायामं समभ्यसेत्। जब तक कोई पद्मासन, सिद्धासनादि मुख्य आसनों में से कोई एक दृढ़ न हो, किसी एक आसन से लगातार दो-तीन घंटे अचल बैठने का अभ्यास न हो, तब तक आसनों का ही अभ्यास बढ़ावे। आसन दृढ़ होने पर प्राणायाम प्रारंभ करे। प्राणायाम का अभ्यास आरंभ करने के लिए वसंत और शरद् ऋतु अनुकूल है। दूसरी ऋतुओं में आरंभ करने में विघ्न की संभावना रहती है। वसंत ऋतु में कफ प्रकुपित होकर स्वाभाविक रूप से बहार निकलने लगता है और शरद ऋतु में पित्त प्रकोप होता है। इससे कफदोष शीघ्र जल जाता है। इस लिए ये दोनों ऋतुएं हितकारी हैं। अपनी प्रकृति का विचार करके ही अभ्यास प्रारंभ करना चाहिये। जिस स्थान में कफ की वृद्धि होती हो वहाँ योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम के अभ्यास के लिए निर्वात, स्वच्छ और उपद्रवरहित स्थान होना चाहिए खुली हवा में प्राणायाम न करे। वहां वायु के कारण पसीना बाहर नहीं आ सकेगा। पसीना आने पर ही नाड़ियों की शुद्धि होती है। तैल मर्दन भी नहीं करना चाहिए। इस से नाड़ियों में स्थित मल जम जाता है। वह बाहर नहीं निकलता। प्रणायाम के समय जो पसीना निकले उसे मल लेना चाहिए। ऐसा करने से प्राणतत्व का बाहर निकलना रुक जाता है।

प्राणायाम का अभ्यास दिन में चार बार करना चहिए—प्रातः, मध्याह्न, सायं और मध्य रात्रि। प्रत्येक बार दस से आरंभ करना चाहिए। प्रतिदिन पांच बढ़ाते हुए पंद्रह दिनों में अस्सी तक पहुंचा जा सकता है।

इस प्रकार प्रतिदिन ३२० प्राणयाम होते है । उत्तम रूप में करने पर इनमें छः घंटे से अधिक समय लगेगा । साधक को अपनी शक्ति के अनुसार अभ्यास बढ़ाना चाहिए। बीच-बीच में विश्राम भी करते रहना चाहिए । प्राणायाम में लंघन नहीं करना चाहिए । कुंभक का समय शीघ्रता से नहीं बढ़ाना चाहिए ।

प्राणायाम के समय शरीर को सीधा रक्खे । फुफ्फुसकोषों को शिथिल रखना चाहिए । फुफ्फुस शिथिल रहने पर वायु को अधिक परिमाण में धारण कर सकेंगे, जिससे कुंभक अधिक टिक सकेगा । फुफ्फुस तने रहेंगे तो पूरक अधिक मात्रा में नहीं होगा । वायु के आघात से वे निर्बल हो जाएंगे, उनमें वायु भरा रहेगा, जो दूषित होकर डकार के रूप में बहार निकलेगा । यह स्थिति हानिकारक मानी जाती हैं । ऐसा प्रसंग उपस्थित हो तो प्राणायाम का अभ्यास बिल्कुल बंदकर देना चहिए और आसन एवं विपरीतकरणी (शीर्षासन) का अभ्यास करना चहिए इस से फुफ्फुस पुनः बलवान् हो जाएंगे । इसके बाद नादानुसंधान, त्राटकादि द्वारा राजयोग में प्रवेश करें। प्राणायाम न करें ।

प्राणायाम करने के समय मूलबंध आरंभ से अंततक दृढ़ लगा रहना चाहिए । इस से अपानतत्त्व ऊपर की ओर आकृष्ट होगा । यदि मूलबंध दृढ़ होगा तो मलमूत्र का त्याग नियमित रीति से होता रहेगा । मलावरोध नहीं होगा । रक्ताभिसरण क्रिया बलवती बनने से नाद खुल जाएंगे । नाड़ियां मलदोष के जल जाने से शुद्ध हो जाएंगी । कुंडलीनी जाग्रत होगी अर्थात अपानतत्त्व प्राणतत्त्व के साथ मिलकर मस्तिष्क में प्रवेश करने लगेगा ।

पूरक करके तुरंत जालंधरबंध लगाना चहिए । मस्तिष्क को झुकाकर चिबुक को कठ और धड़ के संधि स्थान में इस प्रकार लगावे कि जिससे कंठ स्थित विशुद्धचक्र पर दबाब पड़े । यह बंध लगने पर कंठस्थित श्वास-मार्ग का निरोध होता है, और कुंभक के समय फुफ्फुस में से वायु उछल कर कंठ के ऊपरि भाग में आघात नहीं करतीं । जालंधरबंध से समस्त

शरीर के ज्ञानतंतु बलवान होते हैं। क्योंकि जालंधरबंध ( विशुद्धचक्र ) का संबंध पादांगुष्ठ, गुल्फ, जानु (घुटने), उरू (जंघा), सीवनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, (घटिका), नासिका, भ्रू, कपाल, मूर्द्धा और ब्रह्मरंध्र इन सोलह आधार स्थानों के साथ हैं। यद्यपि ज्ञानतंतु का केंद्र स्थान मस्तिष्क है, विशुद्ध चक्र नहीं है, तथापि नीचे के अंगो का संदेश ऊपर केंद्र स्थान में भेजने का कार्य विशुद्ध चक्र करता है।

जालंधर बंध का अभ्यास करना हो, तो पाँच मिनट से आरंभ करके शनैः शनैः समय बढ़ाना चहिए। प्रारंभ में ही अधिक समय तक जालंधर बंध किया जाएगा तो गले के पीछे भाग की नस में दर्द हो जायगा, यदि ऐसा हो जाय तो गोघृत अथवा नीलगिरि के तैल की मालिश करनी चहिए। दो चार दिन विश्राम करने पर दर्द मिट जायगा।

कुंभक के बाद रेचक करते समय पहले उड्डीयान बंध लगाकर जालंधरबंध खोल देना चाहिए, अंत्रसंकोच से फुफ्फुसों के कोषों का भी संकोच होने लगता है जिससे फुफ्फुस कोष बलवान होते है। इससे—त्रिधातुओं के विकार से उत्पन्न सब रोग नष्ट हो जाते हैं। सुषुम्नामार्ग शुद्ध हो जाता हैं और प्राणतत्त्व उर्ध्वगमन करता है। उड्डीयान बंध को शास्त्रकारों ने ने 'मृत्युमातंग केसरी' अर्थात् मृत्यु रूप हस्ती को पछाड़ने वाला केसरी सिंह बतलाया है। तीनों बंधों में उड्डीयान को उत्तम माना गया है। उड्डीयान बंध दोषयुक्त होगा तो फुफ्फुस और आमाशय निर्बल बन जायगा।

कुंभक को उतना ही करना चाहिए जितने में रेचक धीरे-धीरे किया जा सके। पूरक इसप्रकार करना चाहिए जैसे नली द्वारा धीरे-धीरे जल खींचा जाता है। शीघ्रता पूर्वक करने से फुफ्फुस कोषों को आघात पहुँचता है और कुंभक अधिक समय तक नही टिक पाता। रेचक क्रिया को भी शीघ्रतापूर्वक करने से फुफ्फुसों और नाड़ियों में क्षोभ होने लगेगा और फुफ्फुस, हृदय नासिका, नेत्र, कर्ण, मस्तिक प्रभृति अवयवों को

हानि पहुँचेगी। अतः रेचक की क्रिया बहुत धीरे-धीरे करनी चाहिए। और उसके बाद १-१ सेकंड कुंभक करके तब पुनः पूरक करना चाहिए।

कुंभक के समय-भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। (१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) कनिष्ठ। उत्तम प्राणायाम में कुंभक ५० सेकंड का, मध्यम में ३३ सेकंड का, ओर कनिष्ठ प्राणायाय में १६½ सेकंड का होता है। पूरक से द्विगुण समय रेचक का और रेचक से द्विगुण समय कुंभक का होना चाहिए। परन्तु अधिक लाभदायक तथा ठीक नियम नीचे तालिका में दिया जाता है—

| प्राणायाम | पूरक | कुंभक | रेचक | बाह्यकुंभक |
|---|---|---|---|---|
| १. कनिष्ठ | ४ | १६½ | ८ | १ |
| २. मध्यम | ६ | ३३¼ | १० से १२ | २ |
| ३. उत्तम | ८ | ५० | १२ से १६ | ३ |

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश के पश्चात् भस्त्रा के अभ्यास से कुंभक का समय बढ़ने लगता है और रेचक का समय कम होजाता है। क्योंकि फुफ्फुस का कुछ वायु प्राणतत्व में रूपांतरित हो जाता है। कुंभक का अभ्यास ५ मिनट से अधिक हो जाय तो दो बार पूरक करने के बाद रेचक करना चाहिए। प्राणायाम में पूरक द्वारा जो वायु ग्रहण किया जाता है, वह फुफ्फुस में जाता है, शरीर के अन्य स्थानों में नहीं जाता। जो दुष्ट वायु आमाशय में उत्पन्न होता है वह डकार रूप से निकलता जाता है। यह वायु आहार से उत्पन्न होता है। फुफ्फुसों में नहीं जाता। शास्त्रकारों ने जो पाँच प्रकार के वायु बताए हैं वे सब प्राणतत्व हैं। प्राण तत्त्व और वायु में अन्तर है। प्राणतत्त्व वायु का रूपान्तर है। जैसे मिट्टी में से रूपांतर होकर सुन्दर फल, फूल और प्राणिमात्र के शरीर बने हैं, वैसे ही वायु के सूक्ष्म अंश (सत्त्व) से प्राणतत्व बना है। प्राणतत्त्व वायु का सत्त्वरूप होने से वायु कहलाता है। प्राणतत्त्व और बाह्य विद्युत दोनों को एक जाति कहा जाय तो अनुचित नही होगा। प्राणतत्त्व के

साथ मिलकर सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ता है। तब बन्द नेत्रों से भ्रू स्थान में प्रकाश दिखाई देता है। नील, लाल, श्वेत, पीला ऐसे भिन्न-भिन्न रंग दीखते हैं। इस रीति से प्राणों को उर्द्ध्वगति करने की क्रिया को ही कुंडलिनी की जागृति कहते हैं। वही अवस्था आगे बढ़ने पर उन्मनी अवस्था और समाधि कहलाती है।

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश के पश्चात् प्राणतत्व सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ने लगता है। आरम्भ से वह पिपीलिका (चींटी) के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिमाण में ऊपर चढ़ता है। पश्चात् तीनों ग्रंथिभाग के आगे नाड़ी के शेष भाग की शुद्धि होने पर मेंढक की गति से कूदकर ऊपर चढ़ने लगता है और भस्त्रा प्राणायाम द्वारा कुंभक बढ़ने से ग्रंथियों के भेदन होने पर विहंगम (पक्षी) की तरह उड़कर सहस्रदल कमल में प्रवेश करता है। जब प्राणतत्व मस्तिष्क में जाने लगता है, तो वहां भारीपन मालूम होता है। कुछ दिनों के बाद मस्तिष्क का शोधन हो जाता है और सहनशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे कष्ट मालूम नहीं होता। कुछ समय के पश्चात् जब प्राणतत्व अधिक वेग से गति करने लगता है, तब मन की एकाग्रता और आनन्द का अनुभव होने लगता है।

प्राणायाम के अभ्यास के बाद शांति के लिए शवासन करना चाहिए और साथ-साथ नादानुसंधान करना चाहिए। विश्राम के बाद गुनगुने जल से स्नान करना चाहिए।

शास्त्रकारों ने प्राणायाम के ९ प्रकार बतलाए हैं—अनुलोम-विलोम, सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रा, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। इनमें उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने तक अनुलोम-विलोम हितकारी है। अनुलोम-विलोम से दोनों पार्श्वों की नसों का शोधन, दोनों फुफ्फुसों में समान रूप से बलवृद्धि तथा रोगों का नाश होता है और त्रिधातु में समता आती है।

## अनुलोम-विलोम

पद्मासन वा सिद्धासन में बैठकर मूलबंध लगाकर वाम नासापुट से थोड़ा रेचक करके पूरक करना चाहिए। पश्चात् जालन्धरबन्ध लगाकर कुम्भक करना चाहिए। अन्त में जालन्धरबन्ध को खोलकर और उड्डीयान बन्ध लगाकर दक्षिण नासापुट से शनैः शनैः रेचक करना चाहिए। फिर आंतरिक दल के अनुसार कुम्भक करके वामस्वर से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार दो प्राणायाम हो जाते हैं। पुनः एक सेकन्ड बाह्यकुम्भक करके पूर्वानुसार आवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार एक साथ १० प्राणायाम करना चाहिए। फिर प्रतिदिन ५—५ प्राणायाम बढ़ाकर एक सप्ताह म उसकी सँख्या ४० कर देनी चाहिए। कुम्भक कभी कम, कभी अधिक, अनियमित नहीं करना चाहिए। प्राणायाम के समय शरीर को शिथिल, सरल और अचल रखना चाहिए। दक्षिण के नासापुट से रेचक और पूरक करना हो तो दाहिने हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका को बांए नासा पुट पर रक्खें। इसी प्रकार वामनासापुट से रेचक और पूरक करना हो तो दाहिने हाथ के अंगुष्ठ से दक्षिण पुट को बन्द करें।

यदि आरम्भ में १६½ सेकण्ड तक कुंभक न हो सके तो कम समय के लिए किया जा सकता है। अधिक देर तक कुंभक करने का हठ नहीं करना चाहिए। समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। ३-४ महीने में मध्यम प्राणायाम में प्रवेश हो जायगा और उसके बाद तीन-चार महीने अभ्यास करने पर उत्तम प्राणायाम में। तत्पश्चात् अन्य कुंभकों का अभ्यास देश, काल और प्रकृति के अनुसार विचारकर करना चाहिए। उत्तम प्राणायाम के बाद खेचरी का अभ्यास भी हो सकता है। खेचरी के अभ्यास से कुंभक जल्दी बढ़ता है।

कोई-कोई आचार्य चालीस प्राणायाम का अभ्यास नियमित हो जाने पर कनिष्ठ कुंभक के समय से ही महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध का अभ्यास कराते हैं। महावेध से प्राणतत्व का शीघ्र ऊर्ध्वगमन होता है;

परन्तु यह बलवान शरीर के लिए ही उपयोगी है, निर्बलों के लिए हानिकारक है।

प्रातः सांय दोनों समय समान क्रिया करना चाहिए। परन्तु थकावट हो तो रात्रि के समय कम अभ्यास करे। आसन और विपरीतकरणी मुद्रा करना हो, तो प्राणायाम से पहले सुबह करे। सांयकाल को आसन और विपरीतकरणी का अभ्यास न करे। विपरीतकरणी रात्रि को करना हानिकारक है।

## सूर्य भेदी

सूर्य नाड़ी (दाहिने नासापुट) से रेचक करके पूरक करना चाहिए। फिर कुंभक करके चन्द्र नाड़ी (बांये नासापुट) से रेचक करना चाहिए। पूर्ववत् जालंधरादि बन्ध इस प्राणायाम में भी लगाना आवश्यक होता है। इस प्रकार के प्राणायाम को सूर्यभेदन प्राणायाम कहते है। अनुलोम-विलोम में दोनों नासापुटों से पूरक और रेचक होता है, परन्तु इसमें एक एक ही पुट से अर्थात् दक्षिण से पूरक और वाम से रेचक होता है। यही दोनों में अन्तर हैं।

दक्षिण फुपफुम का सम्बन्ध यकृत से होने के कारण इस प्राणायाम से शरीर में पित्तवृद्धि होती है तथा उष्णता बढ़ती है। वात और कफ का प्रकोप शांत होता है। कपालदेश में संचित श्लेष्म, वातवहा नाड़ियों के विकार, रक्तदोष, त्वचादोष, उदरकृमि, प्रस्वेद से उत्पन्न कृमि, कुष्ठादि रोगों से उत्पन्न कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्राणायाम को गर्मी के दिनों में करना ठीक नहीं है। पित्त प्रधान प्रकृति के लोगों के लिए भीं हितकर नहीं है।

**उज्जायी**—मुख को कुछ झुकाकर कण्ठ से हृदय पर्यंत शब्द करते हुए वायु को फुफ्फुस में प्रविष्ट करें। इस प्रकार दोनों नासापुट से अल्प परिमाण में वायु को खींचे। फिर पूरक करने के बाद ४-५ सेकंड कुंभक करके इड़ा नाड़ी से रेचक करे। इस प्राणायाम में पूरक, कुंभक और

रेचक तीनों स्वल्प परिमाण मे ही किये जाते हैं। इसमें जालंधरादि बन्धों का लगाना उतना आवश्यक नहीं होता। बैठे, चलते, खड़े हुए या सोकर (शवासन में) इस प्राणायाम का अभ्यास किया जा सकता है। जब शारीरिक विकार के कारण दूसरे प्राणायाम न हो सकें या समय अनुकूल न हो तो एक घंटे के लगभग उज्जायी प्राणायाम करना चाहिए।

इस प्राणायाम से कफप्रकोप, उदररोग, जलोदर, शोथ, मन्दाग्नि, अजीर्ण, मांस, मेदादि धातुओं के विकार और मलावरोध जनित समस्त रोग दूर होते हैं। अग्नि प्रदीप्त होती है।

**सीत्कारी**—दांतों के बीच जिह्वा को बाहर ओष्ठ तक निकालकर ओष्ठों को फुलाकर मुख से सीत्कार करते हुए वायु का आकर्षण करना सीत्कारी प्राणायाम कहलाता है। इस प्राणायाम में वायु जिह्वा के सहारे भीतर प्रवेश करता है। इसमें ४-५ सेकंड कुंभक करके दोनों नासापुटों से शनैः शनैः रेचक करना चाहिए। इसमें भी बन्धों का लगाना आवश्यक नही होता। परन्तु यदि अधिक देर तक कुंभक करना हो तो बन्ध का लगाना आवश्यक हो जाता है।

इस प्राणायाम से यकृत में पित्त के उत्पन्न करने की क्रिया तक हो जाती है। क्षुधा, तृषा, निद्रा और आलस्यादि का त्रास कम हो जाता है। पित्त प्रकोप दूर होता है, शरीर तेजस्वी बनता है। पूरक के वायु से प्राणतत्त्व को बल मिलता है

**शीतली**—जिह्वा को ओष्ठ से एक अंगुल बाहर निकालकर "ˇ" इस प्रकार पक्षी की चोंच के समान आकृति बनाकर बाहर से वायु का आकर्षण करे। फिर कुछ कुंभक करके दोनों नासापुटों से धीरे-धीरे रेचक करे। यह शीतली प्राणायाम कहलाता है। इससे गुल्म, प्लीहा, उदररोग, अतिसार, पेचिस, पित्तवृद्धि, दाह, अम्लपित्त रक्तपित्त, क्षुधा, तृषा, उन्माद, आदि रोग शमन होते हैं। प्रातः तथा सायं आधे घंटे तक इस

का अभ्यास करना चाहिए। शीतकाल में और कफ प्रकृति के मनुष्य के लिए यह हितकर नहीं है।

**भस्त्रा**—पद्मासन मे बैठकर बायें नासापुट से प्राण वायु का वेग से पूरक करें, और बिना कुंभक किए ही आवाज करते हुए दक्षिण नासापुट से रेचक करे। लोहार की भाथी के समान वेगपूर्ण इस विधि से आठ बार पूरक-रेचक करने के बाद नवीं बार पूरक करके कुंभक करे और दृढ़ जालंधर बन्ध लगावे। फिर दक्षिण नासापुट से शनैः शनैः रेचक करे। रेचक करने से पहले ही जालंधर बन्ध खोल दे और उड्डीयान बन्ध लगा ले। पश्चात् तीन सेकंड बाह्य कुंभक करके उपर्युक्त विधि से ८ बार वाम घुटने रेचक करें। तत्पश्चात् नियमानुसार रेचक करें। ये दो प्राणायाम हुए। इस प्रकार सव्यापसव्य १२ प्राणायाम करने चाहिए।

इससे कुंभक बहुत बढ़ जाता है। इसे अधिक करने से फुफ्फुस पर आघात होने का भय है। इस प्राणायाम से त्रिधातु जन्य सब रोग नष्ट हो जाते हैं। अग्नि प्रदीप्त होती है। सुषुम्ना स्थित मल नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि तीनों का भेदन होकर सुषुम्ना में से प्राणतत्व विहंगम गति से ऊर्ध्वगमन करने लगता है।

**भ्रामरी**—सिद्धासन लगाकर नेत्र बन्द करले और भ्रू में लक्ष्य रक्खे तथा जालधर बन्ध लगा लें। इस प्राणायाम के समय जालधर बन्ध बराबर लगा रहना चाहिए। फिर दोनों नासापुट से भ्रमर के नाद के समान स्वर सहित पूरक करे। पश्चात् ३ सेकड कुंभक करके शनैः शनैः आवाज सहित रेचक करे। इस प्रकार १४४ प्राणायाम करें। भ्रामरी और मूर्च्छाकुंभक का बौद्ध सम्प्रदाय में अधिक प्रचार है। इस की पाँच अवस्थाएँ हैं। प्रथमावस्था में कुछ दिन पूरक करके पश्चात् कुम्भक के समय महामुद्रा की जाती है। नियम पूर्वक तीन सेकन्ड का कुम्भक होने पर पुनः सिद्धासन लगाकर रेचक किया जाता है। पहले बायें पैर से, पीछे दाहिने पैर से, पश्चात् दौनों पैर फैलाकर महामुद्रा करके इस प्राणा-

याम का अभ्यास किया जाता है। दूसरे प्राणायामों के साथ की जाने वाली महामुद्रा में और भ्रामरी के साथ की इस महामुद्रा में अन्तर है। इस महामुद्रा को कोई-कोई साधक ४८ से ७२ तक करते है। इसलिए एक वर्ष के पश्चात् जानु से ६ इंच आगे और गुल्फ से १० इंच ऊपर के भाग में कपाल लग जाता है।

पहली अवस्था की सिद्धि होने के बाद दूसरी अवस्था में खेचरी करके ६ सेकण्ड का कुंभक होता है और एक समय विधि के अनुसार मस्तिक को बाँये से दाहिनो तरफ घुमाकर जालंधर बन्ध लगाकर रेचक किया जाता है। इस रीति से १४४ कुम्भक में १४४ बार मस्तिष्क के घुमाने की क्रिया करनी पड़ती है। तीसरी, चौथी और पाँचवी अवस्था में कुंभक बढ़ाया जाता है तथा मस्तक भी अधिक बार घुमाया जाता है। इस क्रिया से मस्तिष्क में प्राणतत्व चारों ओर चक्कर लगाता हुआ प्रतीत होता है। नाद जोर से उठने लगता है।

**मूर्च्छा**—भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास पूर्ण होने पर सिद्धासन में बैठकर दोनों नासापुटों से पूरक जालंधर बन्ध लगाना चाहिए। पश्चात दोनों कान, नेत्र, नासिका और मुँह पर क्रमशः अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा अनामिका और कनिष्ठिका रखकर ६ सेकण्ड कुंभक करे। पश्चात् नासिका के छिद्र पर से अनामिका को शिथिल करके जालंधर बन्ध रखते हुए ही शनैः शनैः दोनों नासापुटों से रेचक करे। दूसरे प्राणायामों के साथ मूर्च्छा प्राणायाम करने से कुम्भक अधिक होता है। परन्तु रेचक दोनों नासापुटों से किया जाता है। अधिक कुम्भक के लिए उड्डीयान बन्ध लगाया जाता है तथा रेचक के समय जालन्धर बन्ध खोल देते हैं।

इसमें रेचक के समय बन्द नेत्र से भ्रू स्थान में प्राणतत्व का श्वेत, नीला, काला और लाल प्रकाश देखने में आता है। इस को एक बार कर लेने पर भ्रामरी वाले सिद्धासन से बैठकर, तथा अन्य प्राणायाम वाले शवासन में लेटकर भी नादानुसंधान करते हैं।

**प्लावनी**—यथाविधि आसन से बैठकर दोनों नासिकापुट से पूरक करें। मन को नाभि पर एकाग्र करे, शरीर की समस्त वायु को उदर में भर ले और पेट को फुटबाल या मशक के समान फुला दें। इसके पश्चात यह भावना करे कि सारे शरीर का वायु पेट में एकत्र हो गया है। अन्य किसी अङ्ग में नही रहा। इसी अवस्था में यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात दोनों नासाओं से शनैः शनैः रेचक करे। इससे प्राण वायु पर पूर्णतया अधिकार में हो जाता है। पेट के सब प्रकार के रोग कोष्टबद्धता आदि मिट जाते हैं। अपान वायु, जठराग्नि, वीर्य तथा रक्त की शुद्धि होती है। पानी पर तैरने की शक्ति प्राप्त होती है।

एकादश अध्याय

# लययोग

## लययोग

यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह ।
लीनं भवति देवेश ! लययोगी स एव हि ।।

हे देवेश, जिसका चित्त मन और प्राणों के साथ ध्येय में लीन हो जाता है, उसे लययोगी कहा जाता है ।

लययोग हठयोग का उच्चतर रूप है । परब्रह्म सच्चिदानन्द के शिव और शक्ति दो रूप हैं, दोनों शरीर में विद्यमान हैं । लययोग में प्रकृति शक्ति का, पुरुष शक्ति में विलय करके चित्तवृत्तियो पर नियंत्रण किया जाता है । इसके लिए उन्हीं नियमों का अनुसरण किया जाता है, जो पिंड और ब्रह्मांड का संचालन करते हैं । इसका भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है ।

हठयोग का संबंध मुख्यतया स्थूल शरीर के साथ है । और लययोग का संबंध अतींद्रिय पीठों, शक्तियों तथा शरीर की आन्तरिक क्रियाओं के साथ । पीठ का अर्थ है देवताओं के आसन, जिन्हें चक्रों के रूप में उपस्थित किया जाता है । सबसे ऊपर सहस्रार है । उस पर शुद्ध ब्रह्म का निवास है, सबसे नीचे मूलाधर चक्र हैं । जहाँ प्रकृति कुंडलिनी के रूप में सोयी हुई है । लययोग के द्वारा प्रकृति शक्ति को पुरुष शक्ति में विलीन किया जाता है ।

हठयोग के अभ्यास से शरीर हल्का और तेजस्वी हो जाता है । आँखों में ज्योति की वृद्धि होती है । वीर्य में गाढ़ापन आता है । नाड़ियाँ शुद्ध और

जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नाद-ब्रह्म सुनाई देने लगता हैं। उसकी उत्पत्ति हृदयस्थ अनाहत चक्र से होती है। यहाँ शब्दब्रह्म मध्यमा के रूप में प्रकट होता है। यह अभिव्यक्ति वायु और बुद्धि के मेल से होती है। इसे विशेषस्पंद कहा जाता है। साधारणतया वायु कंठतालु आदि से टकराकर जबतक बाहर नहीं निकलता, कानों से सुनाई नहीं देता। किन्तु जब विभिन्न मुद्राओं एवं बन्धों द्वारा प्राणों का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाता है तो योगी सूक्ष्म नाद को भी सुनने लगता है। प्राण और अपान जब सम्मिलित होकर ऊपर की ओर उठते हैं, तो बिन्दु में मिल जाते हैं। इसी को लय कहा जाता है।

लययोग में मुख्यतया प्रकाश का ध्यान किया जाता है। कुंडलिनी जाग्रत होकर जब आज्ञाचक्र में पहुँच जाती है तो भोंहों के बीच ज्योति चमकने लगती है। यहाँ उसीं पर मन को केन्द्रित किया जाता है। इसको बिन्दु ध्यान कहते हैं।

शरीरस्थ अन्तर्ध्वनियों को सुनते हुए लय-योग प्राप्त करने की विशेष विधि है। योगी सिद्धासन और शांभवी मुद्रा लगाकर दाँये कान में सुनाई देने वाली ध्वनियों पर मन को एकाग्र करता है। तत् पश्चात् षण्मुखी मुद्रा द्वारा विवरों को रोककर प्राणायाम करता है। इससे सूक्ष्मध्वनि सुनाई देने लगती है। इस योग की चार अवस्थाएँ हैं—

(१) ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होने पर हृदयाकाश में आभूषणों के समान किंकिणी ध्वनि सुनाई पड़ती है।

(२) द्वितीय अवस्था में नाद प्राण के साथ मिलकर विष्णु ग्रंथि का भेदन करता है। इसमें कंठ प्रदेश की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है। जिसे विशुद्धि चक्र या अतिशून्य कहा जाता है। ये ध्वनियाँ दुन्दुभि नाद के समान होती हैं।

(३) तृतीय अवस्था में आज्ञाचक्र अर्थात् महाशून्य में पहुँच जाते हैं। और यहाँ मृदंग के समान ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह समस्त शक्तियों का स्थान है।

(४) चतुर्थ अवस्था में प्राण आज्ञा चक्र अर्थात् रुद्रग्रंथि का भेदन करके सहस्रार में पहुँच जाता है, जहाँ ईश्वर का निवास है। इस अवस्था को निष्पत्ति कहा जाता है, जो प्राण के ब्रह्मरंध्र में पहुँचने पर प्राप्त होती है। प्रारंभिक अवस्थाओं में ध्वनियाँ तीव्र और स्थूल होती हैं, धीरे-धीरे मंद एवं सूक्ष्म हो जाती है। नाद का ध्यान करते-करते मन तद्रूप हो जाता है। यह एक प्रकार का जाल है जो मन रूपी हरिण को पकड़ लेता हैं। नाद में विलय होने पर मन वृत्तिशून्य हो जाता है। योगी निपुण धनुर्धर के समान शांत होकर बैठ जाता है और सुषुम्ना के द्वारा अपने श्वास को ब्रह्मरंध्र में पहुँचा कर मन का विलय कर देता है।

नाद अर्थात् शब्द आत्मा की शक्तियाँ हैं। उनमें भी चेतना रहती है। उनके साथ मन का मेल होने पर शुद्ध एवं प्रकाशस्वरूप चेतन प्रकट होता है। जब तक ध्वनि सुनाई देती है आत्मा शक्ति के साथ रहती है। लय अवस्था में ध्वनि नहीं होती।

(१) **स्वरोदय**—इसका संबंध श्वासनाड़ियों के साथ है। वामनासिका से वहने वाले श्वास को इड़ा कहा जाता है और दक्षिण नासिका से बहने वाले श्वास को पिंगला। इसी प्रकार श्वास लेने को प्राण कहा जाता है और छोड़ने को अपान। इनके विविध अभ्यासों का वर्ण पिंडस्थ ध्यान के अध्याय में किया गया है।

(२) **सूक्ष्मप्राण**—हम जो श्वास प्रश्वास लेते हैं ये स्थूल प्राण है। जो शक्ति इनका संचालन करती है, वह सूक्ष्म प्राण है। लययोग में उसमें नियंत्रण का अभ्यास किया जाता है।

(३) **लयक्रिया**—नाद और बिंदू के द्वारा महालय समाधि का अभ्यास। यह लययोग की उच्चतम अवस्था है।

नाद का श्रवण प्रत्याहार में सम्मिलित है। धारणा द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत किया जाता है। मंत्रयोग में प्रधान क्रिया जप है और हठयोग में प्राणायाम। लय योग का प्रारंभ धारणा से होता है, वही मुख्यतत्त्व है। प्राणायाम श्वास नियंत्रण का प्रारंभिक उपाय है। जो साधक इस भूमिका

को पार कर चुका है उसे प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है। अभ्यास हो जाने पर योगी प्राणायाम के बिना भी कुंडलिनी को जाग्रत कर सकता है।

कुंडलिनी के शक्ति, ईश्वरी, कुटिलांगी, भुजंगी, अरुंधती इत्यादि अनेक नाम हैं, वह मानव शरीर की सर्वोच्च शक्ति है, वही समस्त शक्तियों का केन्द्र है, और विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। काम शक्ति इसी प्रकार की एक शक्ति है। मैथुन द्वारा उपभुक्त होने पर वह क्षीण हो जाती है। किंतु ब्रह्मचर्य से जब उसका संरक्षण एवं संचय किया जाता है तो उत्तरोत्तर सांद्र, सूक्ष्म और शक्तिशाली होकर ऊपर की ओर चढ़ने लगती है। अंत में प्राण को साथ लेकर शिव में मिल जाती है। इस प्रकार शारीरिक मृत्यु के स्थान पर वह आध्यात्मिक उत्थान का कारण बन जाती है।

कुंडलिनी मूलाधार में साढे तीन लपेट लगाकर सोई हुई है। उसने सुषुम्ना का द्वार बंद कर रखा है। वह कांडयोनि के ऊपर है, जो चार अंगुल लंबी और चार अंगुल चौड़ी है। उस पर अंडे के समान सफेद आवरण है। उसका स्थान गुदा से दो अंगुल ऊपर और शिश्न से दो अंगुल नीचे माना जाता है।

कुल कुंडलिनी का अर्थ है शब्द ब्रह्म। सभी मत्र उसकी अभिव्यक्ति हैं जिन्हें मत्रदेवता भी कहा जाता है। उनकी रचना करने वाले अक्षरों को मातृका कहा जाता है। जिनसे समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है। ये वर्ण सभी की माता हैं। किसी की संतान नहीं हैं। अर्थात् इनका कोई उत्पादक नहीं है, ये नित्य हैं। उनका सामूहिक रूप विराट चेतना या विश्व चेतना है। जिस प्रकार बाह्य आकाश में वायु की हलचल से ध्वनि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीरस्थ अंतराकाश में प्राण की हलचल से शब्द उत्पन्न होते हैं। उसी के आगमन तथा निर्गमन को प्रश्वास तथा निश्वाश कहा जाता है। कुंडलिनी का वर्णन परमेश्वरी के रूप में किया जाता है। वही नादशक्ति और सर्वशक्तिमान कला हैं; जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और विश्व का बीज है। वही निर्गुण ब्रह्म से बहने वाला अमृत-स्रोत है। उसकी प्रभा

से विश्व अलोकित होता है। वही नित्य चेतना को जाग्रत करती है। वही सर्जिका शक्ति के रूप में जीव को बंधन में डालती है और विद्या शक्ति के रूप में मुक्ति प्रदान करती है । हठयोग प्रदीपिका में आया है। कि वही योगियों को मुक्ति प्रदान करती है और भोगियों को बंधन में डालती है। जो उसे जानता है, वही योगी है।

षटचक्र निरूपण (श्लोक १०-११) में आया है "विश्व माया है,कुंडलिनी विद्यु त के समान भास्वर है। उसकी ध्वनि प्रेम विह्वल मधुमक्खियों की अव्यक्त ध्वनि के समान होती है। वही समस्त शब्दों का मूल है। प्रश्वास और निश्वास के द्वारा वही समस्त प्राणियों को जीवन देती है। वह मूलाधर पद्म में आलोक मण्डल के समान चमक रही है। कुलकुंडलिनी वर्णमातृका अर्थात् शब्दों की जननी है। वही मन्त्रों को जन्म देती है। वह स्वयं ध्वनि या परमात्मा है। मन्त्रों का उपयोग कुंडलिनी को जाग्रत करने के लिए किया जाता हैं। उनकी उत्पत्ति शाश्वत ध्वनि से होती है। वही विश्व चेतना है। किन्तु उसका वाह्य रूप शब्द है। जो अपने आप में जड़ मालूम पड़ते हैं। उनमें मन्त्र शक्ति छिपी रहती है। मंत्र उसी चैतन्य या सत्य का अभिव्यक्त रूप है।

चित्शक्ति समस्त विश्व में व्याप्त है। साधक में भी विद्यमान है। किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को उससे भिन्न समझता है। मन्त्रशक्ति उसकी सुप्त चेतना को जाग्रत करके विश्वचेतना के साथ मिला देती है। कुलार्णव में आया है कि कुलकुन्डलिनी प्रत्येक जीव के मूलाधर में सोई हुई है, वह जब जाग्रत होकर षट्चक्रों का भेदन करती है तभी अपने शुद्ध रूप में प्रस्फुरित होती हैं। समस्त वेद, मन्त्र तथा तत्व उसी के रूपांतर हैं। वह शब्दब्रह्म और सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के रूप में तीन शक्तियों का मूल कारण है। मानवशरीर में वह सबसे प्रबल सर्जन शक्ति है। कुंडलिनी शब्द ब्रह्म है। वही शरीर में आत्मशक्ति के रूप में विद्यमान है। वही प्रत्येक शक्ति, व्यक्ति तथा क्रिया में है। षट्चक्र और उनसे सम्बन्ध रखने

वाले समस्त तत्त्व उसकी अभिव्यक्ति हैं। उसका निवास सहस्रार है। श्री चक्र का निम्नभाग षट्चक्र और उपरी भाग सहस्रार है। फिर भी शक्ति और शिव एक हैं। अतः कुन्डलिनी के आठ अवयव हैं—छः चक्र, शक्ति और शिव। सहस्रार में पहुँचकर कुंडलिनी आत्मशक्ति में लीन हो जाती है। वह प्राण के रूप में जीवन की अधिष्ठात्री है। प्राण नादरूप है। जब उसकी गति ऊपर की ओर होने लगती है तो स्वाभाविक रूप से वह छः चक्रों का भेदन करता है जो उसके मार्ग को अवरुद्ध किए हुए हैं। उसकी गति के साथ प्राणों की गति होने लगती है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं का अभ्यास कुन्डलिनी को जाग्रत करने के लिए किया जाता है। इनसे प्राण इड़ा और पिंगला से निकलकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाते है और कुंडलिनी को ऊपर की ओर ले जाते हैं। उसके ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने पर योगी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता और अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इन अभ्यासों का एक मात्र लक्ष्य प्राणों को इड़ा और पिंगला से खींच कर सुषुम्ना में प्रवेश कराना है। इसीसे सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं। और बाह्य विक्षेप समाप्त हो जाते हैं। प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर दक्षिण और वाम पार्श्व शून्य हो जाते हैं। और मध्यस्थित सुषुम्ना क्रियाशील हो जाती है। प्राण का लय होने पर मन का भी लय हो जाता है। इसी को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है। प्रतिदिन अभ्यास से प्राण की गति बदलती जाती है और मन में स्थिरता आने लगती है। प्राण का परिस्पन्द होने पर मन में भी हलचल होने लगती है और बाह्य विषयों की ओर दोड़ता है।

प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश होने पर दिन और रात कुछ नहीं रहता। सुषुम्ना काल को निगल जाती है। जब तक प्राणों में हलचल होती हैं, मन की वृत्तियों का निरोध नहीं होता। योगवासिष्ठ में आया है—जब तक प्राणों का परिस्पंद नहीं रुकता तब तक वासना का नाश और तत्त्वज्ञान नहीं

होते। वासना इच्छा को उत्पन्न करती है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। तत्त्वज्ञान से चित्त और वासना दोनों का क्षय हो जाता है।

प्राणों का निरोध वीर्य को भी स्थिरता प्रदान करता है। प्राणों की हलचल के साथ वीर्य में भी हलचल होती रहती है। वीर्य के अस्थिर होने पर मन अस्थिर हो जाता हैं। नियंत्रित मन वाह्य विषयों से विभक्त हो जाता है। कुन्डलिनी का जागरण इन सब का कारण है, आगे की क्रियाएँ यहीं से प्रारम्भ होती हैं।

शक्ति को जागृत करने और सहस्रार तक पहुँचने के लिए अनेक वर्षों तक अभ्यास करने की आवश्यकता है, किन्तु विशेष उदाहरणों में उसका जागरण अल्पसमय में भी हो जाता है। प्रारम्भ में उसका उत्थान निश्चित बिन्दु तक ही होता है, धीरे-धीरे वह ऊपर की ओर बढ़ती चली जाती है। एक बार किसी चक्र तक पहुँच जाने पर पुनः उस पर पहुँचने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उससे ऊपर उठने के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है। प्रत्येक चक्र पर विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है, साथ ही विशेष प्रकार की शक्ति प्राप्त होती है। उदाहरण के रूप में प्रथम चक्र का भेदन करने पर इन्द्रिय विषयों पर विजय प्राप्त होती है। क्रमशः आज्ञाचक्र में पहुँचने पर समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है। पूर्वावस्थाओं में कुन्डलिनी में वापस लौटने की स्वाभाविक वृत्ति बनी रहती है। निरन्तर अभ्यास से उत्तरोत्तर अधिक नियंत्रण होता जाता है और प्रतिरोध घटने लगता हैं। नाड़ियां शुद्ध होने पर सहस्रार तक पहुँचना और वापस आना सरल होता है। वहाँ पहुँचकर योगी जितनी देर चाहे ठहर सकता है। उस समय मोक्ष का आनन्द प्राप्त होता है। वह चाहे तो दूसरा शरीर भी धारण कर सकता है। भारतीय तथा तिब्बतीय साधनाओं में इस प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। तिब्बत में इसे 'फोवा' कहा जाता है।

प्राणों का सुषुम्ना में प्रवेश करने के अनेक उपाय बताए गए हैं। सबमें मुख्य बात है अपान को ऊपर की ओर, और प्राण को नीचे की ओर खींचना। जालन्धर तथा मूलबन्ध आदि के द्वारा वे दोनों मिल जाते हैं। फलस्वरूप अग्नि प्रदीप्त होती है। इसकी उपमा एक नली से दी जा सकती है। यदि मुँह बन्द करके उसमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से हवा भरी जाय तो वह गर्म हो जायगी। यह उष्णता सुप्त कुंडलिनी को जगा देती है। वह आवाज करती हुई कुंडलावस्था को छोड़कर सीधी हो जाती है और सुषुम्ना अर्थात ब्रह्मद्वार में प्रविष्ट हो जाती है। पुनः पुनः प्रयत्न द्वारा षट्चक्रों का भेदन किया जाता है। तीन ग्रन्थियों का भेदन करने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जहाँ यह माना गया है कि माया शक्ति प्रबल होती है। सर्वप्रथम नाभिग्रन्थि है। इसका भेदन करते समय बहुत कष्ट होता है। शारीरिक कष्ट के साथ रोग की सम्भावना भी बनी रहती है। इन तीन ग्रन्थियों पर चक्रों का विभाजन तीन वर्गों के रूप में किया गया है। उनका परस्पर मेल होता है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश करने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

# मंत्रयोग

## मंत्रयोग

विश्व नामरूपात्मक है। चित्त चंचल होकर उसमें दौड़ता रहता है। मन्त्र योग द्वारा उसे एक आलम्बन पर स्थिर किया जाता है। मन्त्र का अर्थ है विशेष प्रकार के भाव को जागृत करने वाली शब्द रचना। उसका जप करने से अन्य सब भाव क्षीण हो जाते हैं और जिस भाव का जप किया जाता है, वह उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता जाता है। शक्ति के इस जागरण को मन्त्र चैतन्य कहते हैं। सिद्धि होने पर मन्त्राक्षरों का उस भाव के साथ ऐसा सम्बन्ध जुड़ जाता है कि उच्चारण करते ही वह आकार अपनी पूर्ण शक्ति के साथ उपस्थित होने लगता है। प्रत्येक मन्त्र का सम्बन्ध किसी दैवी शक्ति के साथ होता है। सिद्धि होने पर वह शक्ति साधक के अधीन हो जाती है। इसके लिए तन्त्रशास्त्र में पाँच प्रकार के देवताओं का वर्णन है जो विभिन्न कोटि के साधकों की कामना पूर्ण करते हैं। जब मन्त्र का जप निष्काम होकर किया जाता है तो वही आध्यात्मिक उत्थान का साधन बन जाता है। उसके द्वारा आत्मशक्ति का जागरण होने लगता है।

मन्त्र के साथ 'ओम्' लगा रहता है। प्रकृति के तीन गुणों में जब सर्वप्रथम स्पंद हुआ तो 'ओम्' की ध्वनि हुई। वैषम्यावस्था में आने पर प्रकृति ज्यों-ज्यों दूसरे रूप लेती गई, अन्य बीजाक्षरों की सृष्टि होती गई। उन्हीं के द्वारा मन्त्रों की रचना की जाती है। प्रकृति के ये सगुण आकार ही देवी-देवताओं के रूप में उपस्थित किए जाते हैं—वे उन

शक्तियों के नाम हैं जिनके द्वारा प्रकृति स्थूल रूप ग्रहण करती है। मन्त्रयोग में समाधि को महाभाव कहा जाता है। इसका अर्थ है भाव अर्थात् विचार का शक्तिशाली होना। विचार जितने चंचल होते हैं उतने ही निर्बल होते हैं। एकाग्रता के साथ उनका बल बढ़ता जाता है। जब पूर्ण एकाग्रता आ जाती है तो वे साकार रूप ले लेते हैं। इसी अवस्था को महाभाव कहा जाता है। फलस्वरूप मन्त्र देवता का रूप ले लेता है और इच्छानुसार कार्य करने लगता है।

## मन्त्रों की कार्य क्षमता : एक वैज्ञानिक विश्लेषण

मन्त्रों के रूप में अक्षरों का जो विन्यास किया जाता है उसके पीछे वैज्ञानिक तथ्य हैं। उनकी विधिपूर्वक साधना करने पर विभिन्न शक्तियाँ उद्बुद्ध होती हैं और साधक की इच्छा पूर्ण करती है। प्रत्येक मातृका अपने आप में एक शक्ति है, उसे केवल वर्ण या अक्षर समझना भूल है। इन अक्षरों का विधिपूर्वक विन्यास और जप करने से साधक में सम्बद्ध शक्ति जागृत हो जाती हैं।

मन्त्र इन्हीं शक्तियों का समुचित विन्यास हैं, जिससे एक शक्ति दूसरी शक्ति की बाधक न बनकर सहायक हो जाती है। अक्षरों की वैज्ञानिक रचना साधक की सहायता करती हैं। इसमें किसी प्रकार की भूल या अशुद्धि नहीं होनी चाहिए। अनुष्ठान विधि का भी अक्षरशः पालन करना चाहिए। तभी प्रकृति की प्रच्छन्न शक्तियाँ प्रकट होती हैं और क्रमशः साधक को विश्व के माया जाल से ऊपर उठाकर परम पद पर पहुँचा देती है।

उपनिषदों में परमतत्व के पाँच रूप बताए गए हैं—

(१) अस्ति अर्थात् सत्ता
(२) भाति अर्थात् ज्ञान
(३) प्रिय अर्थात् सुख
(४) नाम अर्थात् शब्द

(५) रूप अर्थात् आकार

इनमें से प्रथम तीन उसका आभ्यंतर रूप है, और अन्तिम दो बाह्य रूप। आभ्यन्तर रूप का साक्षात्कार करने के लिए बाह्य रूप का सहारा लिया जाता है। सबके अन्त में रूप अर्थात् बाह्य आकार है। इसका अर्थ है—स्थूल जगत्। साधक सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, आकाश, वायु, पर्वत, नदी, मनुष्य, पशु आदि प्रत्येक वस्तु को देखता है और उस महासत्ता का ध्यान करता है, जो उसका सचालन कर रही है। इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है।

मन्त्र योग का सम्बन्ध नाम के साथ है। नाम अर्थात् शब्द वाचक होता है और ईश्वर या उसकी शक्तियाँ वाच्य। वाचक के द्वारा वाच्य पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। नारद आदि ऋषियों ने नाम जप के द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार किया था। उन्होंने इसकी अनेक विधियाँ बताई हैं।

योगशास्त्र में आया है कि सृष्टि नाम रूपात्मक है। नाम और रूप जीव को बन्धन में डालते हैं और उन्हीं के सहारे मोक्ष भी प्राप्त होता है। जिस भूमि पर मनुष्य गिरता है, उसी भूमि का सहारा लेकर पुनः उठता है। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम रूपात्मक विषय जीव को बन्धन में डालते हैं। उन्हीं के कारण जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं। अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति प्रवृत्ति तथा गति के अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूप के अवलम्बन से जो योग साधन किया जाता है, उसे मन्त्रयोग कहते हैं।

कुंडलिनी योग के समान मन्त्रयोग में भी जब साधक का शक्ति के साथ तादात्म्य हो जाता है तो अनेक विभूतियाँ प्रकट होने लगती है। मन्त्रों के रूप में प्रत्येक अक्षर-रचना मातृका शक्ति के विशिष्ट रूप को लिए रहती है। नित्य शक्ति हीं मन्त्र का सर्वस्व है। यहाँ सिद्धि का अर्थ हैं मन्त्र-शक्ति के साथ साधक की शक्ति का तादात्म्य। इस तादात्म्य का

अर्थ है वेदक, विद्या और वेद्य अथवा साधक, मन्त्र और देवता तीनों में एक रूपता। ऐसा होने पर ही मन्त्र अपना कार्य करता है। हमारा मन विचारहीन नही रहता। उसे अपने चिंतन के लिए किसी न किसी विषय की सदा आवश्यकता रहती है। वही जब मन्त्र को अपना विषय बना लेता है और उत्तरोत्तर तद्रूप होता जाता है, तो उसे भावना कहते हैं; इसका अर्थ है मन का मन्त्र के रंग में रँग जाना। वहाँ वे दोनों एक हो जाते हैं, ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं रहता। दूसरे शब्दों में साधक अपना पृथक् अस्तित्व भूल कर देवता का रूप ले लेता है। यह तादात्म्य ही साधना का चरम लक्ष्य है। देवता के साक्षात्कार की इच्छा अपने-आप में बहुत बड़ी शक्ति है, वह भेद की समस्त दीवारों तथा आवरण को हटा देती है। साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, इच्छा बलवती होती जाती है।

सर्वसाधारण में बिना सोचे समझे मन्त्र को गुनगुनाते रहने की प्रथा है। उच्चारण शुद्धि पर भी ध्यान नहीं दिया जाता, भीतरी रहस्य की तो बात ही दूर है। किंतु इस प्रकार का गुनगुनाना भी व्यर्थ नहीं जाता, उसमें भी साधक की भावना काम करती हैं। जब साधक मन में किसी इच्छा को लेकर एक ही वाक्य को बार-बार दोहराता है तो विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। एक दिन वही विश्वास मूर्तिमान फल का रूप ले लेता है। मन्त्र या अन्य अनुष्ठानों के सम्बन्ध में जो विस्तृत विधि-विधान हैं उनका एकमात्र उद्देश्य साधक के मन को केन्द्रित करना और भावना को दृढ़ बनाना है। वास्तव में देखा जाय तो भावना ही घनीभूत होकर शक्ति का रूप ले लेती है। मन्त्र, यन्त्र, मूर्ति आदि उसी के साधन हैं।

**जप**

जप का अर्थ है एक ही शब्द या वाक्य का बार-बार उच्चारण। इसकी तुलना सोए हुए व्यक्ति को जगाने के लिए दी गई आवाज से की

जाती है । जब हम पहली बार पुकारते हैं तो उस पर असर नही होता किंतु लगातार पुकारते रहने पर नींद टूट जाती है और वह जाग उठता है । इसी प्रकार साधक की सुप्त चेतना एक बार के उच्चारण से जागृत नहीं होती, किंतु दीर्घ समय तक नियमित रूप से श्रद्धा पूर्वक उच्चारण करते रहने पर अवश्य प्रभाव पड़ता है और वह एक दिन जाग उठती है ।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार दोनों ओठ शिव और शक्ति हैं । मन्त्रोच्चारण करते समय जब इन का मेल होता है तो उसे मैथुन कहा जाता है । उनसे प्रकट होने वाला शब्द बिंदु है, वही देवता का बीज है । दूसरे शब्दों में देवता साधक की संतान है । सर्वत्र परं शिव या आदि शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती, किंतु साधक जिस इच्छा को लेकर जप करता है, तदनुसार देवता का रूप प्रकट होता है । शिव मन्त्र का पाठ करने पर बाल-शिव प्रकट होते हैं । साधक उन्हें पौष्टिक द्रव्य देकर शक्तिशाली बनाता है । मंत्रशास्त्री इस बात को समझता है कि साधक की चेतना ही मन्त्र के द्वारा बाह्य रूप ले लेती है । प्रारम्भ में अभिव्यक्ति दुर्बल होती है किंतु धीरे-धीरे दृढ़ होती चली जाती है । इसी का अर्थ है बाल-शिव का युवा बनना । सभी मन्त्र विज्ञान या चेतना स्वरूप हैं । बार-बार उच्चारण करने पर वे संस्कार बन जाते हैं और वे मस्तिष्क में घूमने लगते हैं । पूजा में जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता हैं, बास्तव में देखा जाय तो वे जीव के ही संस्कार हैं, जो शुद्ध-चेतना पर अर्थ के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं । इनका एक मात्र रहस्य है विचारों को केन्द्रित करना और इच्छा शक्ति को बलवती बनाना । उन दोनों का नाम चेतना शक्ति है ।

मन्त्र साधना को शाक्तोपाय-योग कहा जाता है, इसमें नाम और रूप का सहारा लिया जाता है । दूसरा शाम्भवोपाय-योग है, जहाँ शक्ति या चेतना के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ा जाता है । वहाँ यह माना गया है

कि नाम और रूप चेतना को अभिव्यक्त करने के स्थान पर उसे आवृत्त किए रहते हैं। उनके कारण साधक बन्धन में फँसा रहता है।

पूजा, पाठ, स्तव, होम, ध्यान आदि समस्त साधनाओं का लक्ष्य देवता या शक्ति की अभिव्यक्ति है। किन्तु मन्त्र-साधना को सबसे अधिक शक्तिशाली माना गया है, इस का कारण है कि अन्य साधनाओं में केवल साधक की शक्ति काम करती है, किन्तु मन्त्र-साधना में साधक की शक्ति मन्त्र-शक्ति के साथ मिल जाती है दोनों का तादात्म्य शक्ति की मात्रा बढ़ा देता है।

## दीक्षा-मन्त्र

दीक्षा देते समय साधक को जो मन्त्र सिखाया जाता है, उसे बीज-मन्त्र कहते हैं। वही विकसित होकर साधक के समस्त व्यक्तित्व पर छा जाता है, दैनन्दिन साधना उसी का पल्लवन होती है। प्रतिदिन संध्या में उसे दुहराया जाता है। संध्या, न्यास, पूजा आदि उसी की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। स्तुति, अर्चना, वन्दना आदि फूल तथा पत्ते हैं। मन्त्र का अधिष्ठान कवच फल हैं।

मन्त्र-साधना का बहुत अधिक विस्तार है, उसके प्रारम्भ, जप, विसर्जन तथा अन्य अनुष्ठानों के सम्बन्ध में अनेक विधि-विधान हैं। मन्त्र-शुद्धि के लिए कई प्रकार के संस्कार किए जाते है। उनकी जन्म और मृत्यु भी होती है, विकृतियां भी आती हैं, जिनका परिष्कार आवश्यक है। इन सब का एकमात्र उद्देश्य है साधक में मानसिक योग्यता उत्पन्न करना, जिससे वह देवता तथा उस शक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाए। मन्त्र-साधना में अनेक प्रकार के दोषों की सम्भावना भी रहती है, उन्हें दूर रखने की आवश्यकता है, साथ ही किसी दोष के लगजाने पर उसका निवारण करना होता है। मुख-शोधन जिह्वा-शोधन और अशौच-भंग भी किया जाता है। मन्त्रसाधना के

अनेक अंग हैं—कुल्लुका, निर्वाण, सेतु, निद्राभंग, मन्त्र चैतन्य मन्त्रार्थ-भावना, दीपनी, योनि-मुद्रा आदि।

किस साधक को कौन सा मन्त्र देना चाहिए यह निश्चय करने के लिए चक्रों के आधार पर गणित किया जाता है। इसके लिए मन्त्रों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

(१) सिद्ध—जो मन्त्र मित्र के रूप में काम करते हैं।

(२) साध्य—सेवक के रूप में काम करने वाले मन्त्र।

(३) सुसिद्ध—सहायक या रक्षक के रूप में काम करने वाले मन्त्र।

(४) अरि—शत्रु के रूप में काम करने वाले मन्त्र।

मन्त्र-शक्ति को वाचक शक्ति कहा जाता है, उसके द्वारा वाच्य शक्ति अर्थात् देवी या परब्रह्म को प्राप्त किया जाता है। साधना के द्वारा मन्त्रात्मिका सगुण शक्ति को जागृत किया जाता है, वह आवरणों को हटा देती है, और वाच्य शक्ति का साक्षात्कार हो जाता है।

उदाहरण के रूप में सगुण मातृ-शक्ति गायत्री मन्त्र की अधिष्ठात्री है, वही निर्गुण के रूप में वाच्य शक्ति है। वास्तव में दोनों एक ही हैं। किन्तु साधक अपना साधना सगुण से प्रारम्भ करता है और अन्त में निर्गुण पर पहुँच जाता है जहाँ कैवल्य प्राप्त हो जाता है। मन्त्र साधना का विकास मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर हुआ है। साधना-शक्ति और मन्त्र-शक्ति के द्वारा साधक का मन शुद्ध हो जाता है। कुसंस्कार धुल जाते हैं। इसका कुछ वर्णन पदस्थ ध्यान के अध्याय में किया गया है।

●